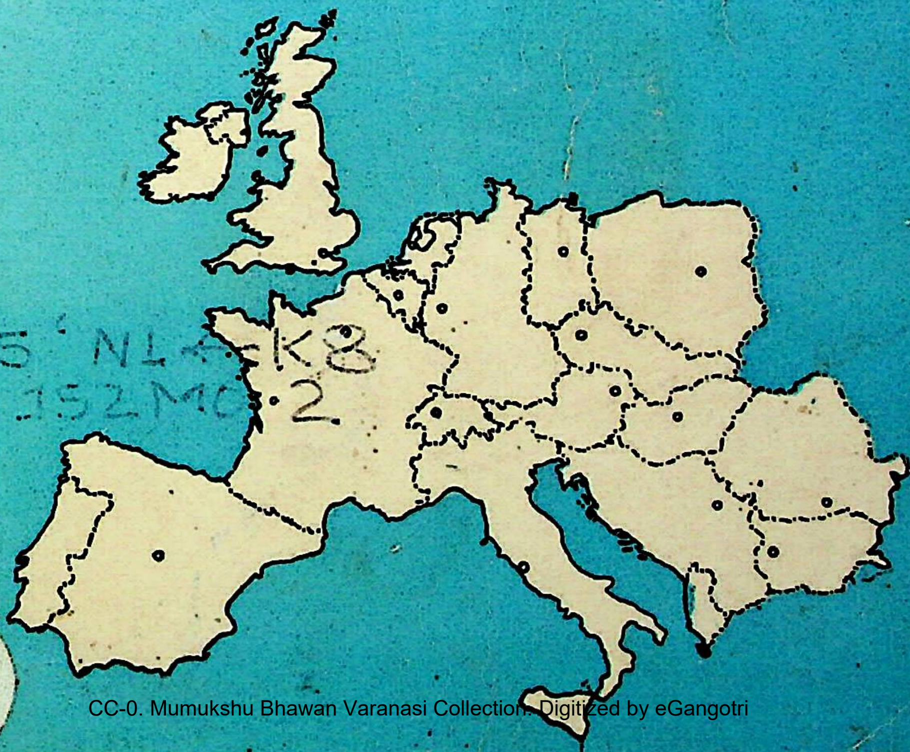
यूरोप का इतिहास

डा. लालबहादुर वर्मा



कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त
तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर
प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

~~१२।४।८६~~		
~~१६।३।८६~~		
१५।७।८५		
~~५।२।८६~~		
~~१२~~ ४।५।८८		
~~१०।६।८८~~		
१५ ५।५।८८		

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

यूरोप का इतिहास

(पुनर्जागरण से क्रांति तक)

लालबहादुर वर्मा

M

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

प्रथम संस्करण : 1974
द्वितीय संशोधित संस्करण : 1978

एस जी वसानी द्वारा दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड के लिए प्रकाशित तथा रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 में मुद्रित।
L B Verma : EUROPE KA ITIHAS

उन्हें समर्पित जो इतिहास पढ़ते नहीं
बनाते हैं और जिनका अधिकांश
इतिहास पुस्तकों में जिक्र तक
नहीं होता।



दो शब्द

इतिहास क्या है ? इसे हम क्यों पढ़ते-पढ़ाते हैं ? उसकी क्या उपयोगिता है ? वर्तमान का इतिहास क्रम में क्या स्थान है ? इन प्रश्नों पर विचार करना न केवल इतिहास के विद्यार्थी, बल्कि सभी चिंतनशील व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है। इन प्रश्नों का सही उत्तर ढूंढ़ लेना न आवश्यक है, न संभव। पर कम से कम इतिहास के विद्यार्थी के मन में यह प्रश्न उठे, यह आवश्यक है, नहीं तो इतिहास पढ़ने का कोई मतलब नहीं।

बराबर अपने को और औरों को भी सर पकड़ते देखा है कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है, विद्यार्थी कुछ समझते नहीं, हिंदी में पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं, आदि। पर विद्यार्थी, शिक्षक और शिक्षा-प्रणाली, समाज और युगधारा से अलग-थलग तो नहीं हैं। वह तो तैयारी कर रहा है जीवन को समझने की, जिम्मेदारियां झेलने की। उसे शिक्षक कहां तक तैयार करता है ? शिक्षक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कहां तक कर रहा है ? इतिहास का शिक्षक यह मानने को तैयार नहीं कि इतिहास में केवल गड़े मुर्दे उखाड़े जाते हैं और फिर भी आज की ज्यादातर इतिहास पुस्तकें किसी कब्रगाह की सैर के लिए प्रस्तुत गाइड से अधिक नहीं प्रतीत होतीं। केवल नाम और तिथियां और, सारे नामों और तिथियों को जोड़ते प्रशस्ति या निंदा के कुछ शब्द।

विशेषकर यूरोप का इतिहास पढ़ाना और समझाना—जबकि यूरोप का साधारण भौगोलिक ज्ञान तक न हो—एक दुष्कर कार्य है। फिर हम उसे पढ़ाएं ही क्यों ? इसलिए कि वह अनिवार्य है। आज सामाजिक और राजनीतिक जीवन में जो कुछ हो रहा है, आज की जो विचारधाराएं हैं, आज का मनुष्य दुनिया में कहीं भी जो कुछ जीने-जानने की कोशिश कर रहा है, उसे पंद्रहवीं शताब्दी के बाद का यूरोप कहीं न कहीं जरूर छूता है। भारत का विद्यार्थी अपने इतिहास को भी भली प्रकार तब तक नहीं समझ सकता जब तक उसे यूरोप के इतिहास का ज्ञान न हो।

यूरोप के इतिहास पर एक मौलिक पुस्तक लिखने की अभी हममें क्षमता नहीं पर एक अच्छी पाठ्यपुस्तक लिखने का साहस हमने किया है। आधुनिक

यूरोप का प्रारंभ अर्थात यूरोप का पुनर्जागरण मानव मात्र के लिए एक नए युग का आरंभ था। जैसे घर में सबसे पहले जगा हुआ व्यक्ति, घर के अन्य व्यक्तियों के जागने का इंतजार करता है या सबको जगाता है, क्योंकि जब तक सब जाग न जाएं घर की दिनचर्या नहीं शुरू होती, वैसे ही जब तक मानव मात्र न जाग जाए नए युग का क्रम अधूरा है। इसीलिए दुनिया में हर जगह हर व्यक्ति को, विशेषकर इतिहास के विद्यार्थी को आधुनिक यूरोप के उन प्रारंभिक तीन शताब्दियों का इतिहास जानना ही चाहिए जब मध्य युग के अंत में मानव ने करवट ली थी और जागकर नए युग के निर्माण का, अपने को समाज में नई प्रतिष्ठा दिलाने का, कार्य शुरू किया था।

परीक्षा की दृष्टि से विद्यार्थी प्रश्नों के उत्तर पा जाएं और इतिहास में उसकी रुचि बढ़े, इतिसास को वह सहज भाव से स्वीकारे, न कि एक बोझ ढोए, यही एक उपयोगी पाठ्यपुस्तक का लक्ष्य होना चाहिए। नाम और तिथियों या ज्यादा से ज्यादा घटनाओं तक ही हम सीमित न रह जाएं; उनका महत्व, उनका अर्थ समझें यही हमारा प्रयत्न रहेगा। हम पाठ्यपुस्तक लिखने को एक शोध-ग्रंथ लिखने से कम महत्वपूर्ण और कठिन कार्य नहीं समझते। इसलिए इस प्रयत्न में पूरी सफलता मिलेगी, ऐसा दुस्साहस हम नहीं करते। पर हिंदी में रोचक और विश्लेषणात्मक ढंग से पाठ्यपुस्तक लिखने की चेष्टा की गई है। प्रयत्न की सफलता केवल इस बात पर निर्भर नहीं होगी कि पुस्तक खूब बिके बल्कि इस पर भी कि यह इतिहास के विद्यार्थियों और पाठकों को झकझोरे, प्रश्न करने और सोचने पर मजबूर करे।

गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

लालबहादुर वर्मा

दूसरे संस्करण के लिए

पुस्तक के प्रथम संस्करण को नजर अंदाज नहीं किया गया इसका प्रमाण केवल यह नहीं है कि उसका दूसरा संस्करण छप रहा है। पुस्तक ने छात्रों, प्राध्यापकों और इतिहासकारों को झकझोरा है। ढेरों प्रतिक्रियाएं आईं—प्रशंसा और आलोचना की भी। कुछ अध्यायों को अतिसंक्षिप्त कहा गया। उन्हें यथोचित विस्तार दिया गया है इस संस्करण में।

कुछ मित्रों ने नामों और तिथियों की कमी की ओर संकेत किया है। इतिहास का विषय नाम नहीं काम, तिथियां नहीं, देशकाल होता है। नाम और तिथियां इतिहास की धारा की गति और दिशामात्र इंगित करती हैं। उनकी अतिशयता इतिहास को उसके लक्ष्य से भटका देती है और पाठक उन्हीं में खो जाता है।

कुछ लोगों की राय थी कि पुस्तक में इतिहासकारों के मतों के उद्धरणों की कमी है। मैंने समकालीन मतों और कुछ आधिकारिक मतों के यथोचित उद्धरण दिए हैं। उनकी ढेरों चिप्पियां लगाना मैं उचित नहीं समझता। किसी भी पुस्तक में उसके लेखक का मत, वह चाहे जितना छोटा या बड़ा लेखक हो, अधिक महत्वपूर्ण होता है।

पुस्तक के इस संशोधित और परिवर्धित संस्करण को और अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए। सुझाव और प्रतिक्रिया के लिए असंख्य मित्रों और छात्रों का आभारी हूं।

यूरोप की, जहां आधुनिक युग का प्रारंभ और विकास हुआ, पहचान में यदि यह पुस्तक एक सीमा तक भी सफल हुई तो इसके लेखन का उद्देश्य सफल होगा। हमें विश्वास है कि ऐसा होगा।

23 मार्च, 1978

—लाल बहादुर वर्मा



अनुक्रम



1

यूरोप आधुनिकता के दरवाजे पर

आधुनिक काल का प्रारंभ पुनर्जागरण से मानने का आधार इतिहास के अध्ययन की सुविधामात्र है। इतिहास को प्राचीन, मध्ययुग और आधुनिक काल में बांटने के लिए किसी तिथि को सीमा बनाना बड़ा त्रुटिपूर्ण है। इतिहास क्रम में किसी एक घटना का बहुत बड़ा महत्व नहीं होता। काल की दृष्टि से विभिन्न देश एक निश्चित समय में उन्नति के विभिन्न स्तरों पर पाए जाते हैं। इसी तरह एक ही देश में विभिन्न वर्गों का अलग अलग ढंग से अलग अलग विकास होता है। इसीलिए किसी एक वर्ग की स्थिति या किसी एक क्षेत्र की उपलब्धियों को आधार मानकर संपूर्ण देश के बारे में साधारणीकरण किया जाए तो सही नतीजे नहीं निकल सकते।

कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो सकती है। आज हम आधुनिक युग में रह रहे हैं। लेकिन सबसे उन्नत देश अमरीका के मुकाबले में अफ्रीका के पिछड़े देश अंगोला और मोजांबिक रखे जा सकते हैं क्या? यदि एक ही देश को लें तो अमरीका का रेड इंडियन न्यूयार्क के लोगों के मुकाबले में कहां टिकेगा? भारत को ही लें तो दिल्ली वालों और बस्तर के आदिवासियों को एक साथ कैसे रखा जा सकेगा? इतिहास पर नजर डालें तब भी यही समस्या उठ खड़ी होगी। जिस समय सिंधु घाटी की सभ्यता उन्नति के शिखर पर थी, बाद के आर्य विजेता खानाबदोश जिंदगी बिताते थे। जिस समय यूनान में 'सुकरात' और 'अफलातून' की दुंदुभि बज रही थी यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों के लोग सभ्यता की न्यूनतम शर्तें भी पूरी नहीं करते थे। यूनान और रोम की सभ्यताओं का अंत करने वाले लोग बर्बर कहे जाते हैं। ऐसे में आधुनिकता को कालक्रम से जोड़ना कहां तक उपयुक्त होगा?

अधिकांशतः हर देश और काल में प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक स्थितियां एक साथ विद्यमान रहती हैं,जैसे बस्तर के गांव, गंगा-जमुना के मैदान के गांव और नई दिल्ली के मुहल्ले तीन युगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये तीन

स्थितियां दिल्ली में ही एक साथ मिल सकती हैं। यह यदि सच है तो इतिहास का कालानुसार विभाजन एकदम दोषपूर्ण है। इतिहास के क्रम को यदि समझना ही है तो सारी मानवता के संदर्भ में हमें विकासक्रम को समझना पड़ेगा कि कैसे भौतिक जगत में उपकरणों और उत्पादन के विकास के साथ साथ समाज में अंतर्निहित संघर्षों के सहारे मनुष्य निरंतर प्रगति करता रहा है। इस प्रगति का स्वरूप सार्वभौमिक और सर्वव्यापी नहीं रहा है। इसलिए एक साथ ही प्रगति के भिन्न चरण दिखलाई पड़ जाते हैं।

लेकिन इस दृष्टि से यूरोप का अध्ययन करने पर निर्धारित पाठ्यक्रम से बंधे हुए विद्यार्थी के साथ न्याय नहीं हो सकेगा। जिस पुनर्जागरण को अधिकांशतः आधुनिकयुग का आरंभ माना जाता है उसे ही बहुत से इतिहासकार प्रतिक्रियावादी या प्रतिगामी मानते हैं। धर्म सुधार को भी आधुनिक आंदोलन मानना उन्हें स्वीकार्य नहीं है। सांस्कृतिक इतिहास का समर्थक और स्वयं 'आधुनिक संस्कृति के स्रोत' (ओरिजिन आफ माडर्न कल्चर) के लेखक प्रीजवर्ड स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'लूथर' की भूमिका में स्पष्ट लिख दिया है कि कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों चर्च हमेशा विकास के विरोधी रहे हैं चाहे सामाजिक विकास हो या वैज्ञानिक। इसीलिए वह आधुनिक युग की शुरुआत कुस्तुनतुनिया के पतन (1453) से नहीं, बल्कि कोपरनिकस की विभिन्न ग्रहों की गति संबंधी क्रांतिकारी पुस्तक, जिसमें उसने धरती द्वारा सूरज का चक्कर लगाने की बात की थी, के प्रकाशन (1453) से मानता है। इस पाठ्यपुस्तक में इस विवाद में पड़ने की गुंजाइश नहीं है। इसलिए सावधानीपूर्वक दोषपूर्ण विभाजन के सहारे ही हमें यूरोप का अध्ययन करना पड़ेगा।

पुनर्जागरण के बाद आधुनिक काल के प्रारंभ होने की बात से यह स्पष्ट होता है कि उसके पहले यूरोप अंधकार में था, उसकी शक्तियां सो गई थीं और पंद्रहवीं शताब्दी में कई कारणों से यूरोप जागा। चूंकि पहले भी यूनान और रोम की सभ्यता के समय यूरोप को जागा हुआ मानते हैं अतः इस जागरण को पुनर्जागरण कहा गया। यह सर्वथा सत्य नहीं है। लेकिन इसके लिए हमें पुनर्जागरण के पहले के यूरोप का संक्षेप में सर्वेक्षण करना होगा। इससे न केवल भ्रामक स्थापनाओं का अंत होगा, स्वयं पुनर्जागरण और आधुनिक काल को समझने में भी आसानी होगी।

प्राचीन काल के यूरोप की जब याद की जाती है तो जो बातें उभर कर सामने आती हैं, वे हैं यूनान की विविध उपलब्धियां—सुकरात और सिकंदर के नामों के सहारे; जूलियस सीजर, क्लियोपैट्रा, सिसरो और नीरो का रोम जिसने सारे दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और मध्यपूर्व पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। और अंत में जेरूसलम में जन्मे ईसाई धर्म का यूरोप में पहुंच कर

स्थाई और व्यापक हो जाना। इसके बाद बर्बर जातियों के हमले हुए और यूरोप पर अंधकार छा गया। केवल नगरों और राज्यों का ·ही नहीं चेतना का भी ह्रास हुआ। पांचवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक के काल को यूरोप का मध्ययुग मानते हैं। वास्तविकता यह है कि इस समय भी अजेय मानव शक्ति निरंतर कार्यरत रही।

अपनी सादगी, मानव सेवा और लगन के साथ ईसामसीह के शिष्य संत पीटर ने जिस चर्च की स्थापना की थी, वह रोमन सम्राट के अनुयायी हो जाने केकारण सारे यूरोप में मान्य हो गया। चर्च द्वारा एक अत्यंत जटिल लेकिन कारगर संगठन बनाया गया और यूरोप 'ईसा का राज्य' (क्रिसेनडम) कहलाने लगा। इस धार्मिक साम्राज्य की, जो राजनीतिक रूप से बहुत से राज्यों में बंटा हुआ था, राजधानी रोम थी, हां संतों के संत पीटर का उत्तराधिकारी सारे चर्च के एकछत्र शासक के रूप में रहता था। ईसाई धर्म एकदम एकांतिक हो चला था और सारे दरवाजे बंद किए जा चुके थे। पोप के बाद कार्डिनल, आर्च बिशप, बिशप, पादरी और ऐसे ही अनेक अधिकारी गांव गांव में फैले हुए थे। व्यक्ति पैदा होते ही चर्च की शरण में चला जाता था जहां से मृत्यु के बाद भी मुक्त नहीं होता था क्योंकि जीता था चर्च निर्धारित संस्कारों में बंध कर और मुक्ति पा सकता था चर्च निर्धारित सत्कर्मों के सहारे। पोप के मरने के बाद कार्डिनल लोग अपने में से ही एक को पोप चुन लेते थे और जीवन भर उसे धरती पर 'ईश्वर की छाया' कहते थे। इसलिए वह निर्विकार और अंतिम निर्णायक के रूप में प्रतिष्ठित था। पोप की शक्ति अपार थी। धर्म ही नहीं राजनीति में भी उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्राट तक नहीं जा सकते थे। जाने पर अंत में उन्हें घुटने टेकने पड़ते थे। पद और सत्ता बढ़ने के साथ ही चर्च में बुराइयां आने लगीं। सारा तंत्र भ्रष्ट हो गया। वैचारिक स्वतंत्रता और संवाद के अभाव में मान्य बातों से अलग बात कहने वाले को मौत तक की सजा दे दी जाती थी। पूर्वी यूरोप में इसी चर्च का एक थोड़ा सा बदला हुआ रूप ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च के रूप में जाना जाता था। इसका केंद्र कुस्तुनतुनिया था।

ऐसा होने पर भी मठों में अनेक संत व्यक्तिगत रूप से मानवता को समर्पित होकर सेवारत थे या फिर अध्ययन मनन में लगे रहते थे। यह सच है कि अधिकतर पादरी और भिक्षु यथार्थ से कटकर अपनी ही दुनिया मे खोए रहते थे लेकिन उनका चिंतन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

राजनीतिक दृष्टि से रोमन साम्राज्य की याद में एक पवित्र रोमन साम्राज्य (होली रोमन एंपायर) की स्थापना हुई थी। शार्लमन द्वारा स्थापित यह साम्राज्य सारे मध्य यूरोप, विशेषकर जर्मन भाषी क्षेत्र में व्याप्त था। धीरे धीरे इसका भी पतन हो रहा था। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक वोल्तेयर ने बाद में इस पर व्यंग्य किया था : 'यह न पवित्र है, न रोमन, न साम्राज्य' (नाइदर होली, नार रोमन,

नार एंपायर) जो सर्वथा सच था।

वास्तव में यह साम्राज्य राज्यों का एक समूह था। आधुनिक आस्ट्रिया और हंगरी के अतिरिक्त इटली के उत्तरी क्षेत्र आदि पर ही राजधानी वियेना का सीधा शासन था। अन्य राज्य प्रायः पूरी तरह स्वतंत्र थे। इस क्षेत्र के सात प्रमुख शासक—मैंत्स ट्रायर और कोलोन के आर्च बिशप तथा वोहेमिया, ग्रैंडेनवर्ग (वाद में इसे प्रशा कहा जाने लगा) पैलेटाइन और सैक्सनी के शासकों को सम्राट चुनने का अधिकार था। इन्हें 'इलेक्टर' कहते थे। इनकी संख्या वाद में बढ़ा दी गई थी। लेकिन यह नाममात्र का चुनाव होता था क्योंकि प्रायः 'हैप्सवर्ग' परिवार के ही शासक सम्राट चुने जाते थे। पूरे जर्मन क्षेत्र संबंधी नीतियों का निर्धारण जर्मन क्षेत्रों की प्रतिनिधि संस्था 'डायर'(जर्मन पार्लियामेंट) के हाथ में था। इस 'डायर' में 'इलेक्टर' लोगों के अतिरिक्त बड़े सामंत और धर्माधिकारी तथा स्वतंत्र राज्यों के प्रतिनिधि होते थे। लेकिन प्रमुखता सम्राट की ही थी। उसकी वातों का प्रायः विरोध नहीं होता था। लेकिन स्वयं सम्राट सामंतों और अन्य राजाओं की मदद पर निर्भर था। इसलिए वह साम्राज्य की वास्तविक शक्ति नहीं वल्कि एकता का प्रतीक था।

पुनर्जागरण के साथ जव राष्ट्रीय भावनाओं और मध्यवर्गीय अर्थव्यवस्था का विकास हुआ तो जहां अन्य यूरोपीय राज्यों में संगठन वढ़ा वहीं पवित्र रोमन साम्राज्य में विघटन प्रारंभ हो गया क्योंकि इस साम्राज्य की विभिन्न इकाइयों के शासक राष्ट्रीय एकता के समर्थक बन गए। परिणाम यह हुआ कि सम्राट को राष्ट्रवाद का विरोध करते रहना पड़ा। उसकी सारी शक्ति इसी में लग गई। दूसरी ओर अन्य शासक शक्तिशाली होते चले गए। जव उसी साम्राज्य में 'प्रोटेस्टेंट' धर्म जन्मा तब वह भी राष्ट्रीय शक्तियों से मिलकर सम्राट का विरोधी हो गया। जव सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में चार्ल्स सम्राट हुआ और परिवारिक परिस्थितियों के कारण वह एक ही साथ वहुत से राज्यों का उत्तराधिकारी हो गया तो इतने वड़े साम्राज्य का चलाना मुश्किल हो गया।

कुल मिलाकर स्थिति यह थी कि जहां अन्य राज्यों में पुनर्जागरण आधुनिक मूल्यों का संवाहक वनकर आया वहीं वह साम्राज्य के लिए खतरे की घंटी वन गया। इसीलिए आधुनिक युग में यूरोप के इस साम्राज्य का ही सवसे अधिक नुकसान हुआ है, वही सवसे अधिक कमजोर हुआ है। आज वह सिमट कर एक महत्वहीन छोटे गणतंत्र आस्ट्रिया के रूप में ही विद्यमान है।

होली रोमन साम्राज्य के अलावा पश्चिम में अन्य राज्य भी विकसित हो रहे थे। अभी राष्ट्र का स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था, फिर भी एक विचारधारा, जिसका वाद में इटली के प्रख्यात लेखक माइकियावेली ने अपनी पुस्तक 'द प्रिंस' में विश्लेषण किया, पनप रही थी कि शासक में एक क्षेत्र विशेष के लोग अपनी सारी

आकांक्षाओं को प्रतिष्ठित कर दें। इस भावना से राष्ट्रीय शासक का जन्म हुआ।

स्वयं इटली अपनी रोमन साम्राज्य की गरिमा खो चुका था। एक जमाना था जब रोम से सारे दक्षिणी यूरोप, पश्चिमी एशिया के भूमध्यसागरीय किनारे और उत्तरी अफ्रीका का शासन होता था। लेकिन मध्ययुग में इटली विघटित हो गया था और उसके बड़े भाग पर पवित्र रोमन साम्राज्य का कब्जा हो गया था। पंद्रहवीं शताब्दी में जब इटली ही में पुनर्जागरण के बीज प्रस्फुटित हुए तो उसके नगर फ्लोरेंस, मिलान, नेपल्स, वेनिस और रोम आदि नई सभ्यता के केंद्र बन गए। दक्षिणी इटली प्रायः स्वतंत्र हो गया। लेकिन अब भी वह विभाजित था।

दक्षिण में सिसली द्वीप सहित नेपल्स का राज्य था। उत्तर में स्थित मिलान में स्फोर्जा परिवार का प्रभुत्व था। इटली में उत्तर-पूर्व में स्थित वेनिस के राज्य ने अपनी प्रारंभिक प्रजातांत्रिक परंपराएं छोड़ एक धनिकतंत्र का सहारा लिया था। लेकिन यहां विकसित हो रहे मध्यवर्ग ने वेनिस को सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध करना शुरू कर दिया था। तस्कनी प्रांत में फ्लोरेंस नगर पुनर्जागरण का प्रमुख केंद्र बन गया। वहां का शासक 'मेडिची' परिवार एक नवधनाढ्य कलाप्रेमी परिवार था। विशेषकर 'लोरेंजो' जिसे महान तक कहते हैं, वास्तव में कला का महान संरक्षक था। पश्चिम में सवाय का राज्य था जिसके अधीन सार्डीनिया का द्वीप भी था। उस समय का यह महत्वहीन और पिछड़ा हुआ राज्य बाद में इटली के एकीकरण का नेतृत्व करने में समर्थ हो गया। मध्य इटली में पोप की रियासत थी। यहां पोप धार्मिक ही नहीं राजनीतिक प्रशासन भी करता था।

इटली के नगर और राज्य अलग विकासशील थे लेकिन उनको एक सूत्र में बांधे बिना विकास संभव नहीं था। इन शासकों में आपस में अनेक अंतर्विरोध थे; मूल्यों और संस्थाओं के। इसीलिए सांस्कृतिक रूप से सारे यूरोप में अग्रणी होने पर भी इटली राजनीतिक रूप से पड़ोसियों का अखाड़ा बना हुआ था। प्रख्यात इतालवी लेखक माइकियावेली ने सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन के बीच के 'गैप' को भरने के लिए 'द प्रिंस' नामक पुस्तक लिखी थी। इसी अंतराल के कारण इटली के नगर पुनर्जागरण के अग्रणी थे लेकिन स्वयं इटली पूरी तरह आधुनिक युग में प्रवेश नहीं कर पाया।

स्पेन मध्ययुग में अरबों के बढ़ते ज्वार में डूब गया था। सारे उत्तरी अफ्रीका पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के बाद ये लोग, जिन्हें यहां 'मूर' कहते थे, स्पेन पर अपना अधिकार स्थापित करने में सफल हो गए थे। ईसाई लोग उत्तर की पहाड़ियों में सिमटते गए थे। तेरहवीं शताब्दी से ईसाई राज्यों का फिर उत्कर्ष शुरू हुआ। मूरों का प्रभुत्व दक्षिण के ग्रेनाडा प्रांत तक सीमित रह गया था। पंद्रहवीं शताब्दी में स्पेन के राष्ट्रीय उद्भव का प्रारंभ दो राज्यों के पारस्परिक विलय से शुरू हुआ। 'मूरों' के प्रति विरोध के कारण एक राष्ट्रीय भावना तो

स्पेन में व्याप्त थी ही, लेकिन उसका स्वरूप प्रायः धार्मिक था। जब कास्तील की शासक इसाबेला और अरागान के शासक फर्डिनेंड का विवाह हो गया तो स्पेन का राजनीतिक एकीकरण शुरू हो गया। इन्होंने पंद्रहवीं शताब्दी के अंत तक ग्रेनाडा का प्रांत भीजीत लिया। धीरे धीरे स्पेन की सीमाएं बढ़ने लगीं और उत्तर पूर्व में स्थित पिरेनीज की पहाड़ियों का अधिकांश उनके कब्जे में आ गया। स्पेन ने इटली में और भौगोलिक अधिकारों के बाद अमरीका में भी अपने राज्य स्थापित कर लिए। स्पेन की राजधानी मेड्रिड यूरोप का प्रमुख नगर बन गया।

आधुनिक युग की प्रारंभिक शताब्दी में स्पेन यूरोप का सबसे शक्तिशाली राज्य प्रतीत होता था लेकिन उसकी शक्ति और गरिमा अस्थाई औरसतही थी। स्पेन की राष्ट्रवादिता, आधुनिकता का एकमात्र विद्यमान तत्व, भी स्थाई आधारों पर नहीं विकसित हो रही थी। वहां न व्यवसाय बढ़ रहा था न नए मूल्यों का संवाहक मध्यवर्ग। स्पेन का भूगोल उसके प्रतिकूल था। वहां के आर्थिक-सामाजिक जीवन में वह उर्वरता नहीं थी जहां आधुनिकता पनप जाती। परिणाम यह हुआ कि स्पेन का ज्यों ज्यों विस्तार हुआ त्यों त्यों उसका आवरण गुब्बारे की तरह क्षीण होता गया। एक समय आया जब अपने विस्तार और निराधार शक्ति के कारण ही स्पेन पतनोन्मुख हो गया। आधुनिकता न तो कोई आवरण है न शृंगार। उसके प्रस्फुटन और विकास के लिए अनुकूल-अनिवार्य स्थितियां जरूरी हैं। इतिहास साक्षी है कि पंद्रहवीं शताब्दी के स्पेन में ऐसी स्थितियां विद्यमान न थीं और न ही निकट भविष्य में उनकी संभावना थी।

स्पेन का पश्चिमी पड़ोसी था पुर्तगाल। यह विडंबना ही तो है कि आज यूरोप के सबसे महत्वहीन देश पुर्तगाल में पंद्रहवीं शताब्दी में नाविक अभियानों और अन्वेषणों का अग्रणी प्रिंस हेनरी नामक शासक हुआ था। उसने अफ्रीका के 'गिनी' प्रदेश की खोज करवाई और अफ्रीका से सोना, हाथी दांत और गुलामों के व्यापार का मार्ग खोल दिया। यह एक ऐसी शुरुआत थी जिसने इस छोटे से देश को अफ्रीका और लातिन अमरीका में बहुत बड़े बड़े उपनिवेश दिए। लेकिन देश में आर्थिक ढांचा इस लाभ को गति और स्वरूप प्रदान करने में सक्षम नहीं था। इसलिए आधुनिक युग के प्रारंभ में पुर्तगाल की सफलताएं चार दिन की चांदनी सिद्ध हुईं।

यूरोप के उत्तर में स्कैंडेनेविया प्रायद्वीप में डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन के राज्य थे। यहां के लोगों ने मध्ययुग में पश्चिमी यूरोप को त्रस्त किया था लेकिन वहीं घुल-मिलकर रह गए थे। इसलिए इनका जीवन भौगोलिक सीमाओं के कारण अधिकतर अपने में सीमित था। डेनमार्क की इस पूरे क्षेत्र पर प्रभुता क्षीण होने लगी थी। पहले स्वीडन और फिर नार्वे में राष्ट्रीय चेतना के विकास के कारण राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना हुई। वहां धर्म के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए लेकिन

इस क्षेत्र का आर्थिक जीवन अभी आधुनिक बनने के लिए तैयार नहीं था। वैज्ञानिक विकास के बाद के दौर में ही इस क्षेत्र का वास्तविक आधुनिकीकरण संभव हो सका। सत्रहवीं शताब्दी में स्वीडन की सामरिक सफलताएं इसीलिए स्थाई महत्व नहीं प्राप्त कर सकीं।

अधिकांशतः फ्रांस की सीमाएं मध्ययुग में ही निश्चित हो चली थीं। उत्तर-पश्चिम में इंगलिश चैनेल, पश्चिम में अटलांटिक महासागर, दक्षिण-पश्चिम में पिरेनीज के पहाड़, दक्षिण में भूमध्य सागर, पूरब में आलप्स पर्वत की शृंखलाएं और उत्तर-पूरब में राइन नदी की घाटी से घिरे अधिकांश क्षेत्र पर फ्रांसीसी राजवंश 'कापे' का राज्य था। राजा का अधिकार सामंतों द्वारा सीमित था। फिलिप ओगुस्त ने एक प्रकार की एकता स्थापित करने की कोशिश की थी लेकिन वह सफल नहीं हो सका था। पूरे देश में कानून की समानता नहीं थी। सामंतों की प्रतिनिधि सभा स्टेट्स जनरल का वह महत्व नहीं था जो धीरे धीरे इंग्लैंड की पार्लियामेंट को प्राप्त होता जा रहा था। तेरहवीं शताब्दी में सैंलूई के शासन-काल में पहली बार देश की व्यवस्था संगठित होनी शुरू हुई। लेकिन मूलतः फ्रांसीसी सामंत अपनी रूमानी दुनिया में ही खोए थे। पश्चिम के ईसाई देशों ने जब एशिया में स्थित ईसाई तीर्थस्थानों की पुनर्प्राप्ति के अभियान ('क्रूसेड') शुरू किए तो उनमें फ्रांसीसियों की प्रमुखता थी। फ्रांस के मध्य-पूर्व के देशों से अंतरंग संबंधों का प्रारंभ तभी हुआ था।

फ्रांस अपेक्षतया स्वयं में पूर्ण देश था। उसका आर्थिक जीवन कृषि और व्यवसाय के संतुलन के कारण औरों के मुकाबले बेहतर था। सामंतों के संरक्षण में कला जीवित थी। चर्च का महत्व सर्वव्यापी था लेकिन भिक्षु भी ज्ञानार्जन की परंपरा बनाए हुए थे। मध्ययुग के 'गोथिक' शैली में बने विख्यात गिरजाघरों का निर्माण इस बात का प्रमाण है कि फ्रांस में कला का स्रोत शुष्क नहीं हुआ था। इस प्रकार पंद्रहवीं शताब्दी का फ्रांस शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतंत्र और व्यापक व्यावसायिक उपलब्धियों की ओर उन्मुख था।

यूरोप महाद्वीप से इंगलिश चैनेल द्वारा विभाजित द्वीप समूह में आयरलैंड एक अलग द्वीप था। दूसरे बड़े द्वीप पर वेल्स, स्टाकलैंड और इंग्लैंड तीन अलग अलग देश थे। इनकी भाषाएं, परंपराएं और शासनतंत्र भी अलग थे। इनमें इंग्लैंड सबसे बड़ा, सक्षम और संभावनासंपन्न देश था।

मध्ययुग में ही दो समानांतर स्थितियां स्पष्ट हो रही थीं। एक ओर सामंत अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे और उन्होंने पादरियों तथा नगर के धनिकों के साथ मिलकर 1215 में इंग्लैंड के शासक जान को 'सामंती, धार्मिक और म्युनिसिपल' विशेषाधिकार देने पर मजबूर कर दिया था। राजा की स्वेच्छाचारिता पर इस चार्टर ने, जिसे 'मैग्नाकार्टा' कहते हैं, इंग्लैंड में ऐसा अंकुश

लगाया कि वहां जन प्रतिनिधित्व का प्रशासन में महत्व बढ़ता ही गया और वहां की पार्लियामेंट संसदीय व्यवस्था के क्षेत्र में अग्रणी और सर्वप्रमुख बन गई। दूसरी ओर राजा की शक्ति राष्ट्रीय एकता के माध्यम और प्रतीकके रूप में बढ़ने लगी। पंद्रहवीं शताब्दी में दो सामंत परिवारों में वर्षों से चले आ रहे युद्ध (वार आफ रोजेज) के अंत के बाद ट्यूडर वंश के हाथ में सत्ता आ गई। इसी वंश के शासनकाल में इंग्लैंड ने राष्ट्रीय चेतना, विकासोन्मुख मध्यवर्ग, धार्मिक परिवर्तन और प्रगतिशील दृष्टिकोण के साथ आधुनिक युग में प्रवेश किया।

आधुनिक युग के प्रारंभ के समय यूरोप के सभी देशों में इंग्लैंड परिवर्तन के लिए सबसे अधिक सक्षम और तैयार था। इसीलिए उसके नेतृत्व में न केवल पूरे द्वीप समूह का एकीकरण हुआ, उसे पहले यूरोप और फिर सारे विश्व में वरीयता मिल गई।

पूर्वी यूरोप की दुनिया कई अर्थों में भिन्न थी। आधुनिक मास्को के आस-पास फैली छोटी सी मस्कोवी की रियासत केवल भौगोलिक स्थिति के कारण यूरोप में समझी जा सकती थी। यहां के लोग और यहां का शासन तंत्र पूरी तरह मध्य एशियाई लगते थे। लेकिन इनका सैनिक संगठन बहुत शक्तिशाली था। और यही बाद में इनके विस्तार का आधार बना। अठारहवीं शताब्दी आते आते यह छोटा सा राज्य रूसी साम्राज्य के रूप में पूरे उत्तरी यूरोप और एशिया पर छा गया। फिर भी यह यूरोप के पिछड़े देशों में ही गिना जाता रहा क्योंकि यहां आधुनिकता के तत्व अनुपस्थित थे। 1917 की क्रांति के बाद ही रूस का सही अर्थों में आधुनिकीकरण हो सका।

पोलैंड एक विस्तृत राज्य था लेकिन वहां सामंतों का आपसी कलह और प्राकृतिक सीमा का अभाव निरंतर कमजोरी का कारण बना रहा। इसीलिए वहां का विघटित राज्य और परंपराबद्ध जनता आधुनिकता को स्वीकार नहीं पाई और बाद में महत्वाकांक्षी पड़ोसियों ने उसे एकदम से हड़प डाला।

पूर्वी यूरोप का सबसे महत्वपूर्ण राज्य था "बाइजेंटाइन साम्राज्य' जिसका आधिपत्य एशिया तक फैला हुआ था। रोमन साम्राज्य और रोमन कैथोलिक चर्च की परंपराओं को पूरब का पुट देकर यहां के शासकों ने मध्ययुग में पश्चिमी यूरोप से इस क्षेत्र को अधिक जीवंत बना रखा था। इस साम्राज्य के शासक अपने को प्राचीन रोमन साम्राज्य का गौरवशाली उत्तराधिकारी मानते थे— पवित्र रोमन साम्राज्य से भी अधिक। इसी प्रकार इस क्षेत्र का धर्म भी 'ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च' था जो उसी प्रकार अपने को कैथोलिक चर्च से अधिक श्रेष्ठ और मौलिक मानता था जैसे बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा के लोग महायानियों से अपने को अधिक सही और बेहतर मानते रहे हैं। इस चर्च के सर्वोच्च अधिकारी 'पैट्रिआर्क' को वही दर्जा प्राप्त था जो रोम के पोप को। पैट्रिआर्क और

सम्राट दोनों की राजधानी कुस्तुनतुनिया थी जो मध्ययुग में निश्चित ही यूरोप का सबसे भव्य, गरिमामय और बड़ा नगर था। यहां के विद्वानों ने यूनान और रोम का सारा ज्ञान संजोकर रखा था और पूरब, विशेषकर अरब जगत, से संपर्क के कारण उसे और समृद्ध किया था। लेकिन इस साम्राज्य में भी स्थिरता के साथ गतिहीनता आ गई थी। विकास की अपेक्षा सुरक्षा पर बल देने के कारण समाज अनुदार हो गया था। यही कारण है कि यह साम्राज्य पड़ोस के एशिया में तुर्कों की बढ़ती शक्ति का मुकाबला नहीं कर पाया और धीरे धीरे परास्त होता गया। 1453 में स्वयं राजधानी पर तुर्कों का कब्जा हो गया और साम्राज्य विघटित तथा समाप्त हो गया। ग्रीक चर्च का केंद्र भी रूस हो गया। यह एक विडंबना है कि जहां मध्ययुग तक आधुनिक युग के स्रोत सुरक्षित थे वहीं आधुनिक युग के प्रारंभ के साथ ही सब कुछ समाप्त हो गया।

यूरोप की कहानी एशिया के हस्तक्षेप के बिना अधूरी रह जाती है। आधुनिक युग की पूर्व संध्या पर यूरोप का परिचय पश्चिमी एशियाई तुर्की की भूमिका से परिचित हुए बिना अधूरा रह जाएगा।

एशिया के पश्चिम में स्थित तुर्किस्तान के पहाड़ी और पठारी क्षेत्रों में चौदहवीं शताब्दी में एक ऐसी शक्ति का उदय हुआ जिसने सौ वर्षों में ही पश्चिमी यूरोप तक के क्षेत्र को आक्रांत कर अपने प्रभुत्व में ले लिया। कठोर सैनिक संगठन और इस्लाम के प्रचार के सहारे उन्होंने संख्या में कम होते हुए भी एक विशाल सेना बना ली और उसके द्वारा एक अभूतपूर्व साम्राज्य की नींव रख दी। जबरदस्ती विवाह, गुलामी और प्रसिद्धि का लालच उनके विस्तार का आधार बना। बचपन से ईसाई लड़कों को छीन कर उन्हें इस तरह शिक्षित किया जाता था कि उन्हें अपना व्यक्तिगत जीवन—पत्नी, परिवार, घर आदि, भूल जाना होता था। कट्टर मुसलमानों की तरह ये लोग जिन्हें 'जैनिसरी' कहते थे, अल्लाह और अपने सुल्तान के नाम पर संहार और विस्तार के वाहक बने तुर्क साम्राज्य का विस्तार करते फिरते थे। इनका तंत्र कितना खोखला था यह तब सिद्ध हुआ जब पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में (1402) 'तैमूरलंग' ने इनके शासक 'बायाजिद' को न केवल परास्त किया बल्कि उसे कैद भी कर ले गया। एशिया का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। लेकिन इससे इनकी दिशा यूरोप की ओर निर्धारित हो गई।

इन पचास वर्षों में उनका प्रभाव बढ़ता गया और अंत में बाइजेंटाइन साम्राज्य इसलिए ध्वस्त हो गया क्योंकि राज्यशक्ति सक्षम नहीं थी और धर्म की शक्ति का प्रयोग इसलिए नहीं हुआ क्योंकि ईसाई स्वयं विघटित थे। यहां के लोग तुर्कों से अधिक रोमन लोगों से घृणा करते थे। तुर्कों और बाइजेंटाइन साम्राज्य के बीच का संघर्ष कभी धर्म युद्ध नहीं बन पाया। उल्टे इटली के

ईसाई व्यापारी इस ताक में थे कि तुर्क साम्राज्य में व्यापार बढ़ाने का अवसर मिल सकता था। और इस तरह 1453 में तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया को हड़प कर एक नई धारा वहा दी।

यूरोप में भीतर तक घुस जाने के बावजूद तुर्क मध्ययुगीन बने रहे। यह एक दिलचस्प बात है कि उनके यूरोप में आने से यूरोप का आधुनिक युग प्रारंभ होता है और बीसवीं शताब्दी में तुर्कों के यूरोप से निकाले जाने के बाद ही स्वयं तुर्की का आधुनिक काल प्रारंभ हो पाया।

यूरोप के विभिन्न राज्यों के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्थितियां असमान थीं। पूरे यूरोप में हर कहीं आधुनिक युग में प्रवेश की तैयारी एक जैसी नहीं थी। फिर भी अधिकतर क्षेत्र में एक उद्वेलन प्रारंभ हो रहा था भले ही उसकी गति, गुणात्मकता और व्यापकता में क्षेत्रों के अनुसार अंतर रहा हो। इस उद्वेलन की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति राष्ट्रवादिता की भावना में दिखाई पड़ती है।

राज्य तो इतने थे लेकिन वास्तविक सत्ता सामंतों के हाथ में होती थी। राजाओं के पास प्रायः संगठित स्थाई सेना (परमानेंट स्टैंडिंग आर्मी) नहीं होती थी और युद्ध के समय वे मित्र सामंतों पर आश्रित होते थे। इसलिए शक्ति का केंद्र राजधानी नहीं, सामंतों की गढ़ी होती थी। ये सामंत अपनी रियासत के वास्तविक प्रभु थे, नाम का प्रभुत्व भले ही राजा का हो। सामंती व्यवस्था उत्पादन के सीमित साधनों, कृषि की प्रधानता और किसानों एवं अर्धदासों (सर्फ) के श्रम पर ऐश करते सामंतों के कारण जानी जाती है। कृषि की प्रधानता, स्थानीय सुरक्षा और यातायात के साधनों की कमी के कारण राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से सामंतों के क्षेत्र एक पूर्ण इकाई के रूप में विकसित हो रहे थे। इसके परिणामस्वरूप एक सामंती मनोवृत्ति भी विकसित हो रही थी।

लेकिन जब बारूद का आविष्कार हुआ और उसे युद्ध में निर्णायक पाया गया तो सामंत की गढ़ी अजेय नहीं रह गई, उसकी शक्ति ध्वस्त हो गई। ईसाई धर्म के जन्मस्थल को मुसलमानों के चंगुल से छुड़ाने के लिए जब पश्चिमी यूरोप के शासकों और सामंतों ने जेहाद (क्रूसेड) किए तो दूरदराज के लोगों के संपर्क में आने से सीमित और संकुचित मनोवृत्ति भी बदलने लगी। उत्पादन के साधन बढ़ने, यातायात के विस्तार और व्यावसायिक कार्यों के बढ़ जाने से नगरों का विकास होने लगा। इन सबका मिला-जुला असर यह हुआ कि सामंतवाद कमजोर होने लगा।

इस बीच सांस्कृतिक गतिविधि रुकी नहीं थी। इस दिशा में, सीमित क्षेत्र में ही सही, निरंतर कुछ न कुछ हो रहा था। यह समझा जाता है कि यूनान की साहित्य, दर्शन या यों कहें कि जीवन के हर क्षेत्र में हुई उपलब्धियां विस्मृति

के गर्त में दब गई थीं और पुनर्जागरण में उनका पुनरुद्धार हुआ। यह सच नहीं है। यूनान का पतन होने से पहले ही अरबों ने यूनान की सारी विद्या अपने पास संजो ली थी। उसे उन्होंने पूरब, विशेषकर भारत की विद्याओं से समन्वित करके और धनी बनाया था और मध्यपूर्व से स्पेन तक फैले अपने राज्य में सुरक्षित रखा था। उनके द्वारा स्पेन में स्थापित सारागोसा विश्वविद्यालय के अरब और यहूदी विद्वान प्राचीन विद्याओं में पारंगत थे। इसलिए यह तो कह सकते हैं कि यूरोप में प्राचीन उपलब्धियों से लोग अनभिज्ञ हो चले थे, लेकिन वे विस्मृति में खो गई थीं यह कहना गलत होगा। यूरोप में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में महत्वपूर्ण विश्वविद्यालय खोले गए जिसमें सारबान्न (पेरिस), आक्सफोर्ड, कैंब्रिज और लाइपत्सिग आज भी अग्रगण्य हैं। लेकिन ये विश्वविद्यालय धर्म के प्रभाव से आक्रांत थे। इसीलिए यहां उतना विकास नहीं दिखाई पड़ता जितना कि चौदहवीं शताब्दी के अरब विचारक इब्नखल्दून की पुस्तक 'मुकद्दमा' में दिखाई पड़ता है। यदि हम ईसाई विचारक टामस एक्विनास और खल्दून की तुलना करें तो यूरोप का पिछड़ापन स्पष्ट हो जाएगा। फिर भी हम किसी तरह यह नहीं कह सकते कि यूरोप का मध्ययुग अंधकारपूर्ण काल था।

कला के क्षेत्र में भी कुछ उपलब्धियां उल्लेखनीय हैं। पुनर्जागरण के बाद जिस शैली का विकास हुआ उसके उदाहरण आज भी हमें आकर्षित करते हैं। लेकिन तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में आकाश की ऊंचाइयों को नापते खूबसूरत मेहराबों में वृक्षों द्वारा बनाए गए प्राकृतिक मेहराबों का अनुकरण करते और अपनी दीवारों पर बाइबिल की कथाओं और ईसाई संत परंपराओं को मूर्त किए गोथिक शैली के विशाल गिरजाघर किसी भी तरह कम सुंदर कलाकृति नहीं हैं। पेरिस, रैंस और कोलोन के गिरजाघर मध्ययुग की कला चेतना के साक्षी हैं।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मध्ययुग में भी यूरोप का व्यक्ति क्रियाशील था, उसकी चेतना विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति पाती थी। हां, यह जरूर सच है कि धर्म और सामंतवाद से समाज इतना आक्रांत था कि व्यक्ति अपने को पूरी तरह मुक्त नहीं पाता था। चर्च और राज्य, पोप और शासक की मिलीभगत से साधारण जनता का खूब शोषण होता था और एक प्रकार की सामाजिक घुटन बढ़ रही थी। रचनात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति के मार्ग में अवरोध उत्पन्न किए जाते थे। समाज असहिष्णुता, अंधविश्वास, चमत्कार में आस्था और जड़ता का शिकार था। जिज्ञासा, चेतना, संघर्ष अपवाद थे, नियम नहीं। पुनर्जागरण ने बस इतना किया कि अपवादों का विस्तार किया। अधिक से अधिक लोग जिज्ञासु, चेतनशील और संघर्षरत होने लगे। इस प्रकार बंधनों के कटने का, मुक्ति का, दौर शुरू हुआ जो अब तक जारी है।

2

पुनर्जागरण

साधारणतया आधुनिक युग का प्रारंभ यूरोप के पुनर्जागरण से माना जाता है। यह सच है कि पंद्रहवीं शताब्दी से यूरोप में जिस नई धारा का प्रवाह शुरू हुआ, विशेषकर साहित्य और कला के क्षेत्र में, उस पर प्राचीन यूनान और रोम की सभ्यता की पुनर्प्रतिष्ठा और पुनर्मूल्यांकन का वहुत असर था। फिर भी वहुत सारी वातें विलकुल नई थीं जिनका प्राचीन यूरोप से कोई प्रत्यक्ष संवंध नहीं था। पुनर्जागरण काल में पीछे मुड़कर देखने से, अतीत से प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए प्रायः पुनर्जागरण से प्रतिक्रियावादी शक्तियों को वल मिलता है जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष में हुआ। कुछ इतिहासकार जैसे पी० स्मिथ तो यूरोप के पुनर्जागरण को भी प्रतिगामी मानते हैं। लेकिन यूरोप में जो कुछ हुआ वह प्रगति की ओर इतना उन्मुख था कि उसे पूरी तरह प्राचीन यूनान और रोम से जोड़ देने से न्याय नहीं होगा। वह तो पुरातन की प्रेरणा पर आधारित नवीन के निर्माण का प्रारंभ था।

पुनर्जागरण का अर्थ

यदि हम व्यक्ति के संदर्भ से बात शुरू करें तो समाज के पुनर्जागरण को समझने में आसानी होगी। एक व्यक्ति प्रतिदिन सुवह जब जागता है तो उसके सामने एक कार्यक्रम होता है, उस नए दिन की दिनचर्या होती है और वह आनेवाले क्षणों के लिए अपने को तैयार करता है। उसकी इस तैयारी पर उसके बीते हुए दिनों का, जव कि वह कार्यरत था और वीती हुई रातों का जवकि वह नींद का शिकार था, असर पड़ता है। इस प्रकार हर दिन जव वह फिर से जागता है तो अतीत और भविष्य के बीच की यात्रा तय करता है।

समाज के संदर्भ में वात थोड़ी जटिल हो जाती है। कोई समाज किसी काल विशेष में जाग्रत होता है, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी उल्लेखनीय उपलब्धियां होती हैं और फिर किन्हीं कारणों से वह समाज अंधकारग्रस्त हो जाता है। कुछ शताब्दियों वाद परिस्थितियां अनुकूल होने लगती हैं, चेतना लौटती है,

विचारों और कलाओं के क्षेत्र में फिर से जीवन लौटता दिखाई पड़ने लगता है और इतिहासकार उसे पुनर्जागरण की संज्ञा दे देता है।

यूरोप के इतिहास में पांचवीं-छठी शताब्दी ईसा पूर्व के यूनान के छोटे छोटे राज्यों में मानव सभ्यता का अभूतपूर्व विकास हुआ। धीरे धीरे सुकरात, अफलातून (प्लेटो), अरस्तू, यूरीपिडीज, पाइथागोरस, हेरादोतस और इनके जैसे अनेक दार्शनिकों और विचारकों ने मानव-ज्ञान के विभिन्न आयाम प्रस्तुत किए। एथेंस में एक ऐसी नागर सभ्यता पनपी जिसकी विराटता उसके विशाल भवनों और मूर्तियों में भी दिखाई पड़ती थी। फिर धीरे धीरे इस सभ्यता का पतन हुआ और रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ एक नया केंद्र रोम में स्थापित हुआ। इस साम्राज्य के कानूनों व्यवस्थाओं और भवनों में भी यूरोप के आदमी ने उन्नति की कई मंजिलें तय कीं। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी आते आते इस सभ्यता का भी पतन शुरू हो गया और वर्बर जातियों के आक्रमण के दबाव में यहां की उपलब्धियां छिन्न-भिन्न हो गईं। यूरोप पर अंधकार छाने लगा। ऐसा नहीं था कि वहां का समाज निष्क्रिय हो गया हो। विचारों के क्षेत्र में ईसाई भिक्षु और अन्य विद्वान कुछ न कुछ करते ही रहे लेकिन पहले अरबों फिर तुर्कों के वढ़ते प्रभुत्व ने उन्हें आतंकित और अंतर्मुखी वना दिया।

तेरहवीं शताब्दी के वाद जैसे भोर की हवा चली। यूरोप ने अंगड़ाई ली। इटली के नगरों में यूनान और रोम की उपलब्धियों की याद ताजा होने लगी। वढ़ते व्यापार ने नगरों का विस्तार किया था। इन नगरों में एक महत्वाकांक्षी और अपेक्षतया उदार नया मध्यवर्ग जन्म ले रहा था जो मध्ययुग की रूढ़ियों के बोझ से मुक्ति चाहता था। यहां कुछ नया हो सकता था, पुराने को नया रूप देना संभव था। इसलिए विचारों, साहित्य और कला के क्षेत्र में यूनान और रोम से प्रेरणा लेकर एक ऐसे समाज की रचना मनुष्य ने शुरू की जिसमें यथास्थिति के प्रति मोह न हो, जहां मनुष्य अपने वंधनों को काट सके, जहां धर्मकेंद्रित समाज (थिओसेंट्रिक सोसायटी) के स्थान पर मानव केंद्रित समाज (ऐंथ्रोपोसेंट्रिक सोसायटी) वन सके—जिसमें व्यक्ति और उसकी समस्त संभावनाओं को उचित स्थान मिल सके। इसी प्राचीन यूरोप की प्रेरणा के आधार पर नए यूरोप के निर्माण के प्रारंभ को पुनर्जागरण कहते हैं।

परिस्थितियां

जिस यूरोप में पुनर्जागरण संभव हुआ अर्थात मध्ययूगीन यूरोप, वहां का समाज रूढ़िग्रस्त था। सामंतवादी समाज में चर्च का प्रभाव जन जन के व्यक्तिगत जीवन तक पर छाया हुआ था। समाज के महत्वपूर्ण स्थान थे सामंत की किलानुमा हवेली, गिरजाघर और भिक्षुओं के रहने का स्थान 'मोनास्ट्री' (मठ)। साधारण

आदमी का जीवन धार्मिक दवाव, आर्थिक शोषण और सामाजिक विषमता के कारण एक बोझ था जिसे बिना कुछ समझे वह ढोता रहता था। ऐसे समाज में पुनर्जागरण किन परिस्थितियों में संभव हुआ ? या स्थूल भाषा में कहें तो पुनर्जागरण के क्या कारण थे ?

जागना कई कारणों से होता है। कोई तो स्वतः एक निश्चित नींद पूरी कर लेने के बाद जाग जाता है। कोई बिना पानी डाले, घड़ी की आवाज सुने, डांट-फटकार खाए या शोर-शराबे के उठता ही नहीं। यह भी कह सकते हैं कि कोई तो पूरी तरह कभी नहीं सोता और बस समय पर नींद की चादर हटा देता है और फिर चैतन्य हो जाता है। और कोई जागता दिखाई पड़ने पर भी इतना शिथिल और निष्क्रिय होता है कि वास्तव में सोता ही रहता है। वह जब दरअसल सोता है तो आसानी से नहीं जागता।

समाज में भी कुछ इसी तरह की बात होती है। कहीं कहीं तो कोई समाज एकदम से पतन के गर्त में कभी नहीं जाता और कुछ शताब्दियों के बाद वहां की सांस्कृतिक धारा फिर से प्रवाहमान हो जाती है, जैसे भारतीय और यूरोपीय समाज। यूरोप में पांचवीं और पंद्रहवीं शताब्दी के बीच (मध्यकाल) में भी, संकुचित क्षेत्र में ही सही, सांस्कृतिक गतिविधि बंद नहीं थी। लेकिन तेरहवीं शताब्दी के बाद ऐसी परिस्थितियां पैदा हुईं जिन्होंने मनुष्य को चैतन्य बनाने में मदद की।

सबसे पहले तो व्यापार और खोए हुए ईसाइयों के पवित्र नगर जेरूसलम पर फिर से कब्जा करने के लिए यूरोप के लोगों ने बड़ी बड़ी यात्राएं और हमले, 'क्रूसेड्स' शुरू किए। इन यात्राओं ने उनकी संकीर्णता को झकझोर दिया। नए-नए तरह के लोगों के संपर्क में आकर यूरोप के लोगों ने नए से घबड़ाना छोड़ दिया। सामंती व्यवस्था अपने ही बोझ एवं कृषि और उद्योग के नए प्रयोगों के दबाव में टूटने लगी। पुराने व्यावसायिक 'गिल्ड' के स्थान पर ऐसी संस्थाएं बनने लगीं जो अपेक्षातया उदार और प्रगतिशील थीं। ये नए संगठन कुछ विशिष्ट लोगों के एकाधिकार का विरोध तक करने लगे। नगरों में अपने श्रम से धन कमाने वाले लोगों ने बने-बनाए नियमों, कानूनों का उल्लंघन करना शुरू कर दिया। नगरों के नए धनिक वर्ग ने उदार विचारों को प्रश्रय देना शुरू किया।

मध्यकाल में स्थिति यह हो गई थी कि लगता था एक गतिरोध पैदा हो गया था, रफ्तार रुक सी गई थी। जैसा कि फिशर कहता है: 'प्राचीन ज्ञान लुप्त हो गया और नया अनुपलब्ध था। पर वास्तव में ऐसा था नहीं। ग्यारहवीं शताब्दी से ही यूरोप के विभिन्न क्षेत्रों में चेतना का पूर्वाभास होने लगा था। फ्रांस में आबेलार (1079-1142) विचारों में उथल-पुथल शुरू कर रहा था। इंग्लैंड में रोजर बेकन (1214-1292) ने जब यह कहा कि 'बिना प्रयोग के कुछ भी

जाना नहीं जा सकता' तो उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का जन्म हुआ जो भविष्य में आधुनिक युग का आधार बनी। इटली में दांते (1265-1321) ने इटालियन भाषा का प्रयोग कर लैटिन भाषा के पाश को कमजोर किया और बौद्धिक शक्ति को जनशक्ति के करीब लाने में सफलता प्राप्त की। उसने रोमन सत्ता का गुणगान किया और यह भी कहा कि धार्मिक संस्थाओं की राजनीतिक महत्वकांक्षाओं से ही बुराइयां जन्मती हैं। वह पहले के कवियों की तरह पादरी नहीं बल्कि गृहस्थ था और उसने कविता को भाषा शैली और विषयवस्तु के संदर्भ में एक नई दिशा दी। उसने प्राचीन यूनान के अरस्तु और रोम के वर्जिल की प्रशंसा की। पेत्रार्क (1301-74) में आधुनिक मानवतावाद के बीज अंकुरित हुए। वह सीजर, सिसरो और वर्जिल का प्रशंसक था। लेकिन उसने प्राचीन विभूतियों का चरित्र नए अंदाज से प्रस्तुत किया ताकि वे नई पीढ़ियों को प्रेरित कर सकें।

इस तरह यह स्पष्ट है कि पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जो नई चेतना का विस्तार हुआ वह अचानक नहीं शुरू हो गया। इसके पीछे पिछली कई शताब्दियों से विकसित हो रही एक परंपरा थी।

इसी बीच पश्चिमी यूरोप पर लैटिन भाषा का एकछत्र प्रभुत्व टूटने लगा। लोकभाषाएं समृद्ध होने लगीं और इस तरह लोक मानस का विकास शुरू हुआ। जैसे हिंदुस्तान में संस्कृत जब जनभाषा नहीं रह गई तो कुछ दिनों के लिए विचार और साहित्य के क्षेत्र में गतिरोध पैदा हो गया। फिर स्थानीय भाषाओं के विकास के साथ साथ नई चेतना लौटी और बंगला से मलयालम तक और बाद में हिंदी में भारत की जनता को नई अभिव्यक्ति मिली। इस प्रकार यूरोप में आम आदमी लैटिन या ग्रीक में बोल-लिख नहीं सकता था, इसलिए विकास क्रम धीमा हो गया था। धीरे धीरे इतालवी, फ्रांसीसी, अंगरेजी और जर्मन भाषाओं का विकास होने लगा और अपनी भाषा में लोगों को अपनी बात कहने का मौका मिला।

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना घटी। पूर्वी यूरोप में स्थित बाइजेंटाइन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया, विद्वानों और प्राचीन विद्या के जानकार लोगों का गढ़ थी। चौदहवीं शताब्दी से ही तुर्कों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और वे यूरोप पर बराबर हमला करने लगे थे। 1453 में कुस्तुनतुनिया का पतन हो गया और पूर्वी यूरोप और बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्कों की बाढ़ आ गई। ईसाई विद्वान घरबार छोड़कर भागे और अपनी मूल्यवान पुस्तकें भी अपने साथ लेते गए। अकेले कार्डिनल बेसारिओन आठ सौ पांडुलिपियों के साथ इटली पहुंचा था। इन विद्वानों को इटली के नगरों में एक अनुकूल वातावरण मिला और उनके संपर्क और ज्ञान से इन नगरों में नई स्फूर्ति आ गई।

तुर्कों द्वारा पूर्वी भूमध्य सागर का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से एक नए आयाम

का भी विस्तार होने लगा। यूरोप में बढ़ते व्यापार के साथ सामुद्रिक यात्राओं का भी विस्तार हो रहा था। स्पेन और पुर्तगाल के शासक नाविकों को प्रोत्साहन दे रहे थे। पुर्तगाल का शासक हेनरी जिसे नाविक 'हेनरी द नेविगेटर' कहते थे, नाविकों का बहुत बड़ा संरक्षक था। 1415 में पुर्तगालियों ने अफ्रीका के समुद्रतटों पर अधिकार करके शासकों और नाविकों का उत्साह बढ़ा दिया था।

इसी बीच भूमध्य सागर के पूर्वी क्षेत्रों पर तुर्की का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। एशिया और यूरोप के बीच प्राचीन काल से यही एक रास्ता था। चीन, जावा, सुमात्रा और भारतवर्ष के जहाज लाल सागर तक आते थे और दूसरी ओर यूरोप के जहाज सिकंदर द्वारा बसाए गए अलेकजेंड्रिया बंदरगाह तक आते थे। बीच के रेगिस्तानी स्वेज प्रदेश में, जहां अब विश्वविख्यात स्वेज नहर है, ऊंटों के काफिलों पर सामान एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुंचाया जाता था। पूरब की चीजें, विशेषकर मसाले और कपड़े, यूरोप के घरों के लिए अनिवार्य आवश्यकता बन चुके थे। अब जबकि यह रास्ता बंद हो चुका था, नए मार्गों की तलाश शुरू हुई और वास्कोडिगामा सारे अफ्रीका का चक्कर लगाता हुआ एक नए रास्ते से भारत पहुंच ही गया। दूसरी ओर दुनिया को गोल समझकर पश्चिम की ओर से भारत पहुंचने के चक्कर में कोलंबस एक ऐसी दुनिया में पहुंच गया जिसका तब तक यूरोपवालों को पता न था। इन नए टापुओं को इंडीज कहा गया और पास के विशाल महाद्वीप का अमरीका। इस तरह भौगोलिक खोज का एक ऐसा दौर शुरू हुआ जिसने मानवज्ञान को बहुत विस्तार दिया। संकुचित दृष्टिकोण नए नए अनुभवों के टकराव से टूटने लगे।

यूरोप में बदलती आर्थिक स्थितियों का सबसे मूर्त रूप नगरों में व्यक्त हो रहा था। नए मूल्यों का वाहक एक नया वर्ग पैदा हो रहा था जो कुलीन होने के नाते नहीं, अपनी वास्तविक सामर्थ्य के कारण महत्वपूर्ण होता जा रहा था। विभिन्न वर्गों से निस्सृत इस नए वर्ग के लोग आर्थिक रूप से संपन्न थे। यथा स्थिति में परिवर्तन उनके अस्तित्व का आधार था। इसलिए परिवर्तन उनका स्वभाव बन गया था। इस वर्ग के लोग स्थितियों को अपने अनुकूल ढालने के लिए बाध्य थे। इसीलिए कृतसंकल्प थे। उन्हें रूढ़ियों को तोड़ने में ही लाभ था। इसलिए नगरों में वे पुरानी संस्थाओं के स्थान पर नई संस्थाएं संगठित कर रहे थे। उनका आचार-व्यवहार और जीवन पद्धति बदल रहे थे। उन्हें नए विचार और नए मूल्य चाहिए थे। उन्हें वह सब स्वीकार्य था जो उनकी स्थिति को दृढ़तर बनाता।

नगरों का विस्तार हो रहा था और उनकी आवश्यकताएं बढ़ रही थीं। ऐसे में जो वातावरण बन रहा था। उसे कुस्तुनतुनिया से आए विद्वानों ने और जीवंत बना दिया। शिक्षा में रुचि बढ़ने लगी और पढ़े-लिखे लोगों का दायरा बढ़ने लगा।

विद्या की नई परिभाषा की गई और उसे नई विद्या (न्यू लर्निंग) कहा जाने लगा। नगर के धनिक उन शिक्षकों और विद्वानों को प्रश्रय देने लगे जो प्राचीन यूनान की सभ्यता को मानव इतिहास की सबसे बड़ी उपलब्धि समझते थे।

यह विश्वास दृढ़तर होता गया कि प्राचीन विद्या अधिक मानववादी थी। फलत: नई विद्या को मानववाद (ह्यूमनिज्म) से जोड़ा गया और मानव तथा उसके परिवेश को नई दृष्टि से देखा जाने लगा। सिसरो और पेत्रार्क के बीच की शताब्दियों को निकृष्ट करार दिया गया। मध्ययुग पिछड़ेपन का पर्यायवाची बन गया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उस युग की स्थापत्य कला को जिसने मेहराबदार भवनों के निर्माण की शैली स्थापित की थी, 'गोथिक' अर्थात जंगली कहा जाने लगा।

इस मानववादी विचारधारा के विचारकों ने विभिन्न देशों में इस नई विचार-धारा का प्रचार किया, पर उनमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है रॉटरडम के उच लेखक 'एरासमस' को। एरासमस, पेत्रार्क से भी अधिक 'यूरोप का विद्वान' के नाम से जाना जाता है। वह ईसाई होते हुए भी ईसाई धर्म की कमजोरियों, विशेषकर पादरियों के आचरण व्यवहार पर प्रहार करता था। अपनी पुस्तक 'मूर्खता की प्रशंसा' (प्रेज आफ फ़ाली) में उसने भिक्षुओं और धर्मशास्त्र के ज्ञाताओं की हंसी उड़ाई और इस तरह उसने रूढ़िग्रस्त समाज के बंधन ढीले करने में प्रशंसनीय भूमिका निभाई।

इन मानवतावादी लेखकों के कारण ही यूरोप में विस्मृतप्राय प्राचीन यूनान का पुनरुद्धार हो सका। यूनान की वैचारिक और कलात्मक समृद्धि ही आधुनिक यूरोप की थाती बनी। इसी कारण इतिहासकार फिशर आज के यूरोप को 'यूनान की विरासत' कहता है। इस विरासत को प्राप्त करने और विस्तार देने का श्रेय निश्चित रूप से मानवतावादियों को है।

यूनान और बाद में रोम के पतन के बाद सारे यूरोप में अपने अतीत के प्रति वही दृष्टिकोण बन गया था जो अठारहवीं शताब्दी के हिंदुस्तान का अपने अतीत के प्रति था, कुंठा, हीन भाव और विस्मृति ग्रस्त दृष्टिकोण। अरबों ने प्राचीन यूरोप की वैचारिक उपलब्धियों और ज्ञान को संजोकर रखा था और मध्ययुग के अरब और यहूदी विचारक एशिया के ज्ञान से उसे और समृद्ध करते रहे। बाइजेंटाइन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनिया जब पूरब और पश्चिम के बीच एक पुल की तरह विकसित हुई तो वहां ईसाई विद्वानों ने संग्रहकार्य शुरू किया। पंद्रहवीं शताब्दी आते आते नई स्थितियों ने पुरानी परंपराओं में रुचि जगाई और जब कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद इटली में 'नई विद्या' और उसके माध्यम से मानवता-वाद का विकास हुआ तो जैसे मानवज्ञान को नई दिशा मिल गई। तत्कालीन लेखकों ने यह समझा कि अतीत उतना ही वास्तविक है जितना वर्तमान, और

भविष्य उन्हें वैसे ही देखेगा जैसे वे अपने अतीत को देख-समझ रहे थे। इस प्रकार एक ऐतिहासिक निरंतरता, एक सतत प्रक्रिया, की चेतना विकसित हुई।

इसी दिशा में वैज्ञानिक आविष्कारों ने भी मदद की। मानव सभ्यता को लिपियों के आविष्कार ने क्रांतिकारी दिशा दी। जब विचारों को लिपिबद्ध करने का प्रसार हुआ तो कपड़ा, चमड़ा, भोजपत्र जैसी अनेक चीजों पर छपाई शुरू हुई। चीन, दमिश्क और यूनान जैसे देशों में अपनी अपनी तरह का कागज ढूंढ़ा जा चुका था। परंतु इनपर छपाई बहुत ही मुश्किल और महंगा काम था। यह ठीक से नहीं कहा जा सकता कि किसने सबसे पहले ऐसे टाइप का आविष्कार किया जो बार बार इस्तेमाल किया जा सके। बहरहाल यह निश्चित है कि पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में जर्मनी में जान गटेनबर्ग नामक व्यक्ति ऐसी टाइप मशीन का इस्तेमाल करने लगा था जो आधुनिक प्रेस की पूर्ववर्ती कही जा सकती है। छपाई के इस नए तरीके का क्रांतिकारी परिणाम हुआ। पुस्तकें सस्ती और सुलभ हो गईं। ज्ञान पर से विशिष्ट लोगों का एकाधिकार समाप्त हो गया। 'पुस्तकों में ऐसा लिखा है' कह कर अब जनता को बरगलाया नहीं जा सकता था क्योंकि जनता अब स्वयं जरूरत पड़ने पर पढ़ सकती थी कि क्या लिखा है। पुस्तकों के प्रसार ने लोगों में आत्म-विश्वास भरा, क्षेत्रीय भाषाओं के विकास को बल मिला। अंधविश्वास और रूढ़ियां कमजोर पड़ने लगीं।

यह तो प्रारंभ मात्र था। पंद्रहवीं शताब्दी तक यह समझा जाता था कि पृथ्वी ब्राह्मांड का केंद्र है और सारे नक्षत्र, सूरज, चांद, सितारे पृथ्वी का चक्कर लगाते हैं। मानव के अहम को धरती की इस केंद्रीय स्थिति से बड़ा बल मिलता था। यूनान में टालेमी द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत अडिग था और इसका विरोध वही कर सकता था जिसे न ईश्वर प्यारा हो न अपनी जान। पोलैंड के वैज्ञानिक कोपरनिकस ने इस सिद्धांत पर प्रहार किया। अपनी पुस्तक 'नक्षत्रों की गति' (आन द रेवोल्यूशन आफ द सेलेस्टियल बाडीज) में गणित के माध्यम से कोपर-निकस ने यह सिद्ध किया कि सौरमंडल का केंद्र पृथ्वी नहीं सूरज है। जान पर खेलकर उसने यह जोखिम उठाया था लेकिन बाद के आविष्कारों ने जब यह बात सिद्ध कर दी तो स्वनिर्मित अहम का किला ढह गया। आदमी को अपनी औकात का पता चल गया और वहीं से शुरू हुई उसकी वैज्ञानिक विजययात्रा।

इस प्रकार अनेक परिस्थितियों के मिले-जुले प्रभाव में पुनर्जागरण संभव हुआ। ऐसे कारण तेरहवीं शताब्दी के यूरोप में ही मौजूद थे जिनके बढ़ते रहने से पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में नए सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई और हजारों साल तक केवल सांस लेता या कभी कभी चौंकता सा प्रतीत होता यूरोप का समाज करवट लेकर उठ बैठा। उसे लगा सदियों बाद वह फिर से जागा है।

पुनर्जागरण की विशेषताएं

यूरोप का पुनर्जागरण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अलग अलग रूपों में प्रकट हुआ। पुनर्जागरण की प्रक्रिया सदियों तक चलती रही और उसके बीच से जिस आधुनिक यूरोप का जन्म हुआ वह मध्ययुगीन यूरोप से हर तरह से भिन्न था।

नई विद्या ने जो ज्योति जलाई थी उसके मानवतावादी प्रकाश में अंधकार छंटने लगा। एरासमस के क्रम में अंगरेज विद्वान टामस मोर ने 'यूटोपिया' नामक ग्रंथ में एक नए समाज की कल्पना की जो तत्कालीन यथार्थ के स्थान पर एक आदर्श स्थापित कर सके। कोपरनिकस के सिद्धांत को केपलर ने गणित और गैलिलियो ने अपनी दूरबीन से अकाट्य साबित कर दिया। विचारों की पुष्टि के लिए प्रयोग का महत्व बढ़ने लगा। गणित की अभूतपूर्व सफलताओं ने भौतिकशास्त्र को बल दिया। बाद में न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण और गति के सिद्धांतों के आधार पर भौतिक जगत की समझदारी को नया आयाम दिया। कुल मिलाकर मनुष्य के अंधविश्वास ढहने लगे और तर्क पद्धति का विकास होने लगा। मनुष्य ने आस्था के स्थान पर विवेक से कार्य लेना शुरू किया। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में भी माइकियावेली से बेकन तक अध्ययन के नए तरीके ढूंढ़ने में व्यस्त हो गए। दर्शन का स्वरूप बदल गया। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मनुष्य ने केवल परंपरा के आधार पर किसी सच्चाई को मानने से इन्कार कर दिया हो। वह प्रश्न करने लगा क्योंकि अब वह जिज्ञासु था और वैज्ञानिक आविष्कारों ने उसकी अंधास्था को डगमगा दिया था। संक्षेप में कह सकते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के समाप्त होते होते वैज्ञानिक युग प्रारंभ हो चुका था।

साहित्य

ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के बाद से धीरे धीरे यूरोप पर चर्च का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि साहित्य और कला के क्षेत्र में भी धर्म की प्रधानता बढ़ी हुई थी। साहित्य अधिकतर भिक्षुओं और पादरियों द्वारा लैटिन भाषा में लिखा जाता था। जाहिर था कि उसमें न तो साधारण जनता का कोई जिक्र होता था, न ही जनता उसे समझ सकती थी। पुनर्जागरण के साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं का विकास शुरू हुआ। विषय और विधाओं की दृष्टि से बहुत परिवर्तन हुए। अब आदमी की बात उसी की भाषा में ऐसे कही जाने लगी कि वह समझे भी। ऐसे साहित्यकारों और विचारकों ने मनुष्य की संवेदना और मानसिकता को नए ढंग से प्रभावित किया। दांते ने अपनी कविता, पेत्रार्क ने अपनी जीवनियों और बोकैसिओ ने अपनी कथाओं से इटालियन भाषा साहित्य को समृद्ध किया। गिसिआर्दिनी ने अपने इतिहास, फिसिनो ने प्लेटो के अध्ययन और माइकियावेली ने अपने राज-

नीतिक विश्लेषणों से इटली के वैचारिक साहित्य को समकालीन आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। विशेषकर माइकियावेली की पुस्तक 'प्रिंस' समकालीन इटली की राजनीतिक आकांक्षाओं की परोक्ष अभिव्यक्ति थी। उसने राजनीति के कुछ ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित किए जिनके कारण उसे 'आधुनिक चाणक्य' तक कहा जाता है। उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण साध्य के लिए किसी भी साधन की उपयुक्तता के सिद्धांत पर आधारित था। फिशर उसे 'सत्ता की राजनीति का कलाकार' (आर्टिस्ट इन पावर पालिटिक्स) कहता है। अब तक कोई ऐसा राजनीतिक विश्लेषण नहीं हुआ था जिसमें धर्म और नैतिकता का पुट न हो। उसने इटली के प्राचीन गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा की दृष्टि से सेजार बोर्जिआ जैसे हत्यारे और बदनाम पोप को अपना 'हीरो' बनाया। स्पष्ट है अब साहित्य धर्म का ही प्रक्षेप नहीं रह गया था।

फ्रांस में राबलै ने जब यह लिखा कि 'केवल मनुष्य ही हंस सकता है' (लाफ्टर बिलांग्स टु मैन एलोन) तो साहित्य और विचारों की पुरानी संत परंपरा ध्वस्त हो गई। वह केवल विचारों नहीं कार्यों से भी विद्रोही था। उसने धार्मिक मनाही के बावजूद उसने डाक्टर की हैसियत से मानव शरीर की चीरफाड़ की और पादरी की हैसियत से मानव मन को नए ढंग से शांति भी दी। उसकी पुस्तकें 'पोताग्रुएल' और 'गारगैंतुआ' वैचारिक और साहित्यिक धरातल पर एक ताजा हवा की तरह सिद्ध हुईं जिसमें सांस लेकर फ्रांस को नई स्फूर्ति मिली। इसीलिए उसकी पहली पुस्तक को 'नया संदेश' (न्यू गोस्पेल) कहा जाने लगा। एडिथ शेल के शब्दों में राबलै के साहित्य का मूल मंत्र है 'प्यास', बौद्धिक और नैतिक प्यास, अनुभव की प्यास, यथार्थ की प्यास। यही प्यास तो पुनर्जागरण का आधार बन गई। मोंताइन्य ने निबंध (एसेज) साहित्य में एक नई विधा का सूत्रपात किया। उसके अनुसार 'जीवन सुखमय नहीं दिलचस्प है।' इसलिए मौज से जीना और सम्मानपूर्वक मरना चाहिए। उसके लेखन ने फ्रांसीसी भाषा और साहित्य को भावी उत्कर्ष के लिए तैयार किया। 'मोलिएर', 'रासीन' और 'कारनई' के नाटकों तक फ्रांसीसी यूरोप के भाषा साहित्य में विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो गई।

इंग्लैंड में चौसर ने जब लोककथाओं (कैंटरबरी टेल्स) को साहित्य का आवरण पहनाया तो अंगरेजी भाषा पनपने लगी। धीरे धीरे उसमें कविता, नाटक, निबंध और वैचारिक रचनाएं प्रस्तुत होने लगीं और सोलहवीं शताब्दी के अंत तक अंगरेजी एक प्रतिष्ठित और सशक्त भाषा बन गई। टामस मोर ने 'यूटोपिया' में वर्तमान को भविष्य की ओर उन्मुख किया। फ्रांसिस बेकन ने 'शुद्ध मस्तिष्क' (प्योर माइंड) के वैभव से अंगरेजी को संवारा। उसकी पुस्तक 'ज्ञान की प्रगति' (ऐडवांसमेंट आफ लर्निग) बौद्धिकता के अतिरेक का शिकार थी इसलिए बेकन के लेखन को पूरी तरह पुनर्जागरण के लेखन में सम्मिलित नहीं

किया जाता। फिर भी उसने पुनर्जागरण की चेतना को अग्रसर किया। शेक्स-पियर के साहित्य में अंगरेजी भाषा का चरमोत्कर्ष परिलक्षित होता है। उसकी कविताएं और नाटक न केवल भाषा और साहित्य का अलंकार हैं बल्कि उस द्वंद्व को भी प्रस्तुत करती हैं जो सामंती और मध्यवर्गीय समाज के बीच पैदा हो गया था।

इस क्षेत्र में एरासमस के लेखन को प्रतिनिधि लेखन माना जा सकता है। वह पुरातन और नवीन का उतना ही सफल समन्वय था जितना कि पुनर्जागरण। उसे नए काल द्वारा प्रस्तुत सर्वोत्तम आलोचक कहा जाता है। हालैंड के निवासी इस यायावर मानवतावादी ने जितना अपने काल को प्रभावित किया उतना शायद ही किसी ने किया हो। वह भी प्राचीन रोम और यूनान से प्रभावित था लेकिन न तो वह सौंदर्य का उपासक मात्र था, न अध्यात्मवादी और न ही विधर्मी। वह एक सीधा आस्थावान ईसाई था। फिर भी उसकी शिक्षाओं का स्वर और प्रभाव नया था। वह बाइबिल का अनुवाद हर भाषा में करवाना चाहता था ताकि वह सामान्य पाठक तक पहुंचे। 'उसका धर्म सहृदय, उदार और जागरूक कैथोलिक-वाद था।' व्यंग्यात्मक शैली में लिखी उसकी पुस्तक 'मूर्खता की प्रशंसा' (प्रेज आफ फाली) शायद दुनिया की पहली 'बेस्ट सेलर' (खूब बिकने वाली किताब) थी। युद्ध की क्रूरता, प्राचीन शिक्षा पद्धति की अपूर्णता और धार्मिक जीवन के खोखलेपन पर जिस ढंग से उसने व्यंग्य किया उससे उसका हल्कापन नहीं उद्देश्य की गंभीरता प्रकट होती थी। लेकिन वह चर्च में आंतरिक सुधार चाहता था। वह लूथर की तरह विद्रोही नहीं था। प्रख्यात इतिहासकार पी० स्मिथ उसे पूरी तरह नए युग का प्रवर्तक नहीं मानता लेकिन यह निर्विवाद है कि वह यूरोप और चर्च के विवेकपूर्ण संगठन का हिमायती था। इसीलिए उसे 'पहला यूरोपियन' भी कहा जाता है।

इस तरह यूरोप की भाषाओं का साहित्य पुनर्जागरण के प्रभाव में निखरा। उसमें मन और मस्तिष्क दोनों का विस्तार हुआ। उसके स्वरूप और अंतर्वस्तु को व्यापकता मिली और साहित्य चर्च की चारदीवारी से मुक्त होकर घर की बैठक और बाजार के नुक्कड़ पर आने को बेचैन हो गया।

स्थापत्य

यूनान में भवन निर्माण कला का जो विकास हुआ था उसके खंडहर भी उसके वैभव केपर्याप्त प्रमाण हैं। एथेंस में 'पार्थेनान' के गगनचुंबी स्तंभ, 'ओलंपिया' के भग्नावशेष और सारे यूनान में बिखरे मंदिरों और महलों के पत्थर, तथ रोम ही नहीं सारे दक्षिण-पश्चिम यूरोप में रोमन सभ्यता की भग्न यादगार के रूप में फ़ैले 'स्टेडियम' और 'एरीना' आज भी इंजीनियर और स्थापत्यकारों को चकित

करते हैं, प्रेरणा देते हैं। यूनान और रोम की सभ्यताओं के पतन के बाद ऐसा लगता था कि मध्यकाल निर्माण के संबंध में तटस्थ हो गया था। पुनर्जागरण के बाद मध्यकाल के प्रति व्याप्त तिरस्कार के वातावरण में उस काल की उपलब्धियों को जान-बूझकर नकारा गया। तभी तो मध्ययुग की सुंदरतम उपलब्धि गोथिक शैली को बर्बर करार दिया गया। लेकिन तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में बने शार्त्र, कोलोन और पेरिस के गिरजाघर प्रकृति के सौंदर्य के अनुकरण और ऊर्ध्वगामी मानव-कल्पना के उत्कृष्ट प्रमाण के रूप में आज भी मौजूद हैं। लेकिन पुनर्जागरण के स्थापत्य ने 'गोथिक' नहीं 'क्लासिक' शैली से प्रेरणा ली।

इटली के नगरों और चर्च में अपार धन इकट्ठा हो रहा था। धन की अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों में से एक है, भवन निर्माण। भवनों का जब निर्माण शुरू हुआ तो यूनान और रोम के पुराने खंडहरों की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और एक क्लासिकल शैली का प्रारंभ हुआ जो पुनर्जागरण शैली भी कहलाती है। राफेल, माइकेल एंजेलो और पालादियों जैसे कलाकारों के नेतृत्व में जिस संत पीटर गिरजाघर का रोम में निर्माण हुआ उसके स्तंभों और गुंबज की भव्यता और पूरे भवन की योजना की दृष्टि और विस्तार आज भी चकित कर देते हैं। पोप और धनिकों द्वारा इकट्ठा किए गए अपार धन का निर्माण कार्य में भी उपयोग होने से स्थापत्य की बहुत उन्नति हुई। राजाओं और सामंतों ने भी अपने महल बनवाए जिनके कुछ बेमिसाल उदाहरण फ्रांस के लुआर प्रदेश में आज भी सुरक्षित हैं। ये 'शातो', गढ़ जैसे महल, अपनी सजावट के बावजूद कहीं फूहड़ नहीं लगते।

इटली के नगरों के नवधनिक परिवार कला के विशेष संरक्षक थे। जूलियन हक्सले के अनुसार पुनर्जागरण की कला व्यवसाय द्वारा अर्जित नगरों की संपत्ति के कारण ही संभव हो सकी। फ्लोरेंस का मेडिची परिवार विशेषकर कोसिमो और लोरेंजो (लोरेंजो दि मैगनिफिसेंट) और मिलान का स्फोरजास परिवार संरक्षण में प्रमुख था। पंद्रहवी शताब्दी के कुछ पोप भी धर्म से अधिक भवन निर्माण द्वारा अपनी शक्ति और वैभव के प्रदर्शन में रुचि लेते थे। आज के धनवानों की तरह उनकी कला में रुचि प्रदर्शन के लिए अधिक थी। पोप अलेक्जेंडर षष्ठम, जूलियस द्वितीय और लेओ दशम, मेडिची परिवार का था, कला संरक्षक पोप माने जाते हैं।

इटली के नगर विशेषकर फ्लोरेंस, मिलान और कैथोलिक धर्म का केंद्र तथा पोप का निवास स्थान रोम नए गिरजाघरों और महलों के निर्माण से भव्य हो गए। राफेल, ब्रामांत, माइकल एंजेलो और पालादिओन जैसे कलाकारों ने प्राचीन यूनान और रोम की इमारतों से प्रेरणा लेकर, नकल करके नहीं, ऐसे भव्य महल और गिरजाघर बनाए जो आज भी चमत्कृत करते हैं। रोम में संत पीटर का गिरजाघर तत्कालीन स्थापत्य का असाधारण नमूना है। उसके स्तंभ, गुंबज और

सामने का घिरा हुआ चबूतरा वैभव, सौंदर्य और शक्ति का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करते हैं।

यदि संत पीटर का गिरजाघर धार्मिक इमारतों का प्रतिनिधि है तो सामंतों और धनिकों के किलानुमा महल आवासीय भवनों के सुंदर उदाहरण हैं। फ्रांस के लुआर प्रांत में बने ऐसे महल जिन्हें शातो कहते हैं, पुनर्जागरण स्थापत्य के पार्थिव पक्ष के मोहक नमूने हैं। विशेषकर 'आजे ल रिदो' और पेरिस के पास स्थित 'फोंतैब्लो' के शातो एक नए सौंदर्यबोध का प्रदर्शन करते हैं जिसमें संपत्ति की अभिव्यक्ति होते हुए भी आज के नव धनाढ्यों की इमारतों की तरह फूहड़पन नहीं है। इसी क्रम में 'हैटफील्ड और 'क्नोल' की गढ़ियां भी इस स्थापत्य के विस्तार का प्रमाण हैं।

इस प्रकार पुनर्जागरण कालीन स्थापत्यकला की विशेषता है प्राचीन प्रेरणाओं का नवीनीकरण। इसीलिए इस काल की किसी इमारत को किसी प्राचीन इमारत की अनुकृति मात्र नहीं कह सकते यद्यपि उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

मूर्तिकला

स्थापत्य और मूर्तिकलाओं का विकास प्रायः समवेत रूप से हुआ है। चाहे भारत के मंदिर हों या यूरोप के महल, दोनों कलाएं घुली-मिली दिखाई पड़ती हैं। इस काल में लोरेंजो गिबेर्ती, दोनातेल्लो और माइकेल एंज़ेलों जैसे महान मूर्तिकार थे। इन्होंने केवल ईसा या मरियम की नहीं बल्कि समकालीन प्रमुख व्यक्तियों की भी मूर्तियां बनाईं। इन मूर्तियों में एंजेलो द्वारा निर्मित 'डेविड' विश्वविख्यात है। इस काल का मूर्तिकार जितना शौर्य को मूर्त करने में सक्षम था उतना ही करुणा को। इस प्रकार मूर्तिकला भी धर्म के बंधन से मुक्त होकर बृहत्तर संदर्भों से जुड़ी।

दोनातेल्लो ने जब प्रकृति से प्रेरणा लेकर समकालीन व्यक्तियों, विशेपकर बच्चों की सहज मूर्तियां बनाई थीं तो मूर्ति मनुष्य के निकट आने लगी थी। इस परंपरा को रोब्बिआ और वेरोक्लिओ ने और आगे बढ़ाया था। एंजेलो नें अपनी दृष्टि और आदर्श के पुट के साथ मूर्तिकला को यूनान की धरती से इटली के नगरों की यात्रा करा दी और मंजिल भी प्राप्त कर ली।

एंजेलो निर्मित मूसा की मूर्ति मात्र मूसा की मूर्ति नहीं रह गई। ईसाइयों के लिए वह कला का उत्कृष्ट प्रतिमान था, और यहूदियों के लिए मूसा, जिनके पैगंबर थे, वह मूर्ति साक्षात मूसा थी। संत पीटर के गिरजाघर के गुंबद की छांव में आज भी खड़ी ईसा और मरियम की मूर्ति को (इसे, कुछ दिन हुए एक विक्षिप्त व्यक्ति ने तोड़ना चाहा था इसलिए वहां से हटा ली गई है) देखने पर मरियम मां भी लगती है और ईसा की मां भी। सलीब से उतारे घायल ईसा आदमी भी

लगते हैं और पैगंवर भी। जो करुणा व्याप्त होती है इसे देखकर वह यथा नाम तथा गुण का प्रत्यक्ष प्रमाण है क्योंकि मूर्ति का नाम ही करुणा (पिएता) है।

इस तरह पुनर्जागरण काल में बनी मूर्तियां, चाहे अलग से बनी हों या उनसे दीवारों और स्तंभों को सजाया गया हो और वे भवनों का अविभाज्य अंग हों, प्राचीन यूनान के वैभव से पुनर्जागरण काल में विकसित नए सौंदर्यवोध और कलात्मक मूल्यों को जोड़ती हैं।

चित्रकला

पुनर्जागरण काल में सबसे अधिक विकास चित्रकला के क्षेत्र में हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी तक चित्रकला न केवल धार्मिक विषयों तक सीमित थी वरन रंगों और उपकरणों का चुनाव भी सीमित था। उस काल के चित्रों में एक अजीव सी उदासी और एकरसता दिखाई पड़ती है। पुनर्जागरण काल के चित्रकारों ने विषयों का चुनाव सीधे जीवन से किया। उनके विषय ईसा और मरियम भी थे पर वे आदमी को भी चित्रित करते थे। प्लास्टर और लकड़ी के पैनल के स्थान पर कैनवस का इस्तेमाल शुरू हुआ। शोख और चटख रंग वर्जित नहीं रहे। तैलचित्रों की परंपरा शुरू हुई। इस क्षेत्र में यूनान और रोम से प्रेरणा मिलने की गुंजाइश नहीं थी क्योंकि उस समय के चित्र उपलब्ध नहीं थे। इसलिए चित्रकार सर्वथा मौलिक प्रयोग भी कर सके।

लेओनार्दो-दा-विन्ची, माइकेल एंजेलो, राफेल और टिशियन के चित्र आज तक अद्वितीय माने जाते हैं।

लेओनार्दो दा विन्ची : फ्लोरेंस निवासी लेओनार्दो (1452-1519) की प्रतिभा अद्भुत और बहुमुखी थी। वह वैज्ञानिक, गणितज्ञ, इंजीनियर, संगीतकार, दार्शनिक, चित्रकार सब एक साथ था। चित्रों के लिए वह शरीर और उसकी विभिन्न भंगिमाओं और मुद्राओं का विशद अध्ययन करता था। उसके चित्रों में 'लास्ट सपर' और 'मोनालिजा' अनुपम समझे जाते हैं। 'लास्ट सपर' में ईसा मसीह और उनके अनुयायी केवल व्यक्ति नहीं विभिन्न जीवन मूल्यों के प्रतिनिधि लगते हैं। 'मोनालिजा' किसी सुंदरी का चित्र नहीं है। लेकिन उस साधारण सी दिखाई पड़ने वाली महिला की रहस्यमयी मुस्कान का अर्थ दर्शक आज तक अपने अपने ढंग से लगाते रहे हैं। लेओनार्दो जिस संसार को चित्रित करता था उसमें मानवीय भावनाएं अपने सहज और नैसर्गिक रूप में अभिव्यक्त होकर एक सार्वभौमिक सौंदर्य की सृष्टि करती हैं। एडिथ शेल शेक्सपियर की तरह उसे 'पूर्ण मनुष्य' मानता है। जहां शेक्सपियर की निस्सीम जीवंतता का संवंध जीवन से था, लेओनार्दो का वुद्धि से। लगन का वह इतना पक्का था कि कहा करता था : 'जो दो मालिक की सेवा करता है वह न तो अच्छा कलाकार बन सकता है न अच्छा

हमसफर।' उसके लिए कला एक ऐसा समुद्र था जिसमें विज्ञान, अनुभव, ज्ञान, आविष्कार आदि सबकी धाराएं समा जाती हैं। उसकी प्रतिभा विलक्षण थी जो हर जगह विचरण करती थी—हर वस्तु का पर्यवेक्षण करती हुई, कुछ से घृणा, बहुतों से प्यार और अधिकांश पर दया करती हुई।

लेओनार्दो में पुनर्जागरण की बहुमुखी कला उरूज पर दिखाई पड़ती है। महज कला संरक्षक लोरेंजो की छत्रछाया ने उसे विकसित होने का मौका दिया पर उसके अंतिम दिन फ्रांस में बीते जहां उसका निवासस्थान आज भी एक असाधारण संग्रहालय बना हुआ है। उसमें संग्रहीत उसकी वैज्ञानिक कल्पनाओं के माडल उसे बीसवीं शताब्दी का व्यक्ति सिद्ध करते हैं। उसने यंत्रों, हेलिकाप्टर, टैंक, गतिमान पुल आदि की योजना बनाई थी। बस उसे इंधन की गतिदायिनी शक्ति का पता नहीं था वरना उन्नीसवीं शताब्दी दो सौ साल पहले ही चरितार्थ हो जाती। उसकी बनाई मूर्तियां भी अनुपलब्ध हैं लेकिन उसके चित्र और उसका लेखन उसकी विविध और विलक्षण प्रतिभा के पर्याप्त प्रमाण हैं।

प्रकृतिप्रेमी लेओनार्दो आत्मा में उतना ही विश्वास करता था जितना विज्ञान में। इसीलिए तो वह कहता था' बुद्धिमत्ता अनुभव की पुत्री है।' : उसने मानवतावादियों से धैर्य सीखा था लेकिन तथ्य का सम्मान उसे एकदम आधुनिक बना देता है। इसीलिए कुछ लोग उसे विज्ञान के युग का 'पहला आधुनिक व्यक्ति' मानते हैं। वह कला को भी वैज्ञानिक दृष्टि और आधार देता है तभी तो चित्रों के पहले वह 'अनाटमी' का सहारा लेता है। इंग्लैंड के विंडसर पैलेस में संग्रहीत उसके रेखाचित्र उसके गहरे अध्ययन और वैज्ञानिक खोज-दृष्टि के परिचायक हैं। वह सुझाता है, प्रेरित करता है, संतुष्ट करता है (ही सजेस्ट्स, ही प्रोवोक्स, ही सैटिस्फाइज) उसे देश काल में बांधा नहीं जा सकता (ही बिलाग्स टु आल टाइम्स)।

माइकेल एंजेलो : एंजेलो (1475-1564) भी बहुमुखी प्रतिभा का धनी कलाकार था पर विशेष रूप से उसे मूर्तिकार और चित्रकार के रूप में प्रसिद्धि मिली है। उसकी घनीभूत जीवन पीड़ा संघर्ष और कला के प्रति समर्पण की कहानी है। कला में वह इतना डूबा रहता था कि जब मित्र विवाह न करने का कारण पूछते तो वह मजाक में कहता, 'कला अच्छी-खासी पत्नी है। उसके नाते पहले ही काफी झेल रहा हूं दूसरी पत्नी क्या होगी।' व्यक्तिगत जीवन में दुखी और सहानुभूतिहीनता का शिकार माइकेल जीवन भर चित्रों में सुख और शांति ढूंढ़ता रहा। पोप के महल वैटिकन में स्थित 'सिस्टाइन चैपेल' की छत पर उसने बाइबिल की कथाओं—सृष्टि से प्रलय तक को अमर बना दिया। उसका सबसे महान चित्र 'लास्ट जजमेंट' विषय नहीं उसके निरूपण के कारण महान है। परंपरामुक्त उसकी नाटकीय कल्पना, आठ वर्षों की उसकी कमरतोड़ मेहनत, अनेक शारी-

रिक मानसिक यातनाओं का परिणाम है। पोप के महल वैटिकन के एक छोटे से गिरजाघर 'सिस्टाइन चैपेल' की छत आज भी ईसाई विश्वासों पर एक आधुनिक ईसाई के दृष्टिपात का चमत्कार अपनी सारी संपूर्णता और गहराई के साथ प्रस्तुत करती है।

मूर्तिकार, चित्रकार, स्थापत्यकार, इंजीनियर, कवि और सबसे अधिक आदमी माइकेल एंजेलों ने पुनर्जागरण की कला को चरम अभिव्यक्ति दी। उसने अपने परिवेश को महसूस किया, उसे संवारा साथ ही उसने अंतर जगत को भी सम्मान दिया, उसे भी जिया और जीवंत बनाया।

माइकेल से प्रभावित राफेल चित्रों के सौष्ठव और समरूपता में सबसे आगे था। रोम में पोप के महलों की सज्जा में रत राफेल द्वारा निर्मित 'मेडोना' का दिव्य नारीत्व आज भी दर्शक का मन मोह लेता है। उसके द्वारा बनाए भित्ति-चित्र (म्यूरल पेंटिंग) और समकालीन लोगों के चित्र (पोर्ट्रेट) अद्वितीय हैं। टिशियन वेनिस की गरिमा के चित्र बनाता रहा। उसे सम्राट चार्ल्स पंचम का संरक्षण प्राप्त था और उसने चार्ल्स और उसके पुत्र फिलिप के ऐसे चित्र बनाए जो कला ही नहीं इतिहास की अमूल्य निधि हैं।

इटली के बाहर हाल बाइन ने जर्मनी, स्विट्जरलैंड, नीदरलैंडस और इंग्लैंड की यात्राओं के दौरान समकालीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के ऐतिहासिक चित्र बनाए। एरासमस, टामस मोर और इंग्लैंड के शासक हेनरी अष्टम को अमर बनाने में हाल बाइन के चित्रों का भी हाथ है।

इस प्रकार यूरोप का सांस्कृतिक जीवन पंद्रहवीं शताब्दी के बाद वही नहीं रह गया जो तब तक था। विचारों और उनकी अभिव्यक्ति के माध्यमों में इतने परिवर्तन हुए कि प्राचीनता से ली गई प्रेरणा के बावजूद यूरोप का समाज निरंतर नई दिशाओं में आगे बढ़ता गया। धीरे धीरे यह प्रभाव राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में भी दिखाई पड़ने लगा।

राजनीतिक जीवन

पुनर्जागरण के पहले यूरोप का समाज पूर्णतया सामंती था। राजा भी सामंतों की उठापटक में कभी एक तरफ कभी दूसरी तरफ रहने को मजबूर था। नई परिस्थितियों में सामंतवाद के कमजोर पड़ने से मध्यवर्ग का प्रभाव बढ़ा और राजा अपनी शक्ति बढ़ाने में सफल हुए। एक राष्ट्रीय राजतंत्र का विकास शुरू हुआ। फ्रांस में फ्रांसिस प्रथम और हेनरी चतुर्थ तथा इंग्लैंड में हेनरी अष्टम और एलिजाबेथ के शासनकाल में राष्ट्रीयता के आधार पर केंद्रीय शासन मजबूत हुआ और राजा में सारे राष्ट्र की शक्ति को केंद्रित माना जाने लगा। यह विकास--

क्रम में एक महत्वपूर्ण कदम था। मध्यकाल तक का यूरोप सामंती विभाजनों के बावजूद सम्राट और पोप की छत्रछाया में एकता के सूत्र में बंधा हुआ था। पुनर्जागरण के बाद जो राष्ट्रीय राज्य (नेशन स्टेट) जन्मे उनके कारण यूरोप में ऊपर से थोपी हुई एकता के स्थान पर और संगठित छोटी इकाइयों का जन्म हुआ। यद्यपि प्रोटेस्टेंट धर्म के विकास के बावजूद कैथोलिक चर्च और राष्ट्रीयता के उदय के बाद भी पवित्र रोमन साम्राज्य सबसे शक्तिशाली और बड़ी इकाइयों के रूप में बने रहे फिर भी लैटिन के स्थान पर अंगरेजी, फ्रांसीसी, जर्मन और स्पेनिश जैसी भाषाओं के कारण राष्ट्रों का आंतरिक संगठन और इस कारण शक्ति बढ़ने लगी। इस बढ़ती शक्ति के वाहक मध्यवर्ग का महत्व बढ़ने लगा और धीरे धीरे राजसत्ता की हिस्सेदारी में राजा और मध्यवर्ग की परिस्थितिजन्य निकटता भी बढ़ने लगी। सत्ता के संघर्ष में सामंत, राजा और मध्यवर्ग के त्रिकोण में सामंत अकेला पड़ने लगा। यह सच है कि शीघ्र ही स्वयं राजा और मध्यवर्ग के अंतर्विरोध बढ़ने लगे जिसकी परिणति फ्रांस की क्रांति में दिखाई पड़ती है, पर सामंती व्यवस्था के पतन के लिए इन दो तत्वों के बीच की प्रारंभिक निकटता निर्णायक सिद्ध हुई।

पुनर्जागरण ने यूरोप और परोक्ष रूप से सारे विश्व के राजनीतिक जीवन को राज्य की नई अभिधारणा दी और व्यक्ति तथा राज्य के संबंधों के नए आधारों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। व्यक्ति और राष्ट्र की अस्मिता की स्पष्टतर व्याख्या और उनके संबंधों की अधिक संगठित रूपरेखा ने 'आधुनिक राज्य' की नींव डाली है और राजनीतिक संदर्भ में इस आधुनिकता का आधार उन्हीं मूल्यों में निहित था जिनका पुनर्जागरण पोषक सिद्ध हुआ।

सामाजिक जीवन

समाज में कुलीनता का इतना महत्व था कि राजा, सामंत औरा पादरी के अतिरिक्त कोई सम्मान का भागी नहीं समझा जाता था। पुनर्जागरण के साथ साथ नागरिक जीवन का महत्व बढ़ने लगा क्योंकि नगरों में धन था और धन का अर्जन और संग्रह करने वाला मध्यवर्ग भी नगरों में रहता था। मध्यवर्ग को सम्मान पाने के लिए शताब्दियों तक संघर्ष करना पड़ा, पर सोलहवीं शताब्दी से ही समाज में इस वर्ग का महत्व बढ़ना शुरू हो गया। व्यक्ति का महत्व बढ़ने से व्यक्तिवादी चिंतन ने अमूर्त समष्टि, जैसे चर्च, के प्रभाव को चुनौती दी और व्यक्ति पहले की अपेक्षा मुक्ति की जरूरत अधिक महसूस करने लगा। हमेशा से विद्यमान सामाजिक विषमताओं पर अब गौर किया जाने लगा। समाज में तनाव बढ़ने लगा।

मध्यकाल तक सामाजिक जीवन अपेक्षतया सरल था। समाज के आधार

तत्वों में सामंतवाद और चर्च ही प्रधान थे। सामाजिक संबंधों में धन और योग्यता से अधिक निर्णायक भूमिका कुलीनता अदा करती थी। अंधविश्वासों और अंध-आस्थाओं के कारण लोग भाग्यवादी होते थे। सामाजिक चेतना की विडंबना यह थी कि लोग सांसारिक होते हुए भी इहलोक से अधिक परलोक की चिंता करते थे। इसीलिए पादरी राज्य के अधिकारियों से भी अधिक सशक्त होता था। समाज के अंतरविरोध स्पष्ट नहीं थे इसीलिए संघर्षों का स्वरूप भी सतही था।

पुनर्जागरण के साथ समाज में कृषि के साथ व्यवसाय और उद्योग में भी रुचि बढ़ने लगी। धीरे धीरे गांव और खेती का महत्व कम होने लगा। धन के उत्पादन के साधन बढ़ने लगे। समाज में व्यवसायी, बैंकर, उद्योगपति, बुद्धिजीवी और वैज्ञानिक अपनी जगह बनाने लगे। गांवों और किसानों का शोषण बढ़ा ही नहीं, उसके तरीके भी विस्तृत और असह्य होने लगे।

कुल मिलाकर, यह स्पष्ट है कि पुनर्जागरण के साथ सामाजिक मूल्यों और संस्थाओं में मौलिक परिवर्तन होने लगा। इस कारण संतुलन विगड़ने लगा और तनाव भी बढ़ने लगा। आधुनिक समाज की संरचना की ओर निश्चित कदम उठने लगे।

धार्मिक जीवन

पुनर्जागरण का धार्मिक स्वरूप धर्म सुधार आंदोलन के रूप में प्रकट हुआ। उसका विस्तृत अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे। यहां संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि चर्च का एकाधिकार टूटने लगा। जागा हुआ यूरोप का आदमी प्रश्न करने लगा। विवेक और तर्क की कसौटी उसे मिल गई थी और धर्म के पाखंड और वाह्याडंबर, पादरियों और पोप के अनाचार-दुराचार, इस कसौटी पर खरे नहीं उतर सकते थे। फलतः धर्म के क्षेत्र में भी उद्वेलन शुरू हो गया। विरोध हुए और कैथोलिक चर्च में तो सुधार हुए ही, चर्च से टूटकर अलग संप्रदाय भी बनने लगे जो अपेक्षतया अधिक उदार, आडंबरहीन और तर्कसंगत थे।

मध्ययुग में धर्म समाज की धुरी था। पश्चिमी यूरोप कैथोलिक चर्च और पूर्वी यूरोप ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च की छत्रछाया में जीते थे। इस धार्मिक एका-धिकार ने चर्च को यथास्थितिवाद का पूरी तरह पोषक और अनुदार बना दिया था। धर्म के स्वरूप में किसी भी तरह का परिवर्तन चर्च को असह्य था। चर्च की शक्ति कितनी बढ़ गई थी इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ग्यारहवीं शताब्दी में पवित्र रोमन सम्राट हेनरी ने जब पोप ग्रेगोरी के हस्तक्षेप को मानने में आना-कानी की तो उस पर इतना दबाव पड़ा कि उसे आल्प्स पर्वत को सरदी के दिनों में पार करके नंगे पांव पोप से क्षमा मांगने जाना पड़ा था। जब चर्च में पूरी तरह आस्था रखते हुए भी इंग्लैंड में वाइक्लिफ ने और हंगरी में हस ने थोड़े सुधारों

की बात की तो उन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था।

चर्च से प्रारंभिक पोपों की निस्पृहता, सेवाभाव और विद्वत्ता समाप्त हो चुकी थी। विभिन्न संतों के अनुयायी भले हों लेकिन वे अपने को कैथोलिक चर्च के अंतर्गत ही मानते थे। पूरे मध्ययुग में पुरातन धर्म की न तो कोई समयानुकूल व्याख्या की गई और न ही उसमें कोई परिवर्तन किया गया। धीरे धीरे चर्च रूढ़ियों, अंधविश्वासों, भ्रष्टाचार और शोषण का उपकरण बन गया था। इन सबका दवाव समाज पर पड़ता था। राजा और सामंत चर्च से समझौता करके हिस्सेदार बन जाते थे लेकिन सामान्य जन तो केवल स्वीकार कर सकता था।

पुनर्जागरण ने जब विवेक और व्यक्तिवाद की स्थापना की और समाज के सांसारिक दृष्टिकोण को तेज बनाया तो धार्मिक स्थिति की आलोचना पहले शुरू हुई। अगर हम आधुनिक चिंतन परंपरा को देखें तो सबसे पहले चर्च के स्वरूप में परिवर्तन की बात ही स्पष्ट हुई। राज्य की बात तो बाद में उठी। दांते, एरासमस, टामस मोर से वोल्तेयर तक चर्च में परिवर्तन की मांग बढ़ती ही गई। चर्च की यथास्थिति आधुनिक युग के मूल्य के सर्वथा प्रतिकूल थी। अपने भ्रष्ट स्वरूप के कारण ही नहीं बल्कि आर्थिक शोषण के कारण भी परिवर्तन अनिवार्य लगने लगा।

इस नए वातावरण और नए दवावों के कारण ही, तेरहवीं शताब्दी में सुधार की मांग पर मौत मिलती थी और सोलहवीं शताब्दी में विरोध करने पर विरोधी न केवल बच गए बल्कि उन्होंने प्रोटेस्टेंट चर्चों की परंपरा डाली। वाइक्लिफ और हस के जमाने से मार्टिन लूथर और काल्वें तक यह परिवर्तन पुनर्जागरण द्वारा उत्पन्न वातावरण में ही संभव हुआ। इसके बाद समाज पर धर्म का प्रभाव न केवल गौण होता गया बल्कि स्वयं कैथोलिक चर्च में परिवर्तन हुए और प्रोटेस्टेंट चर्च राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनने लगे। इस प्रकार चर्च में स्वरूपगत ही नहीं गुणात्मक परिवर्तन भी हुए।

आर्थिक जीवन

मध्ययुगीन आर्थिक जीवन अपेक्षतया सरल और व्यवस्थित था क्योंकि एक तो आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था, दूसरे आर्थिक संबंधों की नियोजक संस्थाएं कम थीं। मुख्य रूप से 'गिल्ड' विभिन्न कामगारों और कारीगरों को संगठित और निर्देशित करती थीं। इनका संगठन, अत्यंत कठोर था। इनको चलाने वाले अनुयाइयों के हितों की अपेक्षा अपने हितों का विशेष ध्यान रखते थे। परिणाम यह हुआ था कि विभिन्न गिल्डों के बीच तो स्पर्धा होती ही थी, एक ही गिल्ड में तरह तरह के वैमनस्य पैदा होते थे। प्रारंभ में यह संस्था व्यवसाय के हितों की रक्षा भले ही कर पाती रही हो, बाद में तो वह एक बोझ बन गई थी

और आर्थिक जीवन के विकास का मार्ग अवरुद्ध करती थी।

तेरहवीं शताब्दी के बाद यात्राएं, व्यवसाय और जटिलताएं बढ़ने लगीं। आर्थिक जीवन में उत्पादन और विवरण दोनों के स्वरूप बदलने लगे। व्यक्ति और समाज के परस्पर हित सामान्य नहीं रह गए। हितों की टकराहट स्पष्ट होने लगी। जीवन में बाजार छाने लगा। पुनर्जागरण के साथ स्थितियां घनीभूत होकर सामने आने लगीं। आज यह निर्विवाद है कि समाज की आधार व्यवस्था आर्थिक ही है। यह स्थिति पुनर्जागरण के बाद ही संभव हुई।

आर्थिक जीवन का आधार कृषि, उद्योग और व्यापार होता है। पंद्रहवीं शताब्दी आते आते उत्पादन के साधन बदलने लगे। व्यापार का क्षेत्र बढ़ा। साधन बढ़े और परिमाण भी बढ़ा। उथल-पुथल मच गई। लोग नगरों की ओर आकर्षित हुए। धन संचय हुआ और स्टाक कंपनियों एवं बैंकों का जन्म हुआ। पूंजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात हो गया। उत्पादन के बढ़ने से साधन जुटाना अनिवार्य हो गया और श्रम की खरीद शुरू हो गई। पहले की तरह व्यापार सरल नहीं रह गया। नियम और कानूनों की जरूरत पड़ी और राज्य का हस्तक्षेप शुरू हो गया। राज्य और धनिकों के निकट आने से श्रमिक अपने को अरक्षित महसूस करने लगा। बाजार की गतिविधियां राजनीति और सामान्य जन के जीवन से जुड़ गईं। बाजारों की आवश्यकता ने उपनिवेशों का महत्व बढ़ा दिया और बाद को उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ। कुल मिला कर यह कह सकते हैं कि आर्थिक जीवन जटिलतर होने लगा। उत्पादन बढ़ने से समाज में धन की वृद्धि तो हुई पर विवरण समान न होने से आर्थिक विषमता और बढ़ी। इसी कारण असंतोष की भी शुरुआत हुई।

इस प्रकार पुनर्जागरण की अभिव्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत स्पष्ट रूप में हुई। मनुष्य के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया वह राजनीति से बाजार और बाजार से व्यक्ति के अपने जीवन तक हर जगह दिखाई पड़ने लगा। इन अर्थों में पुनर्जागरण एक क्रमिक विकास का परिणाम भले ही हो पर उसके प्रभावक्षेत्र और परिवर्तन की गहराई को देखते हुए उसके महत्व को क्रांतिकारी करार दिया जा सकता है।

पुनर्जागरण का प्रसार

पुनर्जागरण के लिए सबसे अनुकूल स्थितियां इटली में मौजूद थीं। इसलिए सूत्रपात इटली में ही हुआ लेकिन सारे पश्चिमी यूरोप के विकास की गति कमोवेश एक जैसी थी। फलतः धीरे धीरे फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैंड में भी इटली में हुए परिवर्तनों का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। 'नई विद्या' का प्रसार हुआ तो अन्य देशों में भी नए ढंग की शिक्षण संस्थाएं खुलने लगीं। इस क्षेत्र में पेरिस में स्थापित

'कालेज द फ्रांस' का स्थान उल्लेखनीय है। फ्रांस का शासक फ्रांसिस प्रथम अपनी युद्धयात्राओं के समय इटली में हुए परिवर्तनों को देख चुका था। उसने लेखकों और कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया। पेरिस में विलियम बूदे के सहयोग से प्राचीन यूनान और रोम का अध्ययन शुरू हुआ। लुआर क्षेत्र में नई कला के उदाहरण 'शातो' के रूप में स्थापित होने लगे। लोगों, विशेषकर धनिकवर्ग के आचार-व्यवहार में इटली के नागरिकों का प्रभाव बढ़ने लगा।

एरासमस जो अपनी यात्राओं और सम्मान के कारण 'अंतर्राष्ट्रीय नागरिक' बन चुका था, सारे पश्चिमी यूरोप में अपने विचारों का प्रचार करने में सफल हुआ। उसके व्यंग्य बहुत प्रभावशाली होते थे और उनमें चर्च तथा विकृत समाज की बुराइयां साफ साफ सामने आ जाती थीं।

इंग्लैंड में जान कालेट और टामस मोर ने विकासोन्मुख अंगरेजी भाषा के माध्यम से एक जागृति पैदा की। एलिजाबेथ के शासनकाल में इंग्लैंड के जीवन का हर पक्ष पुनर्जागरण से प्रभावित हो चला था।

जर्मनी सैंकड़ों राज्यों में बंटा होने के कारण राजनीतिक रूप से विघटित था किंतु सांस्कृतिक एकता का आधार जर्मन भाषा में विद्यमान था। व्यूखलिन और मेलांकथन के विचारों ने त्रस्त जर्मन जनता को उद्वेलित किया। मार्टिन लूथर पुनर्जागरण की नई चेतना को धर्म सुधार आंदोलन का रूप प्रदान करने में सफल हो गया।

पश्चिमी यूरोप की विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं, विशेषकर फ्रांसीसी और अंगरेजी का अभूतपूर्व विकास हुआ। इन भाषाओं में कविता और नाटकों के क्षेत्र में सार्वकालिक रचनाएं लिखी गईं। मार्टिन लूथर ने जर्मन भाषा को इस तरह गढ़ा कि उसका बाइबिल का जर्मन अनुवाद अत्यंत लोकप्रिय हुआ और बाद के प्रसिद्ध कवियों शिलर और गेटे का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्पेनिश भाषा में भी सरवैंटीज ने 'डॉन क्विकजाट' नामक एक 'क्लासिक' की रचना की। इस प्रकार साहित्य और विचारों के क्षेत्र में सोलहवीं शताब्दी से ऐसा विकासक्रम शुरू हुआ जो अभूतपूर्व था। दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में मुक्ति की ओर उन्मुख मानव ने अपनी जिज्ञासा और विवेक के सहारे प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन शुरू किया और वह निरंतर शक्तिमान होता गया। विविध कलाओं के क्षेत्र में नए सौंदर्य-बोध और नए माध्यमों के सहारे सौंदर्य का ऐसा संसार रचा जाने लगा जिसके प्रमाण बर्लिन, बान, लंदन, पेरिस और बाल के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। पश्चिमी यूरोप के विभिन्न नगरों में पुनर्जागरण शैली में निर्मित भवन आज भी उस शैली की गरिमा की याद दिलाते हैं। कलाओं के क्षेत्र में जो प्रसार हुआ उसका यह भी प्रमाण है कि लेओनार्दो के अधिकांश स्केच और अभ्यास चित्र इंग्लैंड के राजप्रसाद में सुरक्षित हैं। उसके अंतिम निवास, फ्रांस के लुआर प्रदेश में स्थित महल, में

उसकी वैज्ञानिक प्रतिभा के उदाहरण टैंकों, हवाई जहाजों, क्रेन जैसे अनेक यंत्रों के माडेल सुरक्षित हैं और उसकी 'मोनालिजा' आज भी पेरिस के 'लूज' संग्रहालय का सबसे चर्चित आकर्षण है।

अंत में हम पुनर्जागरण के महत्व का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्राचीन प्रेरणाओं पर आधारित एक ऐसा नया प्रयोग शुरू हुआ जो सामंजस्य भी कर सका और नितांत मौलिक दिशाएं भी ढूंढ़ सका। यूनान और रोम की सभ्यताएं ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के पहले की थीं और बारह सौ वर्षों में ईसाई धर्म ने यूरोप में एक ऐसा केंद्रित किंतु व्यापक प्रभाव स्थापित कर लिया था कि उससे इतर कुछ भी मान्य नहीं था। यूनान की गरिमा अरब विद्वानों ने संजोकर रखी, नहीं तो यूरोप से तो वह गुम ही हो चुकी थी। धर्म की घुटन से ऊबकर जब लोगों ने हाथ-पैर चलाए तो यूनान से आती हवा उन्हें ताजगी से भर गई। फिर तो ऐसी स्फूर्ति आई कि पहले इटली फिर पूरा पश्चिमी यूरोप यूनान और रोम की सभ्यताओं का वारिस बन बैठा।

मनुष्य के सामाजिक मूल्य की पुनर्प्रतिष्ठा शुरू हुई और भौगोलिक अन्वेषणों ने अमरीका के रूप में नई दुनिया का तो पता दिया ही, स्वयं पुरानी दुनिया में एक नई दुनिया की रचना शुरू हुई। मानव मस्तिष्क की अपरिमित संभावनाओं का पता चलने लगा और मनुष्य की शक्ति को उसकी वैज्ञानिक विजयों ने बढ़ाना शुरू किया। उस समय मनुष्य में जिस आत्मविश्वास, ज्ञान की प्यास और प्रगति के प्रति आकर्षण का सूत्रपात हुआ उसीने उससे बाद के सारे संघर्ष करवाए।

यों तो ईसाई धर्म में लार्ड और सीजर के क्षेत्र अलग अलग माने गए हैं। चर्च और राज्य के बीच पृथकता की कल्पना की गई है। लेकिन व्यवहार में पंद्रहवीं शताब्दी तक धर्म और राजनीति की ऐसी खिचड़ी पकने लगी थी कि सारा समाज विषाक्त हो गया था। पुनर्जागरण के बाद न केवल कैथोलिक चर्च का एकाधिकार टूटा और अधिक आडंबरहीन एवं सरल संप्रदायों का प्रारंभ हुआ बल्कि अंततोगत्वा वास्तव में राज्य और धर्म के बीच लक्ष्मण रेखा खींची जाने लगी।

धर्म की पकड़ से मुक्त और विवेक तथा विज्ञान से लैस नया जीवनदर्शन मनुष्य और उसके परिवेश को समझने और निरंतर प्रगति की ओर बढ़ने के लिए यथास्थिति में परिवर्तन की तैयारी में लगे रहने की प्रेरणा देने लगा। और इस प्रकार एक बार फिर यूरोप पुनर्जागरण के बाद उन कार्यकलापों का केंद्र बन गया जिनके आधार पर आनेवाली चार शताब्दियों का इतिहास बनने वाला था।

3

धार्मिक उथल-पुथल

पुनर्जागरण से पहले यूरोप पर कैथोलिक चर्च का एक छत्र साम्राज्य था। यूरोप को ईसा का राज्य क्रिस्चियडम कहा जाता था। चर्च एक और अविभाज्य था। व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही चर्च की शरण पाता था और उसका जीवन-मरण चर्च के बाहर संभव नहीं था। चर्च का संगठन बहुत मजबूत था। रोम से यूरोप के सुदूर गांवों तक एक ऐसा तंत्र फैला हुआ था कि कोई व्यक्ति चर्च का विरोध नहीं कर सकता था। जैसे राजकीय कर अनिवार्य थे वैसे ही चर्च के कर भी। इस प्रकार अनिवार्यतः चर्च की शरण में रहता हुआ यूरोप का व्यक्ति अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन में हर पल चर्च पर निर्भर था और जानता था कि उसका उद्धार भी चर्च की कृपा से ही होगा। वह पाप करता तो चर्च में प्रायश्चित का विधान था। मरने से पहले चर्च उसे आश्वस्त करता था कि चर्च उसे अगली यात्रा में भी मदद देगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सारा समाज धर्म केंद्रित, धर्म प्रेरित और धर्म नियंत्रित था। सम्राटों को भी पोप के आगे घुटने टेकने पड़ते थे।

लेकिन सोलहवीं शताब्दी आते आते यह एकाधिकार टूटने लगा। प्रश्न उठने लगे और जब उत्तर नहीं मिला तो चर्च के भ्रष्ट तंत्र का विरोध और बढ़ा। पुनर्जागरण ने जो चेतना पैदा की थी वह सहज ही झुलावे में नहीं आ सकती थी। पोप से लेकर गांव के पादरी तक का जीवन कितना भ्रष्ट था, यह किसी से छिपा नहीं रह गया था। आर्थिक शोषण अपनी चरम सीमा पर था। बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना कोई भी एकाधिकार स्वीकारने को तैयार नहीं थी, चाहे वह सम्राट का हो या चर्च का। ऐसे में जर्मनी में मार्टिन लूथर का प्रादुर्भाव हुआ और कैथोलिक चर्च की नीवें हिल गईं। एकाधिकार टूट गया और सोलहवीं शताब्दी के समाप्त होते होते यूरोप में अनेक विद्रोही संप्रदाय कायम हो गए। एक ही ईसा मसीह और एक ही बाइबिल में विश्वास रखने वाले, सिद्धांत और आचार-व्यवहार के आधार पर चर्च का विरोध करने वाले, कई सुधारक पैदा हुए और आखिर में कैथोलिक चर्च को भी अपना तंत्र सुधारने पर मजबूर होना पड़ा। यह सब कैसा हुआ?

धर्मसुधार क्यों शुरू हुआ

कैथोलिक चर्च के प्रसार में ईसाई धर्म की सादगी, सेवा भाव और प्रारंभ के संतों, जैसे संत पीटर, के आचरण का बहुत बड़ा हाथ था। धीरे धीरे चर्च के अनुयायी अपने आस पास के लोगों को प्रभावित करने में सफल हो गए। चाहे वह गांव का पादरी हो या जीवन भर के लिए चुना गया पोप, वह समाज के लिए आदर्श प्रस्तुत करता था। व्यक्ति को सलाह, सांत्वना और आशीर्वाद देता था। मनुष्य क्यों पैदा किया गया, मनुष्य और ईश्वर के क्या संबंध हों और मृत्यु के बाद मनुष्य का भविष्य जैसे विषयों की चर्च शास्त्रीय व्याख्या करता था। विभिन्न संस्कारों के माध्यम से जीवन में हर पल चर्च की उपस्थिति बनी रहती थी। संक्षेप में, चर्च व्यक्ति के लौकिक जीवन को अनुशासित करने, एक नैतिक जीवन बिताने और अंत में साहसपूर्ण जीवन के साहसपूर्ण अंत के लिए तैयार करता था। मध्ययुग के सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन में चर्च की यह भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी।

चर्च का विधान ऐसा था कि कई तरह के अधिकारी अपने अपने क्षेत्र में निश्चित नियमों के आधार पर अपना कार्य करते थे। कभी कभी साधारण सभाएं होती थीं जिनमें विचार विमर्श होता था। लेकिन व्यवस्था को प्रजातांत्रिक स्वरूप देने के प्रयास विफल हो चुके थे। पोप अपने अधिकारों पर कोई अंकुश स्वीकार करने को तैयार नहीं था। फलतः पूरा चर्च एक राजतंत्र की तरह कार्य करता था जिसमें पोप की सत्ता सर्वोच्च थी और समझा जाता था कि वह कभी कोई गलती नहीं कर सकता पोप इज इनफालिएबल।

नस्सीम आस्था के कारण यह सब तर्कसंगत लगता था और जनता बिना किसी शंका के पूरी व्यवस्था को स्वीकार करती थी। जब कभी कोई विरोध होता भी था तो छुटपुट, व्यक्तिगत स्तर पर और उसे फौरन दबा दिया जाता था। चौदहवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में इंग्लैंड में जॉन विक्लिफ की आलोचना को दबा दिया गया और बोहेमिया में जनॉ हस के विरोध करने पर उसे जिंदा जला दिया गया। इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि चर्च की बुराइयों की ओर लोगों की नजर पड़ने लगी थी।

पोप अब न केवल राजनीति में रुचि लेने लगे थे, वे बाकायदा यूरोप की राजनीति के एक निर्णायक तत्व बन चुके थे। व्यक्तिगत जीवन में भी वे एक संपन्न गृहस्थ का जीवन बिताते थे। बाइबिल ने कहा था कि 'ऊंट का सुई के छेद से निकलना आसान है पर किसी धनिक का स्वर्ग पहुंचना मुश्किल है।' पर उसी बाइबिल के सर्वोच्च व्याख्याता राजप्रसादों में रहते थे और पुनर्जागरण शैली के विभिन्न निर्माणों के सबसे बड़े संरक्षक थे। व्यक्तिगत जीवन में ब्रह्मचारी और

संत की तरह जीने के स्थान पर तरह तरह के अनाचार करते थे। अलेक्जेंडर VI (1492-1503) न केवल चरित्रभ्रष्ट था, वल्कि निर्लज्ज होकर अपनी नाजायज संतानों को जीवन में आगे वढ़ाने के लिए हर तरह के प्रयत्न करता था। जूलियस द्वितीय (1505-1513) योग्य होते हुए भी केवल सैनिक कार्यों में दिलचस्पी लेता था और पोप को सैनिक योग्यता के लिए कौन श्रेय देगा ? लेओ X (1513-1529) एक धनकुवेर का पुत्र था और पुनर्जागरण काल की विद्या और कला का संरक्षक था। पर वह अपनी शाहखर्ची के कारण तरह तरह के आर्थिक भ्रष्टाचार करता था। यह हाल था उनका जो चर्च के लिए, समाज के लिए, आदर्श थे जिन्हें धरती पर ईश्वर की छाया समझा जाता था !

यह भ्रष्टाचार सारे चर्च में व्याप्त था। चर्च का कोई भी पद विक सकता था। सारा तंत्र विलासिता का शिकार था। लेकिन जकड़ इतनी मजवूत थी कि अब छुप कर नहीं खुले आम निर्धारित नियम-अनुशासन का उल्लंघन होता था और कोई जुवान तक नहीं हिला सकता था। पंद्रहवीं शताब्दी में ही एक कार्डिनल ने स्पष्ट रूप से कह दिया था, 'हमारे विरुद्ध जनमानस में जहर भरता जा रहा है। जो थोड़ा वहुत सम्मान वचा है वह भी नष्ट हो जाएगा और इसकी सारी जिम्मेदारी चर्च के अधिकारियों की होगी।' पर किसे फुरसत थी कि इन वातों पर ध्यान दे ?

चर्च में फैले भ्रष्टाचार का सीधा संवंध जनता के आर्थिक शोषण से था। शुरू में समाज को समर्पित चर्च के व्यक्तियों के लिए हर व्यक्ति द्वारा दान की व्यवस्था थी। चर्च की शक्ति वढ़ी तो यह दान अनिवार्य कर वन गया और हर व्यक्ति को अपनी आय का दशमांश चर्च को देना पड़ता था। एक तरफ चर्च की सेवा कम होने लगी दूसरी ओर आवश्यकता अनुसार कर वढ़ने लगे। निश्चित कर के अतिरिक्त हर व्यक्ति भेंट उपहार के रूप में चर्च को चढ़ावा देता ही रहता था। जैसे वड़े व्यवसायी पर लगा हुआ कर छन कर अंत में साधारण उपभोक्ता तक आ पहुंचता था, वैसे ही पोप की आवश्यकता या उसकी खुशी के लिए अधिकारियों द्वारा दिया गया धन अंत में जनता का वोझ वन जाता था। इस प्रकार न केवल इस वात के लिए असंतोष था कि चर्च के अधिकारी ऐसी सेवाओं के लिए धन लेते थे जो अनुपलब्ध थीं, इस वात पर भी क्षोभ था कि धन विदेश (रोम) चला जाता था।

शोषण का निकृष्टम रूप क्षमा-पत्रों (इंडल्जेंसेज) की विक्री के समय प्रकट होता था। ईसाई धर्म में प्रायश्चित का वड़ा महत्व था। प्रायश्चित का आधार शायद यह विश्वास है कि एक वार हृदय से अपनी भूल स्वीकार करने पर व्यक्ति वह भूल दुहराएगा नहीं। ऐसी स्थिति में यदि कोई ईसाई किसी पादरी के सामने अपने पाप स्वीकार कर लेता था (कन्फेशन) तो उसे क्षमा योग्य समझा जाता था।

जाहिर था कि क्षमा का सबसे अधिक अधिकार सबसे बड़े अधिकारी पोप को था। वह पूरी तरह क्षमा भी नहीं कर सकता था। केवल वादा कर सकता था कि यदि व्यक्ति वास्तव में प्रायश्चित करे और जीवन को सही कार्यों में लगाए तो उसके पाप पूर्णतः या अंशतः क्षमा किए जा सकते हैं। लेकिन अपने विकृत रूप में क्षमा-पत्र स्वर्ग के टिकट की तरह बेचे जाते थे और एक बार क्षमा-पत्र 'खरीद' लेने के बाद व्यक्ति न केवल पापमुक्त हो जाता था, अपितु यह समझा जाता था कि वह भविष्य में भी गलतियां करे तो क्षमा किया जाएगा। इस प्रकार क्षमा-पत्रों की बिक्री पापपूर्ण व्यवसाय था।

चर्च द्वारा हो रहे आर्थिक शोषण से राजा और धनिक दोनों ही क्षुब्ध थे। विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के कारण शासक वर्ग चर्च द्वारा वसूले गए धन को अपने हिस्से की चोरी समझता था। धनिक लोगों को यह एतराज था कि चर्च का धन उत्पादक नहीं होता। पूंजीवादी व्यवस्था की शुरुआत हो चुकी थी और वह धन बेकार समझा जाने लगा था जो पूंजी बनकर उत्पादन में न लगे। इस प्रकार जनता, व्यापारी, शासक, सभी चर्च की आर्थिक नीति से संतप्त थे।

इस धार्मिक और आर्थिक असंतोष के बीच एक राजनीतिक तत्व महत्वपूर्ण बन गया। पुनर्जागरण के समय में ही राष्ट्रीय जागरण बढ़ने लगा था। अनेक देश राष्ट्रीय राजतंत्र की ओर बढ़ रहे थे। उनके मार्ग में अपनी विराटता के कारण पवित्र रोमन साम्राज्य (होली रोमन एंपायर) और चर्च दोनों व्यवधान थे। चर्च राज्यों के अधिकारों में बराबर हस्तक्षेप करता था और प्रायः पोप की सम्राट से मिलीभगत होती थी। इसलिए चर्च और साम्राज्य का एक साथ विरोध होने लगा था।

यह स्पष्ट हो चुका होगा कि यूरोपीय समाज के हर वर्ग में किसी न किसी कारण असंतोष था। मानववादी विचारकों ने ऐसी पृष्ठभूमि बना दी थी कि विरोध का आसानी से दमन नहीं किया जा सकता था। सोलहवीं शताब्दी में किसी विक्लिफ या हस को सम्राट या पोप आसानी से मरवा नहीं सकता था। स्थिति पूरी तरह अनुकूल थी। बस योग्य नेतृत्व की आवश्यकता थी। वह नेतृत्व प्रदान किया मार्टिन लूथर ने।

मार्टिन लूथर (1483-1546)

लूथर का जन्म जर्मनी के एक किसान परिवार में हुआ था किसानों की शक्ति और सरलता तो उसमें थी ही, उसमें एक प्रकार की जिद और बौद्धिक प्रखरता भी थी। उसके पिता उसे वकील बनाकर घर की प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते थे। गाढ़ी कमाई खर्च करके उसे विश्वविद्यालय भेजा गया। लेकिन कानून की जगह उसने धर्मशास्त्र का अध्ययन शुरू कर दिया। उसका मन उद्वेलित रहने लगा। तरह

तरह की शंकाएं उठने लगीं और शंका, जिज्ञासा, तर्क और विवेक का निकट का संबंध है। फिर भी उसकी आस्था अडिग थी। वह आगस्टीनियन भिक्षुओं में शामिल हो गया और विटेनवर्ग विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हो गया। वहां उसे अध्ययन का और मौका मिला। परंपरा के अनुसार केवल चर्च मनुष्य की मुक्ति की रहा वता सकता था। उसके द्वारा बताए गए कार्य करने से ही मनुष्य का उद्धार हो सकता था। लूथर का विश्वास दृढ़ होता जा रहा था कि केवल आस्था और विश्वास से मुक्ति मिल सकती है। उसने रोम की यात्रा की। अभी तक वह पूरी तरह श्रद्धालु था। रोम पहुंचकर उसे भावोद्रेक हो गया। उसने कहा: 'पवित्र रोम ! शहीदों के खून ने तुम्हें पवित्र बनाया है। मेरे शत शत प्रणाम स्वीकार करो।' लेकिन रोम की यात्रा में उसका मोहभंग अवश्य हुआ होगा जैसाकि हर विवेकपूर्ण तीर्थयात्री का होता है, तीर्थ-स्थानों पर फैले भ्रष्टाचार को देखकर उसे लगने लगा कि केवल माला जपने या वाह्याडंवर से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी बीच एक ऐतिहासिक घटना घटी।

1517 में क्षमा-पत्रों की बिक्री करता हुआ पोप का एक प्रतिनिधि टेटजेल विटेनवर्ग पहुंचा। पोप को संत पीटर के गिरजाघर के लिए रुपयों की आवश्यकता थी। टेटजेल कहता था: 'जैसे ही क्षमा-पत्रों के लिए दिए गए सिक्कों की खनक गूंजती है उस आदमी की आत्मा जिसके लिए धन दिया गया है सीधे स्वर्ग में प्रवेश कर जाती है।' ऐसी बातों पर से विश्वास उठ रहा था। क्षोभ हर ओर व्याप्त था लेकिन मार्टिन लूथर अकेला था जिसने साहस बटोर कर मासूम जनता के साथ किए जा रहे इस मजाक और शोषण का विरोध किया। उसने कहा कि यह धर्म के मूल सिद्धांतों की अवहेलना है। उसने इस तरह की पंचानवे बातें (95 थीसिस) लिखकर एक गिरजाघर के दरवाजे पर चिपका दीं। तहलका मच गया। लोग उमड़-घुमड़ कर उसे देखने और समर्थन करने आने लगे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो तटस्थ थे या घबड़ाए हुए थे इस विरोध-पत्र से। उसकी इस बात से लोग बहुत प्रभावित थे कि 'जिसने प्रायश्चित कर लिया उसे तो ईश्वर पहले ही क्षमा कर देता है। उसे क्षमा-पत्र की क्या आवश्यकता है।' ये बातें पहले लैटिन में लिखी गई थीं। लेकिन शीघ्र ही उनका जर्मन अनुवाद हुआ। और दूर दूर तक उन पर विचार विमर्श शुरू हो गया।

लूथर अभी भी चर्च के अधिकार को खुली चुनौती नहीं दे रहा था। लेकिन पोप ने लूथर के विरोध का महत्व नहीं समझा। उसने उसे भिक्षुओं के बीच तू तू मैं मैं (स्क्वैबल एमंग मौंक्स) कह कर टाल दिया। लेकिन 1519 आते आते बात साफ हो गई। एक कैथोलिक धर्मशास्त्री जान एक से वहस के दौरान उसने साफ साफ कह दिया कि वह नहीं मानता कि पोप और चर्च की साधारण सभा गलतियां नहीं कर सकते। यह चर्च की निरंकुश सत्ता पर उठाया गया प्रश्न था जिसके

परिणाम साधारण नहीं हो सकते थे।

इस बीच उसने तीन पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं। 'जर्मन सामंत वर्ग को संबोधन (ऐन ऐड्रेस टु दि नोबिलटी आफ दि जर्मन नेशन) में उसने चर्च की अपार संपत्ति का वर्णन करते हुए जर्मन शासकों को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होने के लिए प्रेरित किया। उसने साफ साफ कहा कि चर्च के तंत्र में पवित्रता नाम की कोई चीज नहीं है। 'ईश्वर के चर्च की कैद' (आन दि बाबिलोनियन कैप्टिविटी आफ दि चर्च आफ गाड) में उसने पोप और उसकी व्यवस्था पर प्रहार किया। 'मनुष्य की मुक्ति' (आन दि फ्रीडम आफ क्रिस्टियन मैन) में उसने अपने मुक्ति के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और ईश्वर की अनुकंपा पर अटूट विश्वास की प्रतिष्ठा की।

इन पुस्तिकाओं द्वारा उसने चर्च की कमजोरियों पर प्रहार किया, चर्च और सम्राट के विरोधी जर्मन शासकों को निकट लाने का प्रयास किया और कैथोलिक चर्च का एक विकल्प प्रस्तुत किया।

लूथर के कार्यों से पोप बेहद क्षुब्ध था। उसने लूथर को धर्मच्युत कर दिया। पोप की आज्ञा को लूथर ने सबके सामने जलाकर विद्रोह का झंडा ऊंचा रखा। 1529 में वर्म्स में जर्मन राज्यों की सभा में सम्राट ने उसे बुलाया। मित्रों ने उसे समझाया कि वह न जाए। उसकी जान ली जा सकती है पर उसने साहसपूर्ण ढंग से उत्तर दिया, : 'मैं तो जाऊंगा भले ही वहां उतने दुश्मन हों जितनी सामने के घर में खपरैलें।' आखिर वह गया। राजाओं, सामंतों और पादरियों की चमक दमक के बीच खड़े उस विद्रोही भिक्षु से अपनी बातें वापस लेने के लिए कहा गया। उसने कहा कि वह ऐसा कर सकता है यदि उसकी बातें तर्क और प्रमाण द्वारा काट दी जाएं। अंत में उसने कहा : 'मुझे यही कहना था। मैं इसके विपरीत नहीं जा सकता। ईश्वर मेरी रक्षा करेगा।' (हेयर आइ स्टैण्ड, आइ कैन नाट डु अदरवाइज, गाड हेल्प मी) वर्म्स में ही उसकी रचनाओं को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया और उसे कानूनी सुरक्षा से वंचित कर दिया गया। उसके मित्र घबड़ाए हुए थे। उन्होंने उसे सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया। वहां कई वर्षों तक चुपचाप अध्ययन करता रहा। इसी बीच उसने बाइबिल का जर्मन अनुवाद किया जो न केवल अत्यंत लोकप्रिय हुआ बल्कि उसे आज भी जर्मन भाषा और साहित्य के विकासक्रम में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है।

इसी बीच समझौते के प्रयत्न हुए। मानववादी मेलांकथन ने, जो लूथर जैसा उग्र न था, लूथर को समझाने का असफल प्रयत्न किया। उसकी पुस्तक 'लोसाई कम्यून' प्रख्यात इतिहासकार रानके के अनुसार पहली पुस्तक थी जिसमें शताब्दियों बाद केवल बाइबिल को आधार बनाकर धार्मिक व्याख्या की गई थी। मेलांकथन और लूथर के विचारों में साम्य नहीं स्थापित हो पाया। लूथर ने जिन सुधारों की बात की उन्हें जब नहीं माना गया तो उसने विरोध (प्रोटेस्ट) किया। धीरे

पर वास्तव में औपचारिक स्वीकृति उसकी मृत्यु के दस वर्षों बाद ही मिल पाई।

आग्सवर्ग की संधि

जीवन भर संघर्षरत सम्राट चार्ल्स ने थक कर राज्य का परित्याग कर दिया। उसके भाई फर्डिनेंड ने ही अंत में प्रोटेस्टेंट लोगों से समझौते की नीति अपनाई। 1555 में आग्सवर्ग नामक स्थान पर जर्मन शासकों की सभा (Diet) में एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। संधि के अनुसार: 1. हर शासक को (जनता को नहीं) अपना और अपनी प्रजा का धर्म चुनने की स्वतंत्रता दे दी गई। इस सिद्धांत को लैटिन भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया गया: सुजुस रेगियो एजुस रेलिजिओ। 2. 1552 के पहले प्रोटेस्टेंट लोगों ने चर्च की जो जायदाद अपने अधिकार में ले ली थी वह उनकी मान ली गई। 3. लूथरवाद के अतिरिक्त अन्य किसी वाद को मान्यता नहीं दी गई। 4. कैथोलिक क्षेत्रों में बसने वाले लूथरवादियों को अपना विश्वास छोड़ने पर मजबूर नहीं किया गया। 5. अंत में, धार्मिक आरक्षण के सिद्धांत के अनुसार प्रोटेस्टेंट बनने पर कैथोलिक बिशपों को अपना स्थान छोड़ना जरूरी हो गया।

इन शर्तों ने एक हद तक धार्मिक संघर्ष को सुलझाया पर बहुत त्रुटिपूर्ण ढंग से। संधि में व्यक्ति को नहीं शासक को धार्मिक स्वतंत्रता दी गई थी जो बहुत दिनों तक मान्य नहीं हो सकती थी। फिर केवल लूथरवाद की मान्यता पक्षपातपूर्ण और गलत थी क्योंकि ज्विंग्ली और काल्वैं के अनुयायियों को भी वही अधिकार मिलना चाहिए था। संपत्ति संबंधी निर्णय भी अव्य वहारिक और सैद्धांतिक दृष्टि से गलत था और कैथोलिक लोगों के साथ पक्षपात बरता गया था। परिणाम यह हुआ कि आग्सवर्ग की संधि धार्मिक कलह का निवारण नहीं कर सकी और अंतिम फैसला करीब एक सौ वर्ष बाद वेस्टफेलिया की संधि द्वारा संपन्न हुआ।

ज्विंग्ली (1484-1531)

कैथोलिक चर्च का विरोध करने वाला मार्टिन लूथर अकेला नहीं था। उसके जीवनकाल ही में स्विट्जरलैंड में ज्विंग्ली एवं पहले फ्रांस फिर जेनेवा में काल्वैं भी नए सिद्धांतों का प्रतिपादन कर रहे थे।

उस समय स्विट्जरलैंड पवित्र रोमन साम्राज्य के अंतर्गत था पर वास्तव में उसके तेरह जिले (कैंटन) स्वतंत्र गणतंत्रों की तरह थे। ज्विंग्ली ने धर्म-ग्रंथों का विशद अध्ययन किया था। वह भी क्षमा-पत्रों का विरोधी था। उसके विरोध ने उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ानी शुरू कर दी। उसने ज्यूरिख को अपना केंद्र बनाया और अपने देश की गणतंत्रात्मक पद्धति के सहारे धर्म को नए ढंग से परि-भाषित करना शुरू किया। उसने हमेशा इस बात पर जोर दिया कि वह लूथरवाद

से अलग एक स्वतंत्र संप्रदाय का प्रवर्तक है। लूथर और ज्विग्ली के बीच संपर्क तो स्थापित हुआ पर मतैक्य न हो सका क्योंकि दोनों की कार्य पद्धति भिन्न थी। 1525 में उसने रोम से अलग होकर एक 'रिफाम्र्ड चर्च' की स्थापना कर ली।

उसके विरोध का राजनीतिक आधार भी था। जैसे नेपाल के गुरखा सैनिक नेपाल की सेना के अलावा भारत और इंग्लैंड की सेनाओं में भरती हो जाते हैं, वैसे ही स्विस सैनिक भी किसी देश की सेना में भरती हो जाते थे। यह स्विट्जरलैंड के लिए अपमान की बात थी। वह जानता था कि इस कार्य में अपने स्वार्थों के लिए चर्च का भी हाथ रहता था। चर्च की व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टता के अलावा पोप की सर्वोच्चता के सिद्धांत ने भी उसे विरोधी बनाया। वह बाइबिल को धर्म का एकमात्र स्रोत मानता था। वह पादरियों के कुआंरेपन का भी विरोधी था। उसने स्वयं विवाह किया और उसके अनुयायी हर तरह से चर्च की अवहेलना करने लगे।

उसका प्रभाव धीरे धीरे ज्यूरिख और बर्न नामक नगरों पर पूरी तरह स्थापित हो गया। लेकिन पिछड़े हुए इलाकों के लोग कट्टर कैथोलिक बने रहे। जब ज्विग्ली ने उन्हें बलपूर्वक अपनी ओर करना चाहा तो स्विटजरलैंड में एक गृहयुद्ध शुरू हो गया। ज्विग्ली स्वयं लड़ता हुआ मारा गया और कैथोलिक शक्तियों की जीत हो गई। अंत में कापेल की संधि द्वारा 1531 में वही निर्णय हुआ जो लूथरवाद के संदर्भ में पच्चीस वर्षों बाद आग्सबर्ग में हुआ, अर्थात धर्म के संबंध में अंतिम अधिकार स्थानीय सरकारों को मिल गया। फलतः आज भी जर्मनी की तरह स्विट्जरलैंड में भी कुछ लोग कैथोलिक हैं और कुछ प्रोटेस्टेंट।

काल्वैं (1509-1564)

यद्यपि धर्मसुधार आंदोलन शुरू करने का श्रेय लूथर को है, काल्वैं पहला सुधारक था जो अटूट विश्वास के साथ एक ऐसा पवित्र संप्रदाय स्थापित करना चाहता था जो किसी देश तक सीमित न रहे और जिसका क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय हो। उसे कुछ अर्थों में लूथर से भी अधिक सफलता मिली।

काल्वैं फ्रांस के नोयों नगर का रहने वाला था और उसके मां-बाप उसे पादरी बनाना चाहते थे। उसने चर्च की छात्रवृत्ति पर पेरिस में धर्म और साहित्य का गहरा अध्ययन किया। लेकिन शायद धर्म की स्थिति देखते हुए उसके पिता ने उसे वकील बनने की सलाह दी और काल्वैं कानून के अध्ययन में रत हो गया। एक दिन उसे जैसे बोध हुआ और उसे लगा कि वह एक निश्चित उद्देश्य लेकर धरती पर आया है। उसे लगा कि वह कैथोलिक चर्च में सुधार नहीं करना चाहता बल्कि वह तो एक अलग ईसाई संप्रदाय की स्थापना करेगा जो सर्वथा पवित्र और कारगर हो।

फ्रांस में चर्च का विरोध शुरू नहीं हुआ था। पर लोग चर्च की कमजोरियों के प्रति सजग तो थे ही। लूथर के प्रशंसक और एकाध अनुयायी भी वन रहे थे। काल्वैं को दृढ़ विश्वास हो गया कि उसे अपने विचार अकाट्य तर्कों के आधार पर रखने होंगे तभी वह कैथोलिक चर्च का सफल विरोध कर सकेगा।

उसने चर्च से संबंध तोड़ लिया और अपने विचार लोगों के सामने रखने शुरू किए। उसकी युवावस्था के बावजूद उसके प्रशंसक तेजी से बढ़ने लगे। उसे एकांत की आवश्यकता थी। वह अध्ययन, चिंतन, मनन करना चाहता था। फ्रांस के शासक फ्रांसिस ने उस पर प्रतिबंध लगाना चाहा। इससे उसकी मदद ही हुई और वह फ्रांस छोड़ कर स्विजट्रलैंड चला गया। वहां वह ज्विंग्ली के संपर्क में आया। वहीं उसने कैथौलिक चर्च के समानांतर प्रोटेस्टेंट चर्च के सिद्धांत प्रतिपादित करने के लिए एक महत्वपूर्ण पुस्तक 'ईसाई धर्म के आधारभूत सिद्धांत' (इन्स्टीट्यूट् आफ क्रिश्चियन रिलिजन) लिखी। पुस्तक फ्रांसिस को समर्पित थी। अभी भी वह फ्रांस लौटना चाहता था और उसे आशा थी कि शायद फ्रांसिस उसके तर्कों से प्रभावित होकर उसकी वात मान ले। फिर तो पूरा फ्रांस उसका अनुयायी हो जाता और उसे अभूतपूर्व सफलता मिल जाती। पर ऐसा हुआ नहीं। फ्रांसिस पर पुस्तक का कोई असर नहीं हुआ। हो सकता है उसने पुस्तक पढ़ी ही न हो।

वहरहाल वह अव तक की सवसे महत्वपूर्ण पुस्तक थी। इतने तर्कपूर्ण और विद्वत्तापूर्वक सिद्धांतों का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया था। उसने ज्विंग्ली और लूथर के विचार लिए थे पर व्याख्या सर्वथा उसकी अपनी थी। पुस्तक तेजी से लोकप्रिय हुई और ऐसा लगा कि शायद सारे चर्च विरोधी इस पुस्तक के आधार पर संगठित हो सकेंगे पर उसमें और लूथर में इतना आधारभूत अंतर था कि ऐसा संभव नहीं हो सका।

1536 में काल्वैं जेनेवा गया। नगर में पहले से ही राजनीतिक और धार्मिक आंदोलन चल रहा था। उसमें अद्भुत संगठन शक्ति थी। उसने नगरवासियों को संगठित किया और उन्हें राजनीतिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता दिलाई। कृतज्ञ लोगों ने उसे नगर का प्रमुख धर्म शिक्षक नियुक्त कर दिया। यहीं से नगर पर उसके निर्बाध और निरंकुश प्रभुत्व का प्रारंभ हुआ।

शीघ्र ही जेनेवा एक धर्मप्रधान नगर राज्य वन गया जिसका काल्वैं सर्वोच्च नेता और नियंता था। चाहे धर्म संबंधी कार्य हो या राजनीतिक तथा प्रशासकीय, उसका निर्णय अंतिम होता था। उसने एक विशुद्ध नैतिकतावादी व्यवस्था कायम की जिसमें मनोरंजन तक को कोई स्थान नहीं था। जरा सी चारित्रिक कमजोरी पर वह कठोर दंड देता था। वह स्वयं एक सादा जीवन बिताता था और नित्य धर्म की शिक्षा देता था। धीरे धीरे सारे यूरोप में उसकी ख्याति बढ़ने लगी और दूर दूर से लोग उसका शिष्यत्व ग्रहण करने आने लगे। उसने बाइबिल का फ्रेंच

अनुवाद करवाया। स्कूल और विद्यालय खुलवाए। जेनेवा विश्वविद्यालय प्रोटेस्टेंट शिक्षा के लिए सारे यूरोप में विख्यात हो गया। वहां से शिक्षा प्राप्त लोगों से वह निरंतर संपर्क बनाए रखता था और पत्रों द्वारा निर्देश देता रहता था। धीरे धीरे प्रोटेस्टेंट लोगों में उसकी वही धाक हो गई जो कैथोलिक लोगों में पोप की थी। उसे 'प्रोटेस्टेंट पोप' कहा जाने लगा।

इतनी सफलता उसे अपने सिद्धांतों एवं अनुशासन के कारण मिली।

उसके सिद्धांतों का आधार ईश्वर की इच्छा की सर्वोच्चता है। ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है। इसलिए मनुष्य की मुक्ति न कर्म से हो सकती है न 'आस्था' से। वह तो बस ईश्वर के 'अनुग्रह' से हो सकती है। मनुष्य के पैदा होते ही यह तय हो जाता है कि उसका उद्धार होगा या नहीं। इसे ही पूर्व नियति का सिद्धांत (डाक्ट्रिन आफ प्रिडेस्टिनेशन) कहते हैं। वैसे देखने पर इससे घोर भाग्य-वादिता बढ़नी चाहिए थी किंतु काल्वैंवाद ने इसके ठीक विपरीत एक उत्साह और दैवी प्रेरणा का संचार किया अपने अनुयायियों में। काल्वैंवादी यह समझ कर कार्य करने लगा कि यह तो उसकी नियति है और वह इससे अलग हो ही नहीं सकता।

उसने बाइबिल पर विश्वास रखा पर चर्च की उसकी कल्पना ऐसी थी कि सभी धर्मपरायण लोगों की वह एक अमूर्त किंतु जीवंत संस्था बन जाए। पर वह व्यक्ति और ईश्वर के बीच कोई माध्यम नहीं बन सकता था। व्यक्ति का ईश्वर से सीधा संबंध हो सकता है। उसने संस्कारों का महत्व और घटा दिया। व्यक्ति के पवित्र आचरण को उसने महत्व दिया।

इसके अतिरिक्त उसने सारा संगठन लोकतांत्रिक ढंग पर किया। यद्यपि धार्मिक संगठन और राज्य अलग अलग थे फिर भी धर्म संबंधी निर्णय साधारण जनता व धर्म के अधिकारियों के प्रतिनिधि मिल-जुल कर लेते थे। उसने प्रौढ़ लोगों (प्रेसबाइटर्स) को बहुत महत्व दिया। इसी कारण एक संप्रदाय का नाम ही प्रेसबिटेरियनिज्म पड़ गया।

नैतिक अनुशासन पर उसने बहुत बल दिया। एक समिति हमेशा लोगों पर नजर रखती थी और तनिक चूक पर कठोर सजा दी जाती थी। आचरण और व्यवहार में काल्वैंवाद के तनिक भी विरुद्ध जाने पर मौत तक की सजा दी जाती थी। इस तरह अपने अनुयायियों के बीच जनतांत्रिक होते हुए भी दूसरों के प्रति काल्वैंवाद असहिष्णु था।

काल्वैं के विचार पहले तो स्विट्जरलैंड के कुछ जिलों में स्वीकार किए गए। उसकी जन्मभूमि फ्रांस में जहां लूथरवाद को कोई सफलता नहीं मिली थी, उसका प्रचार धीरे धीरे बढ़ने लगा। काल्वैंवाद विशेष रूप से मध्य वर्ग में काफी लोक-प्रिय हुआ। फ्रांस में काल्वैं के अनुयायी यूगनों कहलाते थे। संख्या में कम होते हुए

भी इनका प्रभाव अधिक था और कभी कभी तो ये अपने अधिकारों के लिए सशस्त्र संघर्ष तक करते थे। उत्तरी नीदरलैंड्स में बहुमत काल्वैंवादी हो गए और वहां एक नए संप्रदाय (डचरिफाक्ड रिलिजन) की स्थापना हुई। लूथर के कार्य क्षेत्र जर्मनी में भी काल्वैंवाद का प्रसार हुआ और अंत में उसे मान्यता भी मिली। पूर्वी यूरोप भी अछूता नहीं बचा। स्काटलैंड में जान नाक्स ने काल्वैंवाद की प्रेरणा से उसी के उदाहरण का अनुकरण करके सारे स्काटलैंड को तमाम संकटों के बावजूद काल्वैंवादी बना दिया। इस तरह सत्रहवीं शताब्दी आते आते अपने कट्टर अनुशासन के कारण काल्वैंवाद सारे यूरोप में फैल गया और कहीं कहीं तो पूरे के पूरे क्षेत्र इसके अनुयायी बन गए।

लूथर और काल्वैं : एक तुलना

दोनों धर्मसुधारकों के व्यक्तित्व, सिद्धांत और कार्य प्रणाली में बहुत अंतर था। दोनों ने करीब करीब एक ही समय कैथोलिक चर्च का विरोध कर अलग संप्रदाय खड़े किए। दोनों ने ईसा मसीह और बाइबिल को पूर्णतः स्वीकार किया और पोप की सत्ता को नकारा। दोनों ने विशेषकर मध्यवर्ग को प्रभावित किया। दोनों ने आडंबर का विरोध किया लेकिन उनके सुधार के तरीके सर्वथा भिन्न थे।

लूथर एक जर्मन किसान बना रहा और चर्च को बिना पूरी तरह नकारे जर्मनी के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर थोड़े से परिवर्तन करके संतुष्ट रहा। काल्वैं एक सुसंस्कृत फ्रांसीसी था। उसने सूक्ष्म अध्ययन के बाद अपने धर्म के सभी अनुयायियों का अंतर्राष्ट्रीय और मूलतः भिन्न संगठन बनाया। लूथर राजा और धर्म के बीच स्पष्ट रेखा नहीं खींच सका लेकिन काल्वैं दोनों के कार्यक्षेत्रों में स्पष्ट विभाजन करता था। लूथर ने तीन संस्कारों को माना और वह चमत्कारों को प्रतीक के रूप में स्वीकार करने को तैयार था। काल्वैं ने केवल दो संस्कार माने और चमत्कारों को बिल्कुल नकार दिया। लूथर आस्था को मुक्ति का आधार मानता था। काल्वैं के लिए कर्म या आस्था से कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि व्यक्ति की नियति पहले से निश्चित होती है। लूथर ने परंपराओं को किसी हद तक स्वीकार किया लेकिन काल्वैं ने सर्वथा नए ढंग से धर्म की व्याख्या की। लूथर ने धर्म के संगठन के क्षेत्र में कोई सुनियोजित और व्यवस्थित तंत्र नहीं बनाया। राजतंत्रीय व्यवस्था को मानने के कारण राज्य के माध्यम से ही लूथरवाद का प्रचार-प्रसार हुआ। दूसरी ओर काल्वैं पूरी तरह लोकतांत्रिक व्यवस्था को मानता था यद्यपि यह विरोधाभास उसमें मिलता है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी उसकी अपनी निरंकुशता बनी हुई थी। लूथर जर्मन शासकों के प्रभाव से कभी मुक्त नहीं हो सका बल्कि उनके हित में उसने किसानों के दमन का समर्थन किया लेकिन काल्वैं अपेक्षतया राजनीतिक प्रभाव से मुक्त था। लूथर ने अपने

अनुयायियों के चरित्र और आचार-व्यवहार पर विशेष ध्यान नहीं दिया लेकिन काल्वें ने चारित्रिक अनुशासन को अत्यधिक महत्व दिया। कुल मिला कर यह भी कह सकते हैं कि लूथर अपेक्षतया लचीला था जबकि काल्वें बहुत कट्टर था।

और सूक्ष्म विश्लेषण करें तो लगेगा कि कैथोलिक चर्च से सामंतवादी व्यवस्था को बल मिलता था। पुनर्जागरण के बाद जो नई अर्थव्यवस्था जन्मी उसके लिए धर्म जैसी निर्णायक चीज का स्वरूप बदलना आवश्यक हो गया। लूथर और काल्वें ने अपने अपने ढंग से सुधार किए लेकिन उसका लाभ निश्चित रूप से मध्यवर्ग, व्यवसायियों, असंतुष्ट सामंतों और नगर के धनिकों को ही पहुंचा। इस दृष्टि से दोनों में कोई अर्थगत अंतर नहीं था।

आंग्ल धर्म (ऐंग्लिकनिज्म)

इंग्लैंड में प्रोटेस्टेंट चर्च की स्थापना सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में हुई। वहां लूथर, काल्वें या नाक्स जैसा कोई सुधारक नहीं हुआ। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में इंग्लैंड में ट्यूडर वंश का राज्य स्थापित हो चुका था। इंग्लैंड के लोग पूरी तौर पर कैथोलिक थे। लेकिन राष्ट्रीय भावना के उदय से पोप विदेशी लगने लगा था। हर वर्ष रोम को जाने वाला धन भी इंग्लैंड की जनता और शासक को क्षुब्ध करता था। कैथोलिक चर्च की बुराइयां इंग्लैंड में भी व्याप्त थीं। लूथरवाद का प्रसार होते ही उसका प्रभाव इंग्लैंड के बुद्धिजीवियों में, विशेषकर कैंब्रिज और आक्सफोर्ड में, पड़ने लगा था। एरासमस इंग्लैंड में खूब पढ़ा जाता था। अंगरेज मानववादी कोलेट और मोर लगातार सुधार की बात कर रहे थे। राष्ट्रीय स्वाभिमान से ओतप्रोत हेनरी अष्टम कोई भी अंकुश, भले ही वह पोप का ही क्यों न हो, स्वीकार करने को तैयार नहीं था। फिर भी वह पक्का कैथोलिक बना रहा। लूथरवाद का प्रादुर्भाव हुआ तो उसने उसकी आलोचना में एक पुस्तक लिखी—'दि डिफेंस आफ सेवेन सेंक्रामेंट्स' और उसे पोप को भावभीनी भाषा में समर्पित किया। पोप ने प्रसन्न होकर हेनरी को 'धर्मरक्षक' (फिदाई देफेन्सार) की उपाधि दी। यूरोपीय राजनीति में वह पोप का साथ देता था और चर्च के कार्डिनल टामन वूल्जे को अपना प्रमुख सलाहकार मानता था। यह सब होते हुए भी एक ऐसी परिस्थिति आई कि रोम से संबंध विच्छेद हो गया। वह परिस्थिति नितांत व्यक्तिगत थी।

हेनरी ने अपने बड़े भाई की मृत्यु पर उसकी पत्नी कैथरिन को अपनी पत्नी स्वीकार किया था। उनमें धार्मिक पद्धति से विवाह नहीं हुआ था। सम्राट चार्ल्स कैथरिन का भतीजा था। इसलिए कैथरिन का एक विशिष्ट स्थान था। वर्षों तक हेनरी और कैथरिन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहे और उनके छः संतानें हुईं लेकिन समय के साथ दोनों के संबंध शिथिल होते गए।

कैथरिन उम्र में हेनरी से बड़ी थी। आत्मकेंद्रित होने के साथ ही वह धर्मपरायण और परंपरावादी थी। इसके विपरीत हेनरी एक खुशमिजाज, जीवन में रुचि लेने वाला उच्छृंखल व्यक्ति था। दोनों के स्वभाव की विपरीतता वक्त के साथ स्पष्ट हो चली थी। एक कटु सत्य यह भी था कि हेनरी के कोई पुत्र नहीं था और उत्तराधिकार के लिए पुत्र की आकांक्षा होना स्वाभाविक था। यह सब बहुत महत्वपूर्ण नहीं था लेकिन कुछ दिनों से उसे अपनी प्रमुख परिचारिका ऐन बोलीन से प्यार हो गया था। वह उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था। पर यह तभी संभव था जब कैथरिन से संबंध-विच्छेद हो जाता और यह मुश्किल था।

उसने पोप की आज्ञा से ही कैथरिन को पत्नी बनाया था। अब वह चाहता था कि पोप ही उस विवाह को अमान्य कर दे और हेनरी मुक्त हो जाए। पोप हेनरी के लिए यह कर तो सकता था लेकिन पोप क्लीमेंट सप्तम एक पोप द्वारा दी गई आज्ञा को दूसरे पोप द्वारा बदलने का गलत उदाहरण नहीं प्रस्तुत करना चाहता था। दूसरे उसे डर था कि कैथरिन के त्याग को उसका भतीजा सम्राट चार्ल्स कभी पसंद नहीं करेगा। ऐसी स्थिति में उसने टालने की नीति अपनाई। हेनरी ने कार्डिनल वूल्जे के माध्यम से पोप को मनाने की कोशिश की लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। तब हेनरी ने खुलकर विरोध करने का निर्णय किया।

सदियों से पोप के हस्तक्षेप और आर्थिक हानि के कारण असंतुष्ट इंग्लैंड में पोप विरोधी नीति अपनाने में कठिनाई नहीं हुई। सबसे पहले उसने रोम जाने वाले धन पर प्रतिबंध लगा दिया। फिर उसने क्रेनमर को कैंटरबरी का बिशप बनाया और उससे अपने और कैथरिन के संबंध विच्छेद की आज्ञा घोषित करवाई और ऐन बोलीन से विवाह कर लिया। पोप के लिए भी अब निर्णय लेना अनिवार्य हो गया। उसने हेनरी को धर्मच्युत घोषित कर दिया।

अब औपचारिक रूप से इंग्लैंड और रोम की पृथकता की पृष्ठभूमि बन गई थी। हेनरी की राय से पार्लियामेंट ने कई कानून पास किए। रोम से विच्छेद को कानूनी रूप प्रदान किया और इंग्लैंड के शासक को इंग्लैंड के चर्च का सर्वोच्च अधिकारी (ओन्ली सुप्रीम हेड आन अर्थ ऑफ दि चर्च आफ इंग्लैंड) घोषित किया। इस कानून का उल्लंघन करने वाले के लिए मौत की सजा निर्धारित की गई।

कैथोलिक चर्च से एक झटके में संबंध टूट गया। जिन उच्च पादरियों को यह स्वीकार्य नहीं हुआ उन्हें मौत की सजा दे दी गई। टामस मोर जैसे व्यक्ति को भी जान से हाथ धोना पड़ा। अनुकूल परिस्थितियां देखकर लूथरवादियों ने अपना प्रभाव बढ़ाना चाहा पर यह उनकी गलती थी। हेनरी रोम से अलग होकर इंग्लैंड का स्वतंत्र कैथोलिक चर्च बनाए रखना चाहता था। लेकिन मठ (मोनास्ट्री) जो चर्च के गढ़ थे और जिनमें अपार धन संचित था, हेनरी की

नजर से बच नहीं सके। उसने इस संस्था का एक प्रकार से अंत कर दिया। उसके समय में आंग्ल चर्च न पूरी तरह कैथोलिक रह सका न प्रोटेस्टेंट।

हेनरी के उत्तराधिकारी युवा एडवर्ड के शासन काल में उसके सलाहकारों ने आंग्ल चर्च को प्रोटेस्टेंट स्वरूप प्रदान किया। सोमरसेट और क्रेनमर ने मिल-कर गिरजाघरों से चित्र और सजावट के सामान हटवा दिए। प्रार्थनाएं लैटिन के स्थान पर अंगरेजी में होने लगीं। क्रेनमर ने 'इंगलिश बुक आफ कामनप्रेयर' नामक पुस्तक प्रकाशित करवाई और प्रसिद्ध 42 सिद्धांतों (फार्टी टू आर्टिकल्स आफ रिलिजन) की घोषणा हुई। इनमें प्रोटेस्टेंट और कुछ हद तक काल्वैंवादी विचारों को स्थापित किया गया। एडवर्ड का संरक्षक सोमरसेट अपना काम पूरा करने में पहले ही षड्यंत्र का शिकार हो गया लेकिन दूसरे संरक्षक नार्थबरलैंड ने उसे पूरा किया। इसी बीच एडवर्ड, जो मानसिक रूप से अस्वस्थ था, मर गया जिससे प्रोटेस्टेंट सुधार की नीति को एक धक्का लगा।

कैथरिन की पुत्री मेरी शासन की उत्तराधिकारी थी। वह अपनी मां की तरह कट्टर कैथोलिक थी। उसने अपने दो पूर्ववर्ती शासकों के कार्यों को पूरी तरह नकार दिया। रोम से फिर संबंध स्थापित हुआ। पार्लियामेंट को अपने पास किए गए कानून बदलने पड़े। पोप की आज्ञा से पहले जैसी स्थिति लाने के लिए न केवल कानून पास किए गए बल्कि नए कानूनों के विरोधियों को जान से हाथ धोना पड़ा। क्रेनमर को जिंदा जला दिया गया। अपनी कैथोलिक प्रवृत्तियों को पुष्ट करने के लिए मेरी ने उस समय के सबसे अधिक कैथोलिक समर्थक शासक स्पेन के फिलिप द्वितीय से विवाह कर लिया। उसका यह कार्य घातक सिद्ध हुआ क्योंकि इंगलैंड की जनता ने इसे राष्ट्रीय अपमान समझा। कानूनों के बावजूद प्रोटेस्टेंट विचारधारा फैलती रही। मेरी निस्संतान मरी और शासन हेनरी तथा ऐन बोलीन की पुत्री एलिजाबेथ के हाथों में आ गया।

एलिजाबेथ बहुत योग्य शासक थी। उसे धर्म से उतना ही लगाव था जितना प्रशासन के लिए आवश्यक हो। इसलिए वह धर्म का इस्तेमाल राजनीतिक हितों के लिए करना चाहती थी। उसे समय की पहचान थी।

उसके शासनकाल में ही आंग्ल धर्म का अंतिम स्वरूप निश्चित हुआ। आंग्ल चर्च की जिसे एपिसकोपल चर्च भी कहते हैं, स्वतंत्रता फिर से स्थापित हुई और क्रेनमर की पुस्तक को संशोधित करके फिर से प्रकाशित किया गया। बयालीस सिद्धांतों को थोड़ा संशोधित करके उनतालीस सिद्धांतों के नाम से फिर लागू किया गया। आंग्ल चर्च को वैधानिक सत्ता प्रदान करने के लिए 'सर्वोच्चता और एकरूपता का कानून' (एक्ट आफ सुपरीमेसी ऐंड यूनिफोरमीटी) पास किया गया।

एलिजाबेथ ने बीच का रास्ता अपनाया। वह इंगलैंड को उग्र प्रोटेस्टेंट नहीं

बनाना चाहती थी। न ही वह कैथोलिक लोगों का अंत करने के पक्ष में थी। राष्ट्रीय चर्च में शामिल न होने पर जुर्माना देना पड़ता था लेकिन उन्हें कोई शारीरिक दंड नहीं दिया जाता था। प्रोटेस्टेंटवाद को धीरे धीरे इंग्लैंड की जनता ने स्वीकार कर लिया। यद्यपि कुछ उग्र प्रोटेस्टेंट, विशुद्धतावादी 'प्युरिटन' और कट्टर कैथोलिक असंतुष्ट ही रहे, लेकिन एलिजाबेथ की योग्यता और दूरदर्शिता की वजह से आंग्ल चर्च स्थाई साबित हुआ। इस प्रकार इंग्लैंड उस धार्मिक उथल-पुथल से बच गया जिसकी चपेट में यूरोप सदियों तक पड़ा रहा। सोलहवीं शताब्दी के अंत तक वहां एक ऐसे राष्ट्रीय चर्च की स्थापना हो गई जो इतिहासकार फिशर के अनुसार प्रशासनिक रूप से 'इरेस्टियन', कर्मकांड में रोमन और धर्मशास्त्रीय संदर्भ में काल्वैंवादी था। यह कहना गलत नहीं होगा कि आंग्ल चर्च का यही मिश्रित स्वरूप उसके स्थायित्व का आधार बन गया।

कैथोलिक चर्च में सुधार

धर्मसुधार आंदोलन के कारणों के दो पक्ष थे। एक सकारात्मक, क्योंकि पुनर्जागरण काल में परिवर्तन की एक सजग आकांक्षा पैदा हुई थी; दूसरा नकारात्मक, क्योंकि कैथोलिक चर्च भ्रष्ट हो गया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि कैथोलिक चर्च में समय के साथ सुधार हुआ होता तो लूथर और काल्वैं जैसे सुधारकों को आसानी से सफलता नहीं मिलती। तेरहवीं शताब्दी से ही जब भी यथास्थिति को बदलने की कहीं से बात उठती तो उसे चुप कर दिया जाता था जैसे विक्लिफ और हस के साथ हुआ। परिवर्तन की इच्छा रखने वाले का चर्च विनाश कर देता था। पुनर्जागरण ने जो वातावरण पैदा किया उसमें कैथोलिक चर्च में सुधार होना ही चाहिए था लेकिन सुविधाजीवी और विलासी पोप हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। तथापि जब लूथर और काल्वैं ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया तो कैथोलिक चर्च के लिए जीवन-मरण, अभी या कभी नहीं, का प्रश्न पैदा हो गया। इस प्रकार एक तरह की मजबूरी में कैथोलिक चर्च में भी सुधार शुरू हुआ। चूंकि यह धर्म सुधार आंदोलन के समानांतर और उसके प्रतिवाद में ही शुरू हुआ था अतः इसे काउंटर रिफार्मेशन कहते हैं।

कैथोलिक चर्च की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि सर्वोच्च नेतृत्व के चरित्र पर ही संदेह हो चला था। लेकिन पाल तृतीय (1534-1549) के समय से पोप न केवल स्वयं अपेक्षतया गुण और आदर्श संपन्न होने लगे, बल्कि अन्य पदों पर भी उपयुक्त और चरित्रवान व्यक्तियों की नियुक्ति होने लगी। योग्य पोपों के क्रम में पाल IV, पायस IV, पायस V, और ग्रेगरी XIII ऐसे पोप हुए जो पूरे चर्च को प्रेरित करने और उपयुक्त नेतृत्व प्रदान करने में सफल हुए। इस तरह आलोचना का बहुत बड़ा कारण समाप्त हो गया। लेकिन बुराई की

जड़ें इतनी गहरी थीं कि इतने से ही काम चलने वाला नहीं था। कुछ अन्य ऐसे कार्य हुए जिन्होंने संगठन को बदला, नई स्फूर्ति पैदा की और आचरण व्यवहार द्वारा नए अनुयायी पैदा किए।

कैथोलिक चर्च को नया जीवन प्रदान करने वालों में इग्नेशियस लोयोला (1491-1556) का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। स्पेन निवासी लोयोला एक बहादुर सैनिक था। युद्ध में आहत लोयोला अध्ययन में जुट गया। उस समय उसे कुछ संतों की जीवनियां पढ़ने को मिलीं। इस अध्ययन ने उसका सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। पेरिस जाकर उसने धर्म का और विशद अध्ययन किया और वह अपना सारा जीवन चर्च को समर्पित कर बैठा। उसने मुसलमानों के बीच मिशनरी कार्य करने के लिए एक संस्था बनाई 'जेसस समाज' (सोसायटी आफ जेसस) जिसके सदस्य जेसूट कहलाने लगे। उसका इरादा था पूरब के देशों में जाने का लेकिन परिस्थितियां अनुकूल नहीं थीं और वह रोम चला गया। वहां पोप पाल III उससे बहुत प्रभावित हुआ और 1540 में उसकी संस्था को चर्च की औपचारिक स्वीकृति मिल गई।

इस संस्था का पूरा संगठन सैनिक आधार पर था। हर सदस्य कठोर अनुशासन में बंधा हुआ था। उसे दीनता, पवित्रता, आज्ञापालन और पोप के प्रति समर्पण की शपथ लेनी पड़ती थी। अपने से ऊपर के अधिकारी की आज्ञा मानना अनिवार्य था। संगठन में एक अंतर्निहित आक्रामकता थी क्योंकि लोयोला जानता था कि चर्च के जीवन-मरण का प्रश्न है। वह अपने अनुयायियों को केवल पवित्र जीवन के लिए नहीं, चर्च की रक्षा और प्रसार के लिए तैयार करता था।

शुरू से ही जेसूट लोगों ने शिक्षा को आधार बना कर शिक्षक के रूप में जो सद्भावना प्राप्त की वह आज भी कायम है। वे युवकों के सीधे संपर्क में आते थे और आसानी से उन्हें प्रभावित कर लेते थे। प्रचार कार्य में भी उनका मुकाबला करना मुश्किल था। शास्त्रों की उनकी तर्कपूर्ण व्याख्या से पादरी लोग भी प्रभावित होते थे। बाद में चल कर तो वे कूटनीतिक सेवाओं में भी कार्य करने लगे। अर्थ यह कि वे जहां जाते थे अपना प्रभाव अवश्य छोड़ते थे।

उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य विदेशों में हुआ। वे बहुत अच्छे मिशनरी थे और दूर दराज के देशों में कैथोलिक चर्च के नए क्षेत्र बनाने में अग्रगामी साबित हुए। अमरीका से चीन तक ऐसे ऐसे क्षेत्रों में वे गए जहां उस देश के निवासियों तक की पहुंच नहीं थी। चर्च का प्रभाव बढ़ाने के लिए राजनीति, कृषि, साहित्य, सेवा, आचार-व्यवहार—हर तरीका अपनाया गया और बहुतेरे ऐसे क्षेत्र बचा लिए गए जो निश्चित रूप से प्रोटेस्टेंट लोगों की चपेट में आ जाते। इटली, पोलैंड, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड हर कहीं उन्होंने कैथोलिक लोगों को आश्वस्त किया,

परिवर्तन के लिए उन्मुख लोगों को रोका और परिवर्तित लोगों को फिर से कैथोलिक बनाया।

इस प्रकार लोयोला और जेसूट लोग कैथोलिक चर्च के लिए वरदान साबित हुए।

इसी समय की चर्च की व्यवस्था में आंतरिक सुधार और पुनर्मूल्यांकन का कार्य भी शुरू हो गया। पंद्रहवीं शताब्दी में कई बार चर्च की साधारण सभा बुला कर विचार विमर्श किया गया था। लेकिन किसी दबाव के अभाव में कोई नतीजा नहीं निकलता था। पर ट्रेंट की सभा ने, जो कुछ अंतराल के साथ 1545 से 1563 तक कार्यरत रही, सदस्यों की उत्कट प्रतिद्वंद्विता के बावजूद चर्च के सिद्धांतों की नए सिरे से परिभाषा और व्याख्या की। टेंट में जैसी सैद्धांतिक एकरूपता स्थापित हुई वह अभूतपूर्व थी। सुधारवादी आंदोलन के कारण यहां समझौतावादी लोग चर्च को एक बनाए रखने के लिए कुछ छूट देने के लिए तैयार थे। लेकिन पोप और जेसूट लोगों ने कड़ा रुख अपनाया और कोई समझौता नहीं हो सका।

यहां दो तरह के कार्य संपन्न हुए : सिद्धांतगत और सुधार संबंधी। चर्च के मूल सिद्धांतों में कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया गया। उल्टे स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया कि बाइबिल की व्याख्या का एकमात्र अधिकार चर्च को है। सातों संस्कार अपरिवर्तनीय माने गए। मुक्ति का आधार चर्च के माध्यम से संपन्न कार्य बताए गए और चमत्कार में आस्था व्यक्त की गई। पोप को चर्च का सर्वोच्च अधिकारी और सर्वमान्य व्याख्याता स्वीकार किया गया। सारांश यह कि सैद्धांतिक दृष्टि से परंपरागत रूप को ही फिर से दोहराया गया।

सुधार के क्षेत्र में चर्च के पदों की बिक्री समाप्त कर दी गई। अधिकारियों को निर्देश दिया गया कि वे अपने कार्य क्षेत्र में रहकर आदर्श जीवन बिताते हुए सुविधाजीवी होने से बचें। पादरियों की उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध किया गया। धर्म की भाषा लैटिन ही रही लेकिन लोकभाषाओं का भी प्रयोग करने की आज्ञा मिल गई। क्षमा-पत्रों की बिक्री रोक दी गई और संस्कार संबंधी कार्यों के लिए पादरियों के आर्थिक लाभ पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अब एक अधिकारी एक ही कार्य कर सकता था।

इन कार्यों से चर्च में आत्मविश्वास जागा। जिन स्पष्ट बुराइयों के कारण चर्च पर प्रहार शुरू हुआ था उनके दूर करने की व्यवस्था होने से चर्च में पुरानी गति लौट आई। सारी व्यवस्था में जो ढीलापन आ गया था वह दूर हो गया। साधारण अनुयायी से मान्य अधिकारी तक सबका जीवनक्रम सुनिश्चित हो गया। यही कारण है कि ट्रेंट की काउंसिल का चर्च के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

यह निर्विवाद है कि परिवर्तन का स्पष्ट आधार उसकी बौद्धिक तैयारी भी

है। पुनर्जागरण की शुरुआत उन पुस्तकों से हुई थी जिन्होंने नई मानसिकता पैदा की थी। लूथर और काल्वैं को भी उनकी पुस्तकों ने ही लोगों तक पहुंचा कर सफल बनाया था। कैथोलिक चर्च सचेत था कि ऐसी पुस्तकें यदि पढ़ी गईं तो चर्च का नुकसान होगा। इसलिए ऐसी पुस्तकों की एक सूची (इंडेक्स) बनाई गई जो पूर्णतः या अंशतः चर्च विरोधी थीं। कुछ पुस्तकों को पूरी तरह निषिद्ध कर दिया गया और कुछ को कुछ अंश निकालकर पढ़ने योग्य समझा गया। यह एक जटिल और सतत निगरानी का कार्य था जिसमें निरंतर परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन आवश्यक था। इस कार्य को करने के लिए चर्च के पास कोई स्थाई तंत्र नहीं था। दूसरे, निषिद्ध पुस्तकें पढ़ने की लालसा मनुष्य की कमजोरी है। इसलिए भी पुस्तकों का पढ़ा जाना कम नहीं हुआ। चर्च की सत्ता बनाए रखने में यह तरीका बहुत कारगर नहीं हुआ।

कैथोलिक चर्च बहुत पहले से राजनीति से जुड़कर चलने का आदी हो गया था। धर्म सुधार का प्रभाव क्षेत्र रोकने, हो सके तो घटाने, के लिए राजनीति की भी शरण ली गई। बारहवीं शताब्दी में ही पोप इन्नोसेंट ने एक धार्मिक न्यायालय (इन्क्वीजिशन) संगठित किया था। तब से जब कभी धर्म विरोधी कार्य होते इस न्यायालय में विरोधियों का फैसला होता और नागरिक अधिकारियों को सजा के कार्यान्वियन की जिम्मेदारी दे दी जाती।

कैथोलिक सुधार के दौर में इस न्यायालय की उपयोगिता समझ में आई और इटली में एक सर्वोच्च न्यायालय स्थापित किया गया जो अन्य कैथोलिक देशों में स्थापित धार्मिक न्यायालयों की अपीलें सुन सकता था। लूथर और काल्वैं के अनुयायियों और ढुलमुल कैथोलिकों को आतंकित करने के लिए इस न्यायालय में मुकदमा चला कर कठोर से कठोर दंड, प्रायः मृत्युदंड दिया जाता था। स्पेन, नीदरलैंड्स और इटली में इस प्रकार के न्यायालयों ने बहुत दमन किए। कुछ शासक ने तो इसका उपयोग राजनैतिक हितों की पूर्ति के लिए भी किया। जब नीदरलैंड्स में विद्रोह हुआ तो फिलिप द्वितीय ने वहां की जनता को सेना ही नहीं धार्मिक न्यायालय के माध्यम से भी नियंत्रित करना चाहा। यह दूसरी बात है कि प्रभाव हुआ।

यह साधन भी सर्वथा अनुपयुक्त था। आतंक का प्रभाव बहुत सीमित होता है। इस न्यायालय ने चर्च को बहुत बदनाम किया। जिस चर्च का आधार दया और सेवा हो उसके न्यायालय उसकी असहिष्णुता का प्रमाण देने लगे और नृशंस अत्याचार के माध्यम बन गए। इस न्यायालय ने विरोध और विद्रोह बढ़ाने में मदद की।

कुल मिला कर कैथोलिक चर्च का सुधार हजारों साल पुरानी व्यवस्था को बचाने में सफल हो गया अन्यथा सुधार की आंधी में सब कुछ बदल जाता। वक्त

रहते कुछ उत्साही पोप चेत गए और जिन लोगों के हितों पर सुधार ने प्रहार किया उन्होंने लोयोला की मदद से अपने को मजबूत किया। ट्रेंट की सभा में पुनर्मूल्यांकन द्वारा जो सफाई हुई उसने विरोध के स्पष्ट मुद्दे समाप्त कर दिए। सबसे बड़ी बात तो यह कि अंदर से जो खोखलापन आ गया था वह नए आत्मविश्वास के कारण दूर हो गया। सोलहवीं शताब्दी के मध्य से कैथोलिक चर्च का जैसे कायाकल्प हो गया और चर्च सुधारवादी दबाव से पूरी तरह मुकाबला करने के लिए सन्नद्ध हो गया। यूरोप में अनुयायियों की दृष्टि से जो क्षति हुई थी वह एशिया और अमरीका में बनाए गए नए अनुयायियों से पूरी हो गई।

सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में जो उथल-पुथल शुरू हुई उसका कारण भौतिक और बौद्धिक परिस्थितियां थीं। हजारों साल से अपनी सीमाओं का अतिक्रमण कर जीवन के हर क्षेत्र को आक्रांत करने वाले चर्च का स्वरूप बदलना अनिवार्य हो गया था। आर्थिक परिस्थितियों ने समाज में नए मुद्दे खड़े कर दिए थे। मध्यवर्ग अस्तित्व में आ चुका था। नगरों का महत्व बढ़ रहा था। सामंतवाद पतनोन्मुख था। मनुष्य विचार करने लगा था। पढ़ना लिखना सुलभ हो चला था। वैज्ञानिक प्रगति प्रारंभ हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में चर्च की सत्ता को ज्यों का त्यों, वह भी तब जबकि वह पूरी तरह विकृत हो चुकी हो, स्वीकार करना असंभव था। इसलिए नए स्वार्थों के लिए नए आंदोलन खड़े हुए। सुधार आंदोलन धर्म के मूल स्वरूप के लिए कोई चुनौती नहीं था। विरोध केवल व्यवहार एवं कार्यान्वयन का था। सैद्धांतिक अंतर भी ईसाई धर्म की मूल व्यवस्था—ईसा मसीह, बाइबिल, मुक्ति आदि बातों को लेकर नहीं था। इसलिए सुधारवादी संप्रदाय केवल धार्मिक कारणों से अलग नहीं हुए। आर्थिक और राजनैतिक हितों ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। इसीलिए तनाव जटिल होता गया और सत्रहवीं शताब्दी में एक भयंकर युद्ध का कारण बना।

रचना और विकास का आधार तनाव, द्वंद्व और संघर्ष होता है। अंतरविरोधों के जन्म लेने और उनके हल होने का क्रम चलता रहता है। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत से ही जो नई स्थितियां, मूल्य और संस्थाएं पैदा हो रही थीं उनकी अभिव्यक्ति अनिवार्यतः संघर्षों में ही होती। इस संघर्ष का सबसे पहला दौर धर्म के क्षेत्र में इसलिए नहीं शुरू हुआ कि वही मुख्य अंतरविरोध था। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि धर्म की ही जकड़ सबसे मजबूत, मूर्त और व्यापक थी। यह तो एक व्यापक संघर्ष का पहला मोर्चा था।

4

तीस वर्षीय युद्ध : धार्मिक कलह का अंत

मनुष्य सभ्यता की दौड़ में रत रहा है, कुशल खिलाड़ी की तरह, लेकिन अच्छे खिलाड़ी की तरह नहीं। वह बराबर ईर्ष्यालु और असहिष्णु बना रहा है। अतः मानवनिर्मित धर्म भी असहिष्णु हो, यह स्वाभाविक था। ईसाई धर्म में शुरू से ही एकांतिकता का प्रभाव रहा है। 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की प्रवृत्ति ने प्रारंभिक काल से ही ईसाइयों की नजरों में यहूदियों को संदिग्ध बना दिया था। आज भी यहूदी पर साधारण ईसाई पूरी तरह विश्वास नहीं करता। फिर यह अलगाव की भावना औरों पर भी लागू होने लगी। जब रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म स्वीकार किया गया तो गैर ईसाइयों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझा जाने लगा। जब राजा और पोप की सांठ-गांठ शुरू हुई तब तो असहिष्णुता और बढ़ गई। मध्ययुग का इतिहास साक्षी है कि धर्म ने किसी मत वैभिन्य को बर्दाश्त नहीं किया। तर्कसंगत बातें भी नहीं मानी गईं। चर्च का सिद्धांत, उसकी व्यवस्था, उसका निर्णय सब कुछ निर्विवाद, अकाट्य और अपरिवर्तनीय था। जुल्म होते रहे और पुनर्जागरण तक चर्च की सत्ता निरंकुश बनी रही।

धर्मसुधार पुनर्जागरण द्वारा उत्पन्न की गई परिस्थिति में ही संभव हुआ। जो वैचारिक परिवर्तन हुए थे उनमें अब परिवर्तन की मांग करनेवाले को सीधे चौराहे पर जला देना संभव नहीं था। चर्च में वह शक्ति भी नहीं रह गई थी। बदली हुई आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में लूथर और काल्वैं जैसे सुधारकों ने अलग अलग संप्रदाय बना लिए थे। ईसा मसीह के अनुयायी एक नहीं अनेक दलों में बंट गए थे। इससे उदारता या सहिष्णुता की भावना बढ़ी नहीं, घटी ही। अगर चर्च के लिए सुधारक 'शैतान' थे तो सुधारकों के लिए पोप 'ईसा विरोधी' था। जो तनाव लूथरवादियों और कैथोलिकों में था वही विभिन्न प्रोटेस्टेंट संप्रदायों में आपस में भी था।

धार्मिक आस्था को लेकर पैदा हुई उथल-पुथल में अनेक तरह के स्वार्थों ने बहती गंगा में हाथ धोना चाहा। सामंतों, राजाओं, धनिकों, व्यवसायियों सबके अपने स्वार्थ थे। कोई अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत करना चाहता था तो कोई

राजनीतिक। विपन्न आम जनता के हितों के विरुद्ध सब एक थे, लेकिन उनके अपने ही स्वार्थों में इतनी टकराहट थी कि तनाव बढ़ता जा रहा था। ऐसी तनाव-पूर्ण स्थिति में यूरोप के प्रमुख राजघरानों की आपसी प्रतिद्वंद्विता भी शामिल हो गई और सोलहवीं शताब्दी समाप्त होते होते संघर्ष अनिवार्य हो गया। फिर संघर्ष इतना भयंकर होगा इसकी किसी को आशा नहीं थी। आखिर कौन से कारण थे जिन्होंने ऐसा युद्ध अनिवार्य कर दिया जो तीस वर्षों तक निरंतर चलता रहा और जिसने पूरे मध्य यूरोप को श्मशान बना दिया ?

कारण

धार्मिक स्थिति का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि एक तरफ कैथोलिक चर्च किसी भी कीमत पर पश्चिमी यूरोप की धार्मिक एकता की पुन:स्थापना के लिए लालायित था। इस दिशा में वह उग्र से उग्र कदम उठाने को तैयार था। दूसरी ओर प्रोटेस्टेंट संप्रदायों के अस्तित्व का प्रश्न था। वे हर तरह से अपनी उपलब्धियां बनाए रखना चाहते थे। आग्सवर्ग की संधि में भावी संघर्ष के बीज मौजूद थे। आग्सवर्ग में केवल लूथरवाद को स्वीकार किया गया था। तबसे कई और संप्रदाय बन चुके थे और काल्वैंवाद तो उससे ज्यादा नहीं तो उतना शक्तिशाली तो था ही। उसकी मान्यता का प्रश्न था।

कैथोलिक चर्च में जब सुधार हुआ और आत्मविश्वास लौटा तब तक यूरोप का एक बहुत बड़ा हिस्सा प्रोटेस्टेंट हो चुका था। कैथोलिक लोग इससे क्षुब्ध थे ही। अब वे किसी कीमत पर प्रोटेस्टेंट प्रभावक्षेत्र बढ़ने देना नहीं चाहते थे और इसीलिए लूथरवाद के अतिरिक्त, जिसे मान्यता मिल चुकी थी, अन्य किसी संप्रदाय को मान्यता नहीं देना चाहते थे। इस पर अन्य संप्रदायों की उग्र प्रतिक्रिया हो, यह स्वाभाविक ही था। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी का अंत होते होते विभिन्न संप्रदायों के गुट बन गए थे। राजनीतिक तनाव के कारण इन गुटों के पारस्परिक संबंध और विषाक्त हो चले थे।

धार्मिक तनाव के पीछे निहित राजनीतिक स्वार्थ काम कर रहे थे। राष्ट्रीय प्रवृत्ति के बढ़ने से सम्राट के अधीन विभिन्न राज्यों में स्वतंत्र होने की इच्छा बढ़ चली थी। राजनीतिक लाभ के लिए धर्म का सहारा जरूरी था। इसलिए एक तरफ सम्राट पोप का समर्थक था तो बहुतेरे राजे और राजकुमार प्रोटेस्टेंट हो गए थे। जहां का बहुमत कैथोलिक था वहां का राजा भी कट्टरतापूर्वक कैथोलिक चर्च का समर्थन अपने राजनीतिक और राष्ट्रीय हितों के लिए कर रहे थे। धार्मिक संप्रदायों ने अगर अपने हित में शासकों को साथी बनाया था तो शासक भी धर्म का झंडा अपने हितों के कारण ही बुलंद किए हुए थे। जब कोई उथल-पुथल होती है तो हर तरह के लोग अपनी अपनी महत्वाकांक्षा के कारण उसमें शामिल होकर

फायदा उठाना चाहते हैं। जर्मन क्षेत्र में फैले सैकड़ों राज्यों के परस्पर झगड़े सदियों से चले आ रहे थे। उनको निपटाने का यह सुअवसर कोई हाथ से जाने नहीं देना चाहता था। वृहत्तर संदर्भों को देखें तो हैप्सवर्ग परिवार की सर्वोच्चता यूरोप के अन्य राजपरिवारों के लिए आंख की किरकिरी थी। विशेषकर फ्रांस का बूर्बों परिवार चुनौती के लिए तैयार था। स्वीडन बाल्टिक सागर के दक्षिण में पहुंचना चाहता था ताकि बाल्टिक पर उसका पूरी तरह कब्जा हो जाए। डेनमार्क भी क्षेत्र विस्तार के लिए लालायित था। ये सभी राज्य जर्मनी की अनिश्चितता को अपने हक में ले जाना चाहते थे। ऐसी स्थिति में पूरे पश्चिमी यूरोप के स्तर पर विभिन्न राजनीतिक स्वार्थ धार्मिक उद्वेलन से कोई न कोई लाभ उठाने को तत्पर थे। धर्म के नाम पर जिस संघर्ष की पृष्ठभूमि बन रही थी उसके पीछे राजनीतिक तत्वों ने, परोक्ष रूप से ही सही, बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। संघर्ष के विस्तार और उसके इतना विनाशकारी होने का यही कारण था।

इस अनिश्चितता से आर्थिक लाभ भी संभव थे। इसी विचार से पूंजीवादी मनोवृत्ति के पादरी, शासक और धनिक वर्ग अपने अपने ढंग से सक्रिय थे। यह स्पष्ट था आग्सवर्ग में जो जायदाद संबंधी निर्णय हुआ था उससे सभी असंतुष्ट थे। एक ओर 1552 को सीमा रेखा बना उसके पहले हुए संपत्ति के हस्तांतरण मान लिए गए थे। इससे लूथरवादियों को लाभ हुआ था लेकिन बाद में चर्च की हालत सुधर जाने पर जितनी भी हानि हुई थी उस पर क्षोभ व्यक्त किया जा रहा था। दूसरी ओर 'धार्मिक रक्षण' (एक्लेजिआस्टिकल रेजर्वेशन) की नीति द्वारा कैथोलिक बिशपों की संपत्ति की रक्षा की गई थी। इस पक्षपात से लूथरवादी अप्रसन्न थे। सोलहवीं शताब्दी के बाद कितने ही धर्म परिवर्तन हुए थे और संपत्ति कितनी ही बार हस्तांतरित हुई थी। जायदाद संबंधी इस अनिश्चितता का निपटारा होना बाकी था। जिन जिन क्षेत्रों में प्रोटेस्टेंट मत का प्रसार हुआ था वहां से चर्च को आमदनी होनी बंद हो गई थी। इस कारण न केवल रोम की आमदनी घटी थी, उन इलाकों के कैथोलिक अधिकारी भी विपन्न हो गए थे। दूसरी ओर प्रोटेस्टेंट पादरी अभी भी कैथोलिक पादरियों को अपने से अधिक संपन्न समझ कर ईर्ष्या करता था। समाज में एक नई श्रेणी नवधनिकों की पैदा हुई थी जो अपने धन को सामाजिक प्रतिष्ठा और सत्ता में बदलना चाहती थी। बिना संघर्ष के ऐसा संभव नहीं था। इसलिए ये भी यथास्थिति को बदलना चाहते थे। अंत में, बढ़ते व्यापार के कारण जो नई आर्थिक संस्थाएं जन्मी थीं, जैसे बैंक, ज्वाइंट स्टाक कंपनियां, वे समाज में कुछ मौलिक परिवर्तन चाहती थीं। इस प्रकार आर्थिक कारणों से भी व्यापक परिवर्तन की पृष्ठभूमि बन रही थी।

इस तरह यह स्पष्ट हो गया होगा कि यूरोप, विशेषकर मध्य यूरोप, में भयंकर तनाव की स्थिति थी। ऊपर से धार्मिक कलह दिखाई पड़ने वाली स्थिति के

पीछे अनेक आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थ, महत्वाकांक्षाएं, व्यक्तिगत और राष्ट्रगत ईर्ष्या, आर्थिक लाभ की संभावना, यथास्थिति को किसी भी तरह बदलने की उत्कट इच्छा जैसी बातें थीं जिनका परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं शताब्दी शुरू होते होते सारा पश्चिमी यूरोप परस्पर विरोधी गुटों में बंट गया। समाज में व्याप्त तनाव के अभिव्यक्त हुए बिना शांति संभव नहीं थी।..

तीस वर्षीय युद्ध का प्रारंभ और विस्तार

1608 में पैलेटिनेट के उत्साही काल्वैंवादी शासक फ्रेडरिक के नेतृत्व में एक प्रोटेस्टेंट संघ की स्थापना हुई। संघ सभी क्षुब्ध प्रोटेस्टेंट लोगों को संघटित करके आग्सबर्ग संधि को बदलवाना और अपने अधिकारों को और सुरक्षित करना चाहता था। वास्तव में ये वे लोग थे जो यथास्थिति से असंतुष्ट थे और हालत बदलने पर अपनी स्थिति मजबूत होने के प्रति आश्वस्त थे। साल भर के अंदर अंदर कैथोलिक लोगों ने भी अपनी 'लीग' बना ली। वे कम आक्रामक मन:स्थिति में नहीं थे। 'लीग' का नेतृत्व बवेरिया के शासक मैक्सीमिलियन के हाथ में था। कैथोलिक संगठन (होली लीग) का नेतृत्व अपने सहयोगियों की ओर से आश्वस्त था। उसे सम्राट और पोप का भी आशीर्वाद प्राप्त था। लेकिन प्रोटेस्टेंट संगठन में कई संप्रदायों के लोग थे और उनमें केवल ऊपरी एकता थी। अन्य प्रोटेस्टेंट राज्य भी या तो इतने शक्तिशाली नहीं थे कि इनकी मदद करते या जब तक उनका अपना कोई राष्ट्रीय या व्यक्तिगत स्वार्थ न हो वे हस्तक्षेप और सहयोग के लिए तैयार नहीं थे। ऐसी स्थिति में प्रोटेस्टेंट शक्तियां अपेक्षतया कमजोर प्रतीत होती थीं।..

धर्मसुधार शुरू होने के ठीक एक शताब्दी के बाद 1618 में दस वर्षों की गुटबाजी का एक धमाके के साथ विस्फोट हुआ। शुरुआत मामूली ढंग से ही हुई। बोहेमिया का राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य के अंतर्गत था। वहां लूथरवाद की स्थापना हो गई थी और इसे सम्राट ने मजबूरी में स्वीकार भी कर लिया था। लेकिन लूथरवादी अपनी स्थिति के बारे में पूरी तरह आश्वस्त नहीं थे। 1609 में सम्राट ने तो सहिष्णुता की नीति अपनाने की घोषणा की थी लेकिन कुछ इलाकों में असहिष्णु पादरी लोग प्रोटेस्टेंट समुदाय पर जुल्म करना और उन्हें हर तरह से सताना बंद नहीं कर रहे थे। उन्हें इस बात से प्रोत्साहन मिल रहा था कि फर्डिनेंड, जो चर्च का बहुत बड़ा समर्थक था, अब स्वयं सम्राट बनने वाला था। प्रोटेस्टेंट संघ ने अब निर्णायक कदम उठाना जरूरी समझा। जब सम्राट ने प्रोटेस्टेंट लोगों की सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया तो उन्होंने खुला विद्रोह करने का निर्णय लिया। 1618 में सम्राट के दो प्रतिनिधि उनसे वार्ता के लिए प्राग नामक नगर में आए हुए थे। उनसे हो रही वार्ता में गर्मी आने पर उन्हें महल की

खिड़कियों से नीचे फेंक दिया गया। यद्यपि वे संयोग से बच गए यह तो सम्राट की सत्ता और कैथोलिक लीग को खुली चुनौती थी।..

बोहेमिया का यही विद्रोह धीरे धीरे सारे जर्मनी में फैल गया। सारे पश्चिमी यूरोप के शासक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसमें शामिल हो गए और तीस वर्षों तक भयंकर युद्ध चलता रहा। इस युद्ध ने कई करवटें लीं। कभी युद्ध का स्वरूप धार्मिक रहा तो कभी राजनीतिक, कभी दोनों। विभिन्न देशों ने विभिन्न समयों पर विशेष रूप से युद्ध में हस्तक्षेप किया। इसीलिए इस युद्ध को चार कालों में विभाजित करते हैं। 1624 तक युद्ध बोहेमिया के आसपास ही सीमित रहा। दूसरे काल में (1625-29) प्रोटेस्टेंट वर्ग की सहायता डेनमार्क के शासक ने की और उन्हें पराजय से बचाया। इसीलिए इसे 'डेनिशकाल' कहते हैं। 1629 में स्वीडन का शासक युद्ध में कूद पड़ा वरना कैथोलिक लोगों की जीत निश्चित थी। 1635 तक स्वीडन की प्रधानता बनी रही इसलिए इस काल को 'स्वीडिश काल' कहते हैं। 1635 के बाद युद्ध एकदम राजनीतिक हो गया। कैथोलिक होते हुए भी फ्रांस के मंत्री रिशलिउ ने हैप्सबर्ग सम्राट को नीचा दिखाने के लिए प्रोटेस्टेंट लोगों की मदद की। यही कारण है कि इसे 'फ्रेंच काल' कहते हैं।..

प्रोटेस्टेंट संघ के नेता फ्रेडरिक ने बोहेमियन विद्रोह के बाद वहां का सिंहासन स्वीकार कर लिया था और सम्राट का प्रभुत्व समाप्त घोषित कर दिया गया था। सम्राट मैथियास एक कमजोर शासक था। लेकिन उसकी मृत्यु हो गई और फर्डिनेंड द्वितीय ने फ्रेडरिक को अपदस्थ करने की आक्रामक योजना बनाई। उसने स्पेन को हमला करने के लिए तैयार किया और कैथोलिक लीग और अपनी सेना का मिलाजुला नेतृत्व एक प्रसिद्ध सेनापति टिली को सौंपा। फ्रेडरिक बुरी तरह घिर गया था। इंग्लैंड के शासक जेम्स का दामाद होने के नाते उसे आशा थी कि उसे अंगरेजों की मदद मिलेगी। मिली केवल सलाह और नैतिक समर्थन जो बेमानी थे। अन्य प्रोटेस्टेंट जर्मन राज्य भी अवसरवादी दृष्टिकोण अपनाए हुए थे कि शायद उनकी तटस्थता या निष्क्रियता से सम्राट खुश हो जाए और उन्हें विशेष लाभ हो।

टिली ने निर्णायक युद्धों में फ्रेडरिक को पराजित किया। उसे बोहेमिया छोड़ कर भागना पड़ा। स्पेन की सेनाओं ने उसके अपने राज्य पैलेटिनेट से भी उसे खदेड़ दिया और वह बे घरबार शरणार्थी हो गया। हजारों की संख्या में लोग मारे गए और उनकी संपत्ति हड़प ली गई। बोहेमिया पर सम्राट का प्रभुत्व फिर से स्थापित हो गया और फ्रेडरिक का राज्य कैथोलिक लीग के प्रधान मैक्सीमिलियन को दे दिया गया। उसे साम्राज्य का 'एलेक्टर' भी नियुक्त किया गया। होली रोमन सम्राट सात 'एलेक्टर्स' की एक समिति द्वारा चुना जाता था। सुधार आंदोलन के बाद तीन एलेक्टर प्रोटेस्टेंट हो गए थे। बोहेमिया के शासक को भी

सम्राट के चुनाव में एक मत प्राप्त था। यदि काल्वैंवादी फ्रेडरिक बोहेमिया का शासक बना रहता तो चार एलेक्टर प्रोटेस्टेंट हो जाते और सम्राट का पद किसी प्रोटेस्टेंट को मिलने की संभावना हो जाती। यह एक ऐसा खतरा था जिससे सारे कैथोलिक आतंकित हो गए थे। यही कारण था कि एक फ्रेडरिक को पराजित और च्युत करने में इतनी चुस्ती दिखाई गई थी।

फ्रेडरिक ने जल्दीबाजी की थी और पराजय के बाद उसके सैनिक लूटमार करते घूम रहे थे। प्रोटेस्टेंट शक्तियों ने घोर अनिर्णय और असहयोग का परिचय दिया था। डूबते सूरज को कौन पूजता है? लगता था, जर्मनी में धर्मसुधार की उपलब्धियों पर पानी फिर जाएगा। इसी समय डेनमार्क के प्रोटेस्टेंट शासक ने पहल की और युद्ध का दूसरा दौर शुरू हो गया।..

डेनमार्क के शासक क्रिश्चियन चतुर्थ ने केवल अपने सहधर्मियों की मदद के लिए ही इतना बड़ा जोखिम नहीं उठाया था। वह जानता था कि कैथोलिक लोगों की विजय यदि पूर्ण हो गई तो वह भी पूरी तरह सुरक्षित नहीं रहेगा। वह लूथर-वादी था और उसके राज्य का एक हिस्सा हालस्टाइन जर्मन साम्राज्य में पड़ता था। सम्राट का प्रभुत्व घटे यह उसके भी हित में था। इसके अलावा धर्म परि-वर्तन में बहुत सी कैथोलिक संपत्तिउसके हाथ लगी थी। वह तभी बची रह सकती थी जब कि प्रोटेस्टेंट लोग शक्तिशाली रहें। उसे इंग्लैंड से आर्थिक सहयोग का आश्वासन भी मिल गया था। ऐसी स्थिति में न केवल जर्मन प्रोटेस्टेंट वर्ग के हित में वरन उसके अपने हित में भी यही था कि वह युद्ध में निर्णायक रूप से हिस्सा ले।

संयोग से कैथोलिक लोगों को भी इसी समय एक अप्रत्याशित सहयोग मिल गया। वैलेंसटाइन नामक सामंत स्वभाव से ही सैनिक था। जर्मनी की फैलती अराजकता से फायदा उठाकर उसने बेशुमार दौलत इकट्ठी की थी। अब उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ चली थी। वह धन ही नहीं प्रतिष्ठा भी कमाना चाहता था। उसने सम्राट के सामने सहयोग का प्रस्ताव रखा। सामान्य स्थिति में उसे जेल होनी चाहिए थी लेकिन संकट के समय उसका सहयोग स्वीकार कर लिया गया और उसे एक स्वतंत्र सेना संगठित करने की आज्ञा मिल गई। अब क्या था? उसने हर लड़ाकू और महत्वाकांक्षी को संभावित लाभों का लालच देकर भरती करना शुरू किया। जर्मनी, इटली, स्पेन, स्विट्जरलैंड जैसे दूर दूर देशों से लोग उसकी सेना में भरती होने लगे। धीरे धीरे पिंडारियों जैसी पचास हजार सैनिकों की सेना उसके पास हो गई और अपनी अद्भुत प्रतिभा के सहारे उसने इन्हें एक जुझारू और अनुशासित सेना में बदल दिया।

वैलेंसटाइन और टिली की मिलीजुली सेना के आगे डेनमार्क की सेनाएं टिक न सकीं। उनसे भागते ही बना। यदि सम्राट के पास सामुद्रिक सेना भी होती तो

डेनमार्क पर पूरी तरह कब्जा हो सकता था। क्रिश्चियन को ल्यूबेक की संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार उसे जर्मन क्षेत्र से हटना पड़ा और बहुत बड़ी कैथोलिक संपत्ति जो उसके हाथ में आ गई थी, उसे छोड़नी पड़ी।

वैलेंसटाइन एक बृहत्तर योजना पर काम कर रहा था। उसकी सेनाएं सारे जर्मन प्रदेश का दमन करने में लगी हुई थीं। उसका उद्देश्य सारे जर्मन शासकों की शक्ति नष्ट करके सारे जर्मनी पर सम्राट का एकछत्र प्रभुत्व स्थापित करना था। ऐसी सत्ता के पीछे वह स्वयं एक निर्णायक भूमिका अदा करता हुआ अत्यंत महत्वपूर्ण बन सकता था। उसकी इस योजना के मार्ग में भी समुद्र आ गया क्योंकि उसकी थल सेना समुद्र पर बेकार थी और समुद्र पार से स्वीडन इस युद्ध में दिलचस्पी लेने लगा था।

कैथोलिक शक्तियां लगातार सफल हो रही थीं। लेकिन इस सफलता का आर्थिक लाभ जब तक न मिले, सैनिक विजय का कोई विशेष अर्थ न था। 1552 के बाद प्रोटेस्टेंट लोगों ने कैथोलिक चर्च की जो संपत्ति ले ली थी उसे वापस लेने का स्वर्ण अवसर यही था। सम्राट पर दबाव डालकर संपत्ति की वापसी (एडिक्ट आफ रेस्टीच्यूशन) की घोषणा करवा दी गई। 1555 के बाद दो आर्चबिशपों और नौ बिशपों के क्षेत्र और सैकड़ों मठ प्रोटेस्टेंट लोगों के कब्जे में चले गए थे। इस घोषणा के बाद तेजी के साथ कैथोलिक लोगों का कब्जा शुरू हुआ। इससे शिथिल और ढुलमुल प्रोटेस्टेंट शासक भी आतंकित हो गए।

इसी समय उनके हक में दो घटनाएं घटीं। वैलेंसटाइन के बढ़ते प्रभाव के कारण उसकी शिकायत होने लगी थी। उसका काम भी पूरा हो गया लगता था। इसलिए उसे हटा दिया गया। यह प्रोटेस्टेंट लोगों के लिए एक शुभ सूचना थी। स्वीडन के शासक एडाल्फस ने भी इस युद्ध में हस्तक्षेप करने का यही समय चुना और इस तरह युद्ध का तीसरा काल प्रारंभ हो गया।

स्वीडन का युवा शासक गस्टवस एडाल्फस बहुत महत्वाकांक्षी और साहसी शासक था। वह स्वीडन की सीमाओं का विस्तार चाहता था और यूरोप की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करना चाहता था। विशेष रूप से वह बाल्टिक सागर को अपने प्रभुत्व में लाकर उसे एक स्वीडी झील (स्वीडिश लेक) बना देना चाहता था। इसी उद्देश्य से वह पोलैंड और रूस से भी संघर्ष कर रहा था। वैलेंसटाइन के उत्तरी जर्मनी की विजय से उसने समझ लिया था कि अब उसे हस्तक्षेप करना ही चाहिए वरना बाल्टिक सागर का दक्षिणी तट उसके प्रभाव में नहीं आ सकेगा और वह कभी भी यूरोप की राजनीति में महत्व नहीं पा सकेगा। उसे अपने ही राज्य की सुरक्षा खतरे में नजर आने लगी थी। दूसरे वह एक कट्टर प्रोटेस्टेंट था और प्रोटेस्टेंट हितों की रक्षा के लिए कुछ भी करने को तैयार था। यह निश्चित करना मुश्किल हो गया कि उपर्युक्त दोनों कारणों में से किसने उसे

हस्तक्षेप के लिए विशेष रूप से प्रेरित किया लेकिन यह सत्य है कि उसने बहुत उपयुक्त अवसर पर हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया वरना प्रोटेस्टेंट शक्तियों की पराजय निश्चित थी।

एडाल्फस का व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावशाली था। वह अपने सिद्धांतों के लिए जोखिम भी उठा सकता था लेकिन व्यावहारिक कठिनाइयों को नजर अंदाज नहीं करता था। वह एक सुसंस्कृत व्यक्ति था। उसे सात भाषाएं आती थीं। साहित्य और संगीत में उसकी रुचि थी। पूरे यूरोप में उसके जैसा कोई अन्य शासक नहीं था। ऐसे व्यक्ति की मदद वास्तव में प्रोटेस्टेंट लोगों के लिए वरदान थी।

परिस्थितियों का संयोग कुछ ऐसा बना कि इसी समय फ्रांस का मंत्री रिशलिउ बूर्बों वंश की सर्वोच्चता के लिए कुछ भी करने को तैयार था। उसने एडाल्फस की हर तरह से मदद करने का वायदा किया। पूरी तरह से आश्वस्त एडाल्फस 1631 में दक्षिणी बाल्टिक तट पर एक शक्तिशाली सेना के साथ उतरा और युद्ध का रुख ही बदल गया। उसने सभी प्रोटेस्टेंट शासकों से सहयोग चाहा पर हमेशा की तरह निर्णय लेने में उन्होंने देर की। इसी बीच टिली ने प्रोटेस्टेंट नगर माग्डेबुर्ग पर हमला किया और करीब बीस हजार नागरिकों को तलवार के घाट उतार दिया। यह सभी प्रोटेस्टेंट शासकों के निर्णय लेने के लिए पर्याप्त था। उनका सहयोग पाकर एडाल्फस ने टिली पर जबरदस्त हमला किया और 1631 में टिली जैसे अनुभवी और प्रख्यात सेनापति की पराजय से सारा यूरोप चौंक उठा। एडाल्फस की धाक जम गई। युद्ध का नक्शा ही बदल गया। अब तक हमेशा कैथोलिकों का पलड़ा भारी रहा था। अब प्रोटेस्टेंट लोगों की बारी थी। हर कहीं उनकी खुशी की कोई सीमा नहीं थी। सारा जर्मनी एडाल्फस के कदमों में था।

एडाल्फस ने योजना बनाई कि वह पहले म्यूनिख पर धावा बोलेगा और अंत में सम्राट की राजधानी वियेना पर। उसकी योजना सफलतापूर्वक कार्यान्वित हुई। म्यूनिख जीतने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। वह वियेना पर हमला करने की योजना बना ही रहा था कि सम्राट ने संकट काल में फिर वैलेंसटाइन का आह्वान किया। वह सम्राट से अलग होने के बाद अपनी रियासत में शांतिपूर्वक रह रहा था। सम्राट को विपत्ति में देखकर वह मदद के लिए तैयार हुआ लेकिन अपनी शर्तों पर। उसके तैयार होते ही उसके हजारों अनुयायी दूर दूर से इकट्ठे हो गए और वह फिर एक शक्तिशाली सेना के साथ कैथोलिकों और सम्राट की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गया। अब अपने समय के दो सबसे महान सेनाध्यक्षों का मुकाबला था। ल्यूटजन नामक स्थान पर मुठभेड़ हुई। एडाल्फस की सेना ने लूथरवादी प्रार्थना (माइटी फोर्टरेस इज आवर गाड) दुहराई और भयंकर युद्ध छिड़ गया। एडाल्फस ने स्वयं आगे बढ़कर नेतृत्व किया। बाजी उसकी सेना के ही हाथ रही, लेकिन वह स्वयं दुस्साहस की हद तक आगे बढ़ता गया और घेर

कर मार दिया गया। जीत हार में वदल गई। दूसरी ओर वैलेंसटाइन भी एक षड्यंत्र का शिकार हो गया। वह धार्मिक कलह से ऊव चुका था। सहिष्णुता के आधार पर वह जर्मनी को एक करना चाहता था। अपने लिए भी वह कोई स्थाई प्रवंध करना चाहता था। कैथोलिक लोगों और सम्राट दोनों के लिए वह खतरनाक सावित हो सकता था। इसलिए उसकी हत्या कर दी गई। स्वीडन की सेना एडाल्फस के अभाव में दक्षिण के इतने प्रदेशों पर कब्जा वनाए रखने में असमर्थ थी। 1634 में उसे पराजित होना पड़ा। अजीव सी अनिश्चितता का वातावरण था। न कोई विजेता था न कोई पराजित। समझ में नहीं आता था कि ऊंट किस करवट वैठेगा। इसी समय फ्रांस के हस्तक्षेप ने फिर एक वार स्थिति वदल दी।

सम्राट समझौते की मनःस्थिति में था। प्राग में एक समझौते की वात चल भी पड़ी थी। लेकिन इसके पहले कि दोनों पक्ष कोई निर्णय लेते रिशलिउ ने निर्णय ले लिया। मंत्री वनते ही रिशलिउ ने प्रतिज्ञा की थी कि वह फ्रांस में अपने शासक लुई की शक्ति को निरंकुश वनाएगा और यूरोप में वूर्वों वंश को सवसे महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित करेगा। इसी प्रतिज्ञा के लिए उसने फ्रांस के प्रोटेस्टेंट वर्ग का भीषण दमन किया और इसी प्रतिज्ञा के लिए उसने सम्राट और उसके वंश हैप्सवर्ग परिवार को नीचा दिखाना चाहा। वह स्वयं चर्च में पोप के वाद सवसे महत्वपूर्ण अधिकारी, कार्डिनल, था लेकिन उसे राजनीति, अपने देश फ्रांस और अपने शासक परिवार वूर्वों में दिलचस्पी थी, धर्म में नहीं। इसीलिए निर्णायक घड़ी में उसने तीस वर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेंट पक्ष से युद्ध में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया।

उसने स्वीडन और हालैंड से समझौता कर लिया क्योंकि दोनों प्रोटेस्टेंट थे और हैप्सवर्ग परिवार के विरुद्ध थे। उत्तर से स्वीडन और दक्षिण-पश्चिम से फ्रांस ने हमला किया। फ्रांस में इस समय दो महत्वपूर्ण सेनापति थे त्यूरन और कोंदे। दोनों ही वूढ़े टिली का सामना करने की योग्यता रखते थे।

फिर भी फ्रांस को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा। हैप्सवर्ग परिवार के ही अधीन स्पेन ने फ्रांस को उत्तर और दक्षिण से वरावर दवाकर रखा लेकिन अंत में फ्रांस डच लोगों की मदद से आक्रामक लड़ाई पर आमादा हुआ। जर्मनी में त्राहि त्राहि मच गई। एक के वाद एक नगर का पतन होने लगा। भीषण संहार होने लगा। इलाके के इलाके उजड़ गए। दूर दूर तक श्मशान जैसा दृश्य दिखाई पड़ने लगा। युद्ध की विभीषिका में कृषि और उद्योग नष्टभ्रष्ट हो गए। कोई क्यों खेती करे? किसके लिए उत्पादन करे? सव कुछ तो युद्ध में स्वाहा हो जाना था। भूख और महामारी ने युद्ध की ही तरह लोगों को मारा।

इसी वीच फर्डिनेंड द्वितीय मर चुका था। दूसरी ओर रिशलिउ भी अपने उद्देश्यों की पूर्ति के प्रति आश्वस्त होकर मर चुका था। पूरी एक पीढ़ी तवाह हो

चुकी थी। दूसरी एक पीढ़ी युद्ध की छांव में ही बढ़ रही थी। सम्राट फर्डिनेंड तृतीय ऊब चुका था। निरंतर हारते रहने से सम्राट की सेनाओं का हौसला भी पस्त हो गया था। युद्ध शुरू किसी और वजह से हुआ था। शुरू के विरोधी गौण हो गए थे। दूसरे मुद्दों पर अब दूसरे लड़ रहे थे। सारी स्थिति अत्यंत त्रासद और विडंबनापूर्ण हो चली थी। सामाजिक तनाव इतने भयंकर युद्ध में अभिव्यक्त हो चुका था। अब और युद्ध करना सबकी ताकत के बाहर था क्योंकि सबकी सामर्थ्य समाप्त हो चली थी। ऐसे युद्ध में पूरी तरह न कोई जीत सकता था न पूरी तरह हार सकता था। ऐसी स्थिति में समझौता ही एक चारा था। ऐसे ही वातावरण में संधि की तैयारी हुई और तीस भयानक वर्षों के बाद वेस्टफेलिया की संधि द्वारा शांति फिर लौटी।

वेस्टफेलिया की संधि

तीस वर्षीय युद्ध ने यह निश्चित कर दिया था कि जर्मन क्षेत्रों में साम्राज्य के माध्यम से एकता नहीं आ सकेगी। इस युद्ध ने यह भी सिद्ध कर दिया था कि अपनी कम आबादी के बावजूद स्वीडन अपने लोकप्रिय और कुशल शासकों के कारण यूरोप, विशेष रूप से बाल्टिक क्षेत्र में, महत्वपूर्ण व्यावसायिक और राजनीतिक भूमिका निभाने के लिए कृतसंकल्प है। जिस उत्साह के साथ स्वीडन, फ्रांस और साम्राज्य के सिपाही और सेनापति युद्ध में संपृक्त थे अगर कूटनीतिज्ञों ने हस्तक्षेप न किया होता तो युद्ध और दूर तक खिंच जाता। लेकिन स्वीडन की रानी क्रिस्टीना की उदारता, स्पेन की थकान और शांति के लिए प्रयत्नशील कांग्रेस के कारण ही वेस्टफेलिया की संधि संभव हो पाई।

इस संधि ने मध्य यूरोप के संबंध में कुछ ऐसे निर्णय लिए जिनके परिणाम दूरगामी थे। इसने जर्मन क्षेत्र के महत्व को कम करके फ्रांस की भावी गरिमा के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। संधि में निम्नलिखित महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए:

—पवित्र रोमन साम्राज्य का बाह्य संगठन तो बना रहा लेकिन हर सदस्य राज्य को सार्वभौमिक अधिकार प्राप्त हो गए। कोई भी राज्य स्वयं युद्ध और शांति संबंधी निर्णय ले सकता था।

—फ्रांस को उत्तरी-पूर्वी सीमांत पर स्ट्रासबुर्ग नामक नगर को छोड़कर पूरा अल्सास प्रांत दे दिया गया। सीमा पर स्थित मेत्स, तूल और वेर्दं नामक नगर क्षेत्र भी फ्रांसिसी आधिपत्य में मान लिए गए। इस प्रकार फ्रांस की सीमाओं का विस्तार तो हुआ ही उसे मध्य यूरोप में महत्ता मिल गई। रिशलिउ का लक्ष्य एक सीमा तक पूरा हो गया।

—स्वीडन की यह इच्छा पूरी हो गई कि दक्षिणी बाल्टिक तट पर कब्जा करके वह यूरोप की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाए। पामेरानिआ का

एक हिस्सा और एल्ब तथा वेजर नदियों के मुहाने का क्षेत्र मिल जाने से क्षेत्रफल के अनुपात में बहुत अधिक महत्वपूर्ण लाभ स्वीडन को प्राप्त हो गया। मध्य यूरोप में आस्ट्रिया के एकाधिकार पर अंकुश लगाने की दिशा में यह भी एक महत्वपूर्ण कदम था।

—फ्रांस और स्वीडन जर्मन डायट के नए सदस्य बन गए। अब जर्मन समस्याओं के विषय में उनकी भूमिका निर्णायक हो गई। जर्मन क्षेत्र में अब हर तरफ से हस्तक्षेप हो सकता था।

—ब्रेंडेनबर्ग का विस्तार हुआ और भविष्य के शक्तिशाली राज्य प्रशा की नींव रखी गई। इसी राज्य को जर्मन राष्ट्र की लालसाओं की पूर्ति का श्रेय मिला इसीलिए वेस्टफेलिया में लिया गया यह निर्णय ऐतिहासिक सिद्ध हुआ।

—पैलेटिनेट राज्य, जहां युद्ध का प्रारंभ हुआ था, विभाजित कर दिया गया। आधा फ्रेडरिक के पुत्र को और आधा बवारिआ के शासक को देकर उन्हें सम्राट के चुनाव का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार एलेक्टर लोगों की संख्या बढ़ गई।

—दो नए सार्वभौम राज्यों को मान्यता मिल गई। अपने स्वतंत्रता संग्राम के बाद हालैंड (नीदरलैंड्स) और विघटन समाप्त कर एकीकरण की ओर अग्रसर स्विट्जरलैंड यूरोप के नए राज्यों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। इन छोटे राज्यों ने भविष्य में यूरोप और विश्व की घटनाओं को बहुत प्रभावित किया।

उपर्युक्त निर्णय राजनीतिक थे। यह एक विडंबना ही तो थी कि एक धार्मिक युद्ध के अंत पर निर्णय राजनीति को ध्यान में रख कर लिए जाएं। लेकिन यह वास्तविकता थी, अंतिम दिनों में धार्मिक मुद्दे गौण हो गए थे। फिर भी कुछ निर्णय ऐसे भी लिए गए जिन्होंने धार्मिक जीवन पर अपनी छाप छोड़ी :

—आग्सबर्ग की संधि में केवल लूथरवादियों को मान्यता मिली थी। यहां काल्वैंवादियों को भी स्वीकार लिया गया।

—संपत्ति संबंधी आधार-तिथि 1 जनवरी, 1624 घोषित की गई। उस तिथि को चर्च की जो संपत्ति जिसके पास थी उसे ही उसका अधिकारी मान लिया गया। उसके बाद के परिवर्तनों को अमान्य कर दिया गया।

—साम्राज्य की अदालतों में, जहां धर्म संबंधी फैसले होते थे, कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट जजों की संख्या बराबर बराबर तय कर दी गई।

इस संधि का मूल्यांकन करते वक्त इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि राज्यों की सीमा और धर्म के संबंध में जो निर्णय लिए गए वे तो महत्वपूर्ण थे ही, उससे अधिक महत्वपूर्ण था मानसिकता का परिवर्तन, इतिहास में नए तत्वों और प्रवृत्तियों का उद्भव और वैचारिक दृष्टि से एक नए धरातल की सृष्टि।

इस युद्ध ने सौ साल से यूरोपीय समाज को मथ रहे तनाव को बाहर निकल

जाने का मौका दिया। लूथरवादियों के अतिरिक्त जो अन्य संप्रदाय पैदा हुए थे उन्हें भी बराबरी का दरजा मिल गया। राजनीतिक दृष्टि से अब तक आस्ट्रिया और स्पेन पर शासन करने वाला हैप्सबर्ग परिवार सर्वोच्च था। रिशलिउ की नीति से अब फ्रांस को और एडाल्फस की नीतियों के कारण स्वीडन को यूरोपीय राजनीति में प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। विभिन्न राज्यों में विभाजित जर्मन प्रदेश में भी अब स्वीडन और फ्रांस को दखल देने का अधिकार मिल गया। ब्रेंडेन-बर्ग का महत्व बढ़ने लगा। इसी राज्य को कुछ दिनों बाद प्रशा कहा जाने लगा और प्रशा के नेतृत्व में ही उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी का एकीकरण संपन्न हुआ और भावी जर्मन शक्ति का सूत्रपात हुआ। सदियों के संघर्ष के बाद हालैंड की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गई। हालैंड का उदाहरण विदेशी उत्पीड़न के विरुद्ध लड़ने वालों के लिए अनुकरणीय हो गया। स्विट्जरलैंड जैसे छोटे से देश की सार्वभौमिकता स्वीकार कर ली गई और वह देश अपनी तटस्थता को अक्षुण्ण रख सका, महायुद्धों के दौरान भी। राज्यों की सार्वभौमिकता के संदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण उदाहरण बना।

इस युद्ध के दौरान ही यह निश्चित हो गया था कि राजनीति धर्म से अधिक निर्णायक तत्व है। इस शांति के बाद वास्तव में व्यापक धार्मिक कलह के युग का अंतसा हो गया। एकांतिक और ईर्ष्यालु धार्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर सहिष्णुता के युग का प्रारंभ हुआ। एक दूसरे के अस्तित्व का विरोध करने के स्थान पर सह-अस्तित्व का सिद्धांत धर्म के क्षेत्र में मान्य होने लगा। यह सच है कि यह सिद्धांत ईसाई संप्रदायों तक ही सीमित रहा और यहूदियों के प्रति अभी घृणा और संदेह की भावना बनी रही। लेकिन कम से कम सीमित क्षेत्र में ही सही धर्म के नाम पर संघर्ष और युद्ध समाप्त प्राय हो गए।

धर्म की गौणता और उनके व्यक्ति की अपनी आस्था का प्रश्न बन जाने से राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। राजनीतिविज्ञान का मार्ग प्रशस्त हुआ। राज्य की आज जो कल्पना है उसी के अनुसार राज्यों का संगठन शुरू हुआ। परिवार विशेष—जैसे हैप्सबर्ग परिवार का महत्व घट जाने से राज्यों की बराबरी का सिद्धांत सर्वमान्य हो गया। हर राज्य का प्रतिनिधि बराबर समझा जाने लगा। इस प्रकार कूटनीतिक संबंधों के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। सही अर्थों में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का सूत्रपात हुआ।

इन तीस वर्षों में जितना विनाश हुआ वह प्रथम महायुद्ध से पहले विश्व-इतिहास में शायद कभी नहीं हुआ था। राजनीतिक रूप से भी सम्राट की एक-छत्रता समाप्त हो गई और छोटे-बड़े सैकड़ों सार्वभौम राज्यों के प्रादुर्भाव से जर्मनी पूरी तरह विघटित हो गया। युद्ध के अलावा लूटपाट, आगजनी और महामारी का शिकार जर्मनी अपनी आधी से अधिक जनसंख्या से हाथ धो बैठा। गांवों में

और सड़कों पर भेड़िये निर्द्वंद्व होकर घूमते थे। कृषि और उद्योग पूरी तरह नष्ट हो चुके थे। शिक्षण-संस्थाएं बंद हो चुकी थीं। द्वितीय महायुद्ध के बाद के जर्मनी की तस्वीरें जिसने देखी हैं वह अंदाजा लगा सकता है कि विनाश ने कितनी निरुद्देश्यता, वितृष्णा और अंधविश्वास भर दिया होगा। परिणाम यह हुआ कि जो राष्ट्रवादिता और पूंजीवाद फ्रांस, इंग्लैंड और नीदरलैंड्स में पनपे और बाद में ये देश अभूतपूर्व आर्थिक विकास के कारण अत्यंत शक्तिशाली हो गए, उससे जर्मनी वंचित रह गया। विकास की दौड़ में तीस वर्षीय युद्ध के कारण वह कम से कम सौ वर्ष पिछड़ गया। यूरोप के प्रदेशों में जर्मनी हर दृष्टि से बहुत अधिक संपन्न था लेकिन विनाश के कारण जो मानसिकता बनी थी, उसे उभरने में कई पीढ़ियां लग गईं। उन्नीसवीं शताब्दी तक वेस्टफेलिया की संधि का प्रभाव जर्मनी पर बना रहा। और जब बिस्मार्क के प्रयत्नों से जर्मनी उभरा तो पिछली कमी पूरी करने के लिए उसे सही, गलत रास्ता अपनाना पड़ा। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में जर्मनी में जो कुछ हुआ यहां तक की हिटलर के प्रादुर्भाव तक को हम तीस वर्षीय युद्ध और वेस्टफेलिया की संधि से जोड़ सकते हैं।

मानव सभ्यता के विकास में युद्ध उतना ही पुराना है जितना इतिहास स्वयं। एक समय था जब युद्ध को गरिमामय माना जाता था। पुरुषों के पुरुषत्व की परीक्षा होती थी युद्ध में। युद्ध के लिए विदा होते समय तिलक लगा कर प्रोत्साहित किया जाता था। आज भी कुछ आदिम जातियों में बिना शौर्य का प्रदर्शन और प्रमाण प्रस्तुत किए विवाह तक नहीं हो सकता। ऐसा तभी तक संभव था जब तक युद्ध शौर्य की परीक्षा था लेकिन जब विनाश बढ़ने लगा तो दृष्टिकोण बदलनास्वाभाविक था। तीस वर्षीय युद्ध में न कोई नियम था न कानून। 'युद्ध में सब कुछ उचित है' जैसे सिद्धांत की शुरुआत हो गई थी। जिस पैमाने पर विनाश हुआ उससे लोग तो आतंकित हुए लेकिन विचारक इस चिंता में पड़ गए कि ऐसे अंत र्राष्ट्रीय संघर्षों का क्या निदान हो सकता है। इन चिंतकों में सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया ग्रोशियस ने। उसकी पुस्तक (आन दि ला आफ वार ऐंड पीस) में पहली बार युद्ध और शांति के लिए नियम और कानून बनाने की बात कही गई। वह एक सहिष्णु प्रकृति का व्यक्ति था, इसलिए चाहता था कि राज्यों में आपसी संबंध कुछ नियमों के आधार पर स्थापित हों और युद्ध की स्थिति आने ही न पाए और यदि आ भी जाए तो कैसे कम से कम संहार और विनाश हो और फिर शांति स्थापित हो सके। इस दिशा में यह पहला संगठित प्रयास था। इसीलिए ग्रोशियस को अंतर्राष्ट्रीय कानून का प्रवर्तक (फादर आफ इंटरनेशनल ला) कहते हैं। इस बात से उसका महत्व कम नहीं हो जाता कि युद्धों का सिलसिला खत्म नहीं हुआ और जो स्थिति वेस्टफेलिया की संधि के बाद थी आज उससे भी भयावह है। यदि किसी कार्य के मूल्यांकन का एकमात्र मानदंड परिणाम हो जाए तो इतिहास में

इक्के-दुक्के कार्य ही याद किए जाएंगे और महानता से एक दो व्यक्ति ही विभूषित हो पाएंगे।

अंत में यदि तीस वर्षीय युद्ध और वेस्टफेलिया की संधि को बृहत्तर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि पुनर्जागरण से वेस्टफेलिया की संधि तक का युग मध्ययुग और आधुनिक काल के बीच का संक्रमण काल था। मध्ययुगीन परंपराएं, रूढ़ियां, जीवनमूल्य और लोकदर्शन क्षीण हो रहे थे और आधुनिक दृष्टिकोण जन्म ले रहा था। यह काल इन दो प्रवृत्तियों का साक्षी था। अंत में विजय आधुनिकता की होनी थी और हुई और 1648 के बाद ही वास्तव में आधुनिक प्रवृत्तियों का तेजी से विकास हुआ। इसलिए सुविधा के लिए यदि हम इतिहास का विभाजन करते समय आधुनिक काल का प्रारंभ कुस्तुनतुनिया के विभाजन से मानते हैं तो हमें अन्य घटनाओं और तिथियों को भी ध्यान में रखना चाहिए। आधुनिकता की दृष्टि से छापेखाने का आविष्कार और कोपरनिकस द्वारा सौरमंडल का केंद्र सूर्य को सिद्ध करना और भी अधिक निर्णायक था। इसी प्रकार व्यक्ति की बढ़ती प्रधानता, जिससे आधुनिक युग के जन्म और विकास की बात जुड़ी हुई है, तब तक पूरी तरह संभव नहीं हुई जब तक धर्म को बाकायदा गौण नहीं बना दिया गया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि यूरोप का जनसमुदाय सही अर्थों में कभी धार्मिक नहीं रहा है। फिर भी पुनर्जागरण और धर्मसुधार के बावजूद सोलहवीं शताब्दी में धर्म की जकड़ और व्यापकता समाप्त नहीं हुई थी। विषम संप्रदायों के बनने और उनमें आपस में संघर्ष बढ़ने के कारण उल्टे समाज और राज्यों का ध्यान और धर्म पर केंद्रित हो गया था। तीस वर्षीय युद्ध में धार्मिक तनाव-या तो खत्म हुए या उनका कोई हल निकला। यह अंतिम रूप से सिद्ध हो गया कि राजनीति की भूमिका अधिक निर्णायक है। वेस्टफेलिया की संधि के बाद राज्यों के अंदर और उनके परस्पर संबंधों के संदर्भ में भी धर्म का प्रभाव या तो नहीं रहा या निर्णायक नहीं हो सका। और तभी व्यक्ति व्यक्ति और व्यक्ति तथा राज्य के संबंध पूरी तरह आधुनिक आधार पर निश्चित और विकसित हो सके।

5

स्पेन का उत्थान और पतन

इसे विडंबना ही तो कहेंगे कि आज यूरोप के राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से सबसे पिछड़े हुए देशों में से एक स्पेन, आधुनिक काल के प्रारंभ में यूरोप के सबसे शक्तिशाली और उन्नत देशों में से समझा जाता था। उसकी तत्कालीन शक्ति का सबसे बड़ा सबूत यह है कि पूरे लातीन अमरीका में ब्राजील को छोड़ हर जगह स्पेनी भाषा ही राजभाषा है और भारतवर्ष की तरह ऐसा नहीं है कि राजभाषा (अंगरेजी और खड़ी बोली वाली हिन्दी) देश की समूची जनता द्वारा न बोली-समझी जाती हो। वहां सभी एक भाषा बोलते हैं। दूसरे यह कि संयुक्त राष्ट्रसंघ में आज स्पेन का स्थान नगण्य है लेकिन स्पेनी भाषा राष्ट्रसंघ द्वारा मान्यता प्राप्त पांच भाषाओं में से एक है क्योंकि उस गरिमामय काल में दुनिया के बहुत बड़े हिस्से पर स्पेन का कब्जा था आर वहां की भाषा स्पेनी हो गई, जो आज भी है। इस तरह स्पेन का अतीत प्रेरणादायक रहा है, लेकिन बहुत थोड़े समय तक क्योंकि स्पेन की महानता के भौतिक स्रोत उस देश में नहीं हैं।

पिरेनीज पहाड़ के दक्षिण में भूमध्यसागर, अटलांटिक महासागर और पुर्तगाल से घिरा इलाका पठारी है। समुद्र तट के इलाके को छोड़कर वहां कुछ भी नहीं उपजता। अब तक किसी महत्वपूर्ण खनिज का भी पता नहीं चला है। लेकिन यही गरीबी कभी कभी काम आ जाती है। यहां के लोग जब अपने घर में हार जाते हैं तो सैलानी होकर कहीं भी रोजी के लिए चले जाते हैं। स्पेनियों के नाविक-सैलानी बनने के पीछे एक यह भी कारण था।

अरबों की शक्ति जब बढ़ी तो उत्तरी अफ्रीका विजय करते करते वे स्पेन आए और फिर फ्रांस में बढ़ गए। वहां से तो वे खदेड़ दिए गए लेकिन स्पेन में वे सदियों तक बने रहे। उन्होंने खूबसूरत नगर बसाए, मस्जिदें बनवाईं, विश्वविद्यालय खोले। पराजय के बाद जब वे हटे तब भी 'मूरों' के रूप में एक मेहनतकश उत्तराधिकारी छोड़ गए।

पंद्रहवीं शताब्दी में स्पेन में दो प्रमुख राज्य थे कास्तील और अरागान। वहां क्रमशः इसाबेला और फर्डिनेंड राज्य करते थे। पुनर्जागरण के साथ भावनात्मक

स्तर पर राष्ट्रीयता की चेतना पनप ही रही थी। स्पेन के लोग भी इससे अछूते नहीं थे। जब इसाबेला और फर्डिनेंड का विवाह हो गया तो पति-पत्नी के राज्यों का एकीकरण स्वाभाविक था। बहुत दिनों तक यह व्यक्तिगत स्तर पर ही बना रहा लेकिन बाद में परिस्थितियों ने उसे स्थाई बना डाला।

चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में ईसाई जगत तुर्कों के बढ़ते प्रभाव से आक्रांत था। जहां पूरब में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और साम्राज्य की राजधानी वियेना तक खतरे में पड़ती जा रही थी, पश्चिम में स्पेन के सैनिकों ने मुसलमानों के सदियों पुराने प्रभाव का अंत कर दिया और ईसाई प्रभाव की पुनः-स्थापना कर दी। इस संघर्ष में तप कर स्पेनी समाज विशेषकर सैनिक निखर चुके थे। उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई थी। कट्टर ईसाई नीतियों के कारण स्पेनी समाज के दो सबसे बड़े उत्पादक तत्व मूर (मुसलमान) और यहूदी लोग आतंकित होकर भाग रहे थे लेकिन तभी नई दुनिया (अमरीका महाद्वीप) का पता चला और स्पेन देश की कमी विदेशों से पूरी करने में जुट गया। यूरोप के अन्य देश पूरी तरह संगठित नहीं थे और आंतरिक या आपसी संघर्षों में व्यस्त थे। ऐसे में स्पेन को पहल करने का मौका मिल गया और अमरीका के अधिकांश पर स्पेन का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इन प्रदेशों में सोने और चांदी की बहुलता थी। इस प्रकार स्पेन को एक कल्पवृक्ष मिल गया।

इन अनुकूल परिस्थितियों के साथ ही एक और बात स्पेन के पक्ष में थी। राष्ट्रीयता के बढ़ते दौर में हर राज्य अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। 'सही साध्य के लिए हर साधन सही है', इस दृष्टिकोण के प्रवर्त्तक, यूरोप के चाणक्य, मेकियावेली की पुस्तक 'द प्रिंस' शासकों की बाइबिल बन गई थी। इस समय विवाह का जितना राजनीतिक इस्तेमाल हुआ शायद कभी न हुआ हो। सारे यूरोप के राजघराने एक दूसरे से जुड़ने को तत्पर थे। इस क्षेत्र में भी इसाबेला और फर्डिनेंड की जोड़ी को सफलता मिली। यद्यपि उनके कोई पुत्र नहीं था लेकिन उनकी पुत्री का पुत्र चार्ल्स हैप्सबर्ग परिवार का राजकुमार था। इतिहास साक्षी है जितने राजा निस्संतान होते हैं साधारण व्यक्ति नहीं। वैवाहिक जाल में फंसे यूरोप के राजघरानों में ऐसा संयोग हुआ कि शासक मरते गए और निकटतम उत्तराधिकारी चार्ल्स घोषित होता गया। वयस्क होने के पहले ही वह स्पेन, नीदरलैंड्स, हैप्सबर्ग परिवार द्वारा शासित सारे क्षेत्र और अमरीका स्थित सारे उपनिवेशों का स्वामी हो गया। उत्तराधिकार में इतना बड़ा राज्य शायद ही किसी को मिला हो। अब औपचारिक रूप से पवित्र रोमन सम्राट बन जाने की देर थी। यद्यपि इस क्षेत्र में फ्रांस का शासक फ्रांसिस प्रथम और इंग्लैंड का शासक हेनरी अष्टम उसके घोर प्रतिद्वंद्वी थे। अंत में वह पद भी उसे मिल गया और चार्ल्स, सम्राट चार्ल्स पंचम के रूप में यूरोप का सबसे बड़ा सबसे शक्तिशाली और इसीलिए सबसे

अधिक परेशान शासक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

चार्ल्स पंचम

इतने सौभाग्यशाली व्यक्ति का जीवन कष्टमय हो सकता है इसकी आसानी से कल्पना नहीं की जा सकती है। पर यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। चार्ल्स दैत्याकार राज्य का स्वामी था और उसमें समस्याओं से जूझने की क्षमता और इच्छा दोनों थीं। लेकिन जीवन भर जूझने के बाद भी वह अपनी समस्याओं को घटा नहीं सका। वे बढ़ती ही गईं और थक कर उसे राज्य का परित्याग करना पड़ा। उसकी समस्याओं पर गौर करें तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

सबसे बड़ी बात तो यह कि इतना विविध और विस्तृत साम्राज्य और परस्पर संबंध के नाम पर बस यह कि शासक एक है। निश्चित था कि शासक का सबके प्रति एक जैसा लगाव नहीं था। हो भी कैसे ? वह अपने पूरे राज्य की भाषाएं तक तो जानता नहीं था। उसके राज्य में स्पेनी, डच, जर्मन, इटालियन जैसी चार प्रमुख भाषाएं और अनेक बोलियां थीं। अलग अलग क्षेत्रों की अपनी परंपराएं थीं। अपनी शासन प्रणाली थी। सबकी आर्थिक स्थिति एक जैसी नहीं थी। सभी चार्ल्स के शासक होने से एक जैसे खुश नहीं थे। ऐसे में, विपरीत दिशाओं में भागते घोड़ों के रथ पर बैठा चार्ल्स कितना भी योग्य सारथी क्यों न रहा हो, रथ को चला भी लेता तो कितनी दूर तक ? लड़खड़ाना, गिरना निश्चित ही था। इतने बड़े प्रदेश पर एक जैसा शासन थोप देता तो विद्रोह हो जाता और सब चलने देता तो आपस में समन्वय भी होना मुश्किल था। यातायात के साधन बहुत कम थे। नदियों, पहाड़ों और सागरों ने विभाजित कर रखा था उसके राज्यों को, और इनका आपस में संपर्क अनिश्चित था। वह स्वयं हर जगह एक साथ रह नहीं सकता था और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्रों में पहुंचने में महीनों लग जाते थे। ऐसे में वह अपने उत्तराधिकार के बोझ से ही दबा हुआ था।

जैसे इतना पर्याप्त न हो उसे अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सम्राट के चुनाव में वह अपने दोनों प्रतिद्वंद्वियों से जीता पर उनमें फ्रांसिस चुनाव हार कर युद्धों के माध्यम से निवटारा करना चाहता था। और वह था इतना बड़ा बेहया और लड़ाका कि हार स्वीकार करने को तैयार ही नहीं था।

दूसरी ओर तुर्कों का प्रभाव क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा था। कुस्तुनतुनिया का बांध टूट जाने से अब तुर्कों की ताकत निर्बाध गति से बढ़ती जा रही थी। सुलेमान महान जैसे योग्य शासक के नेतृत्व में तुर्क मध्य यूरोप तक पहुंचने लगे थे। उनको हरा पाने को कौन कहे, रोक पाना मुश्किल हो रहा था।

ऐसे ही वातावरण में चार्ल्स के ही साम्राज्य में मार्टिन लूथर ने भी विद्रोह की आवाज बुलंद की जिससे केवल चर्च ही नहीं, साम्राज्य का तख्ता भी हिलने लगा।

चार्ल्स इन सबसे एक साथ और अलग अलग जूझता ही रहा। दिन-रात व्यस्त रहकर उसने कुछ दिनों तक समस्याओं को नियंत्रित रखा लेकिन अंत में उसने हथियार डाल दिए।

समस्याएं : उसके शासन की शुरुआत में ही कठिनाई अंतर्निहित थी। इतना बड़ा साम्राज्य केंद्रीकरण पर ही टिक सकता था या फिर साम्राज्य में स्थित राष्ट्रीय इकाइयों को स्वायत्तता देने पर। राष्ट्रीय देशभक्ति सभी जगह इतनी विकसित नहीं हुई थी कि स्वायत्तता के आधार पर शासन चल सके। फिर भी इतनी विकसित तो हो ही गई थी कि चार्ल्स के साम्राज्य का विरोध करे। विशेष रूप से जर्मनी में विभिन्न राज्य सिर उठाने लगे। कभी सामंत सिर उठाते तो कभी राजा इसी में आर्थिक एकता स्थापित करने के प्रयत्न भी असफल हो जाते थे। उभरती हुई पूंजीवादी व्यवस्था कोई भी व्यवधान स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। धनिक लोग इतने शक्तिशाली हो चले थे—पूरा अर्थतंत्र उन्हीं के हाथ में था कि उनका दमन भी नहीं किया जा सकता था।

इसी बीच लूथर का प्रादुर्भाव हो गया। चार्ल्स पूरी तरह कैथोलिक था, इसीलिए लूथर के कार्यों को धर्म विरोधी समझता था। दूसरे पोप और उसके हित एक जैसे थे। इसलिए भी वह पोप विरोधी आंदोलन का दमन करना चाहता था। लूथर के आंदोलन को जर्मन शासकों का समर्थन मिलने से चार्ल्स को आंतरिक राजनीतिक खतरे का भी पता चल गया था। इसलिए लूथरवाद धार्मिक और राजनीतिक दोनों दृष्टियों से चार्ल्स के लिए एक विद्रोह था। उसका उसने दमन भी करना चाहा लेकिन वह सफल नहीं हुआ। 1521 में वर्म्स में लूथर न डरा और न ही उसे चुप किया जा सका। उसे कानून के संरक्षण से वंचित कर दिया गया। लेकिन एक तो चार्ल्स इस ओर पूरा ध्यान नहीं दे सका और दूसरे लूथर का समर्थन बढ़ता ही गया। इसलिए वह चाह कर भी लूथर या लूथरवाद का कोई नुकसान नहीं कर सका।

राज्य की प्रशासकीय समस्याएं अलग से सिर उठा रही थीं। जर्मनी के विभिन्न राज्यों की शासन परंपरा अलग थी तथा कास्तील और अरागान की अलग। नीदरलैंड्स तक में स्थानीय परंपराएं थीं। उनका उल्लंघन करना विद्रोह को न्योता देना था और उनका पालन करने का अर्थ था केंद्रीय शासन को कमजोर बनाना। इसी उधेड़बुन में वह कभी किसी क्षेत्र को पुचकारता, किसी को दबाता, किसी को कुछ छूट देता, किसी के अधिकार छीनता रह गया और शासन संभाल नहीं सका।

आर्थिक पक्ष कई कारणों से कमजोर था। एक तो उसे शासन संभालते ही युद्ध शुरू कर देना पड़ा जिसका सिलसिला अंत तक नहीं टूटा। युद्धक्षेत्र भी सीमित नहीं था, कभी फ्रांस की सीमाओं पर, कभी इटली में, कभी साम्राज्य की

पूर्वी सीमाओं पर। सेना का यातायात कठिन तो था ही, बेहद खर्चीला भी था। फिर वह एक शक्तिशाली नौसेना रखने के लिए भी मजबूर था क्योंकि अटलांटिक महासागर पार के उपनिवेशों की सुरक्षा उन्हीं पर आधारित थी, इंग्लैंड से संघर्ष की स्थिति होने के कारण भी नौसेना आवश्यक थी। इतने सारे खर्चे राजस्व से पूरे नहीं हो सकते थे क्योंकि कर व्यवस्था न केवल लचर थी, जैसी भी थी पूरी तरह लागू नहीं हो पाती थी। ऐसी स्थिति में सोना, चांदी उगलते उपनिवेश वरदान थे। बिना अर्जित किया, लूटा हुआ धन थोड़े दिन राहत देता रहा लेकिन इससे पूरी अर्थव्यवस्था कमजोर होती गई।

चार्ल्स और फ्रांस : ऐसी आंतरिक स्थिति के बावजूद चार्ल्स को जीवन भर युद्ध करना पड़ा।

सबसे पहले तो सम्राट के चुनाव में परास्त फ्रांसिस युद्ध के सहारे वह पा लेना चाहता था जो उसने वैसे खो दिया था। फ्रांसिस इटली में मिलान, उत्तर में नीदरलैंड्स और दक्षिण में नावार के प्रदेश पर फ्रांस का अधिकार स्थापित करना चाहता था। उसे कोई न कोई आधार भी मिल गया था इन पर अपना अधिकार जताने का। सबसे पहले उसने मिलान पर अधिकार कर लिया। लेकिन चार्ल्स पोप की सेना की मदद से फ्रांसिस को खदेड़ने में सफल हो गया। इटली और फ्रांस के दक्षिण में युद्ध चलता रहा और आखिर में फ्रांसिस की न केवल पराजय हुई बल्कि उसे समर्पण कर देना पड़ा। उसे स्पेन में कैद रहना पड़ा। बाइबिल को साक्षी मानकर उसने वायदा किया कि चार्ल्स के राज्य के किसी हिस्से पर वह नजर नहीं डालेगा। इस तरह वह छूट सका। लेकिन फ्रांस की सीमाओं में आते ही उसने पहला काम यह किया कि स्पेन में किए हुए वायदों को दवाव डालकर करवाया गया कार्य घोषित किया। उसने कहा : 'अब तो मैं राजा हूं। एक बार फिर मैं राजा बन गया हूं।' और उसने उन तमाम लोगों को संगठित करना शुरू किया, जो चार्ल्स की बढ़ती शक्ति से आतंकित थे। मिलान का शासक परिवार स्फारेजा और पोप स्वयं फ्रांसिस की मदद करने लगे।

अब युद्ध फिर अनिवार्य हो गया। लेकिन फ्रांसिस के मददगार स्वयं संगठित नहीं थे। नतीजा यह हुआ कि चार्ल्स की सेनाएं ही फिर बीस पड़ने लगीं। इसी बीच एक अजीब घटना घटी। सम्राट की इस सेना में अधिक लोग स्पेन और जर्मनी के थे। जब इन्हें रसद की कमी हुई तो बिना चार्ल्स के उकसाए सैनिकों ने रोम पर हमला कर दिया। रोम में सब था। लूटपाट महीनों चलती रही। सैनिक मौज भी करते रहे और जेब भी भरते रहे। पोप के संग्रहालय में सारी दुनिया की बहुमूल्य निधियां संगृहीत थीं। उनमें से पता नहीं कितनी गायब हो गईं। पोप भाग खड़ा हुआ। चार्ल्स पोप के व्यवहार से नाराज तो था, लेकिन उसने रोम की बर्बादी (सैक आफ रोम) योजना नहीं बनाई थी। लेकिन पोप को किए की सजा

मिल गई। यह देखकर वह खुश था। फ्रांसिस का मंसूबा भी पूरा नहीं हुआ था। इसलिए 1529 में कांब्रे की संधि हो गई और फ्रांसिस ने बरगंडी के विवादास्पद उत्तराधिकार के अलावा अन्य सारे अधिकार छोड़ दिए। उसने सम्राट की बहन से विवाह करने का भी वायदा किया, लेकिन क्या भरोसा ऐसे आदमी का?

उसने फिर चार्ल्स विरोधी संगठन बनाना शुरू कर दिया। स्काटलैंड, डेनमार्क और स्वीडन जो प्रोटेस्टेंट हो चले थे इसलिए चार्ल्स विरोधी थे, तुर्क, जिनसे चार्ल्स का लगातार संघर्ष चल रहा था, और लूथरवादी—अर्थात वह हर तरह के चार्ल्स विरोधी तत्वों को एकजुट करने में लग गया। छुटपुट लड़ाई चलती रही और सामंती युद्धों की तरह फ्रांसिस और चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात उनके उत्तराधिकारी लड़ते रहे। अंत में 1559 में कातो कांब्रेसी की संधि द्वारा शांति स्थापित हुई, जबकि फ्रांस ने सारे दावे छोड़ दिए। बदले में उत्तर पूरब में फ्रांस की सीमाओं का विस्तार स्वीकार किया गया। फ्रांस की सीमा राइन नदी के और करीब आ गई।

कुल मिलाकर इस संघर्ष से यह लाभ हुआ कि चार्ल्स की प्रभुता पर अंकुश लगा रहा और वह और अधिक सीमा विस्तार की बात नहीं सोच सका। उसके युद्ध में लगे रहने से लूथरवाद का प्रसार संभव हो सका और तुर्कों से मैत्री के कारण फ्रांस अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा मध्यपूर्व के क्षेत्रों में अधिक व्यापार कर सका। इस तरह अपनी उच्छृंखल नीति के बावजूद फ्रांसिस अपने देश का दूरगामी लाभ कर सका। पोप, चार्ल्स और फ्रांसिस तीनों चर्च के हिमायती थे। लेकिन इनके परस्पर लड़ते रहने से धर्म का खोखलापन और राजनीतिक स्वार्थों की महत्ता स्पष्ट होने लगी।

चार्ल्स और इंग्लैंड : फ्रांसिस और चार्ल्स के युद्धों से शक्ति के संतुलन की समस्या उठ खड़ी हुई। किसी एक के अत्यंत शक्तिशाली होने से सारे यूरोप को खतरा था। इंग्लैंड के शासक हेनरी का दाहिना हाथ था, टामस वूल्जे। वूल्जे अत्यंत महत्वाकांक्षी था और एक दिन स्वयं पोप बनना चाहता था। कार्डिनल तो वह था ही। उसने मौके से फायदा उठाना चाहा और चार्ल्स या फ्रांसिस की मदद करके इंग्लैंड को महत्वपूर्ण बनाना चाहा। पहले तो इंग्लैंड की सहानुभूति फ्रांसिस को मिली लेकिन उसका पलड़ा हल्का देखकर हेनरी चार्ल्स का समर्थक हो गया। वैसे भी उसकी पत्नी का चार्ल्स भतीजा था। लेकिन जब हेनरी ने कैथरिन को तलाक देने की बात सोची तो संबंध खराब होने लगे। इंग्लैंड की नीदरलैंड्स से मित्रता और पोप से संबंध विच्छेद होने के कारण संबंध बिगड़ते ही गए। लेकिन अंतिम दिनों में चार्ल्स और हेनरी के संबंध फिर सुधर गए थे। हेनरी की मृत्यु पर मेरी गद्दी पर बैठी तो चार्ल्स के पुत्र फिलिप से उसका विवाह हो गया। मेरी ने पोप से भी संबंध स्थापित कर लिए। इस प्रकार इंग्लैंड और स्पेन के

संबंध मधुर हो गए। लेकिन यह तो भुलावा था। कुछ ही दिनों में दोनों देशों में भयंकर संघर्ष शुरू हो गया जिससे स्पेन के पतन और इंग्लैंड के उत्थान का मार्ग प्रशस्त हुआ।

चार्ल्स और तुर्क : तुर्कों की बढ़ती बाढ़ में पूर्वी यूरोप के क्षेत्र एक एक कर डूबते जा रहे थे। कुस्तुनतुनिया के साथ सारा दक्षिण पूर्वी यूरोप डूब गया था। अब लहरें वियेना से टकराने लगी थीं। चार्ल्स का समकालीन तुर्क सम्राट सुलेमान महान तुर्की का सबसे शक्तिशाली सम्राट था। उसने अपने साम्राज्य का चतुर्दिक विस्तार किया। वह नाविक शक्ति को बहुत महत्व देता था। वह कहा करता था 'जो लहरों पर राज्य करता है वही धरती पर भी राज्य करेगा।' सामुद्रिक शक्ति का महत्व समझने वाले कुछ व्यक्तियों में से वह एक था। फ्रांस के साथ उसने समझौता कर लिया था। इसलिए पूरे भूमध्यसागर में तुर्क जहाज निर्बाध रूप से घूमते थे। इस तरह जल और थल दोनों मार्गों से तुर्क चार्ल्स के राज्य को आक्रांत किए हुए थे। चार्ल्स के भाई फर्डिनेंड के राज्य हंगरी पर कब्जा करने के बाद उन्होंने वियेना पर भी बमबारी शुरू कर दी थी। वियेना की रक्षा बहुत बहादुरी से की गई और उसका पतन नहीं हो सका। लेकिन अंततोगत्वा हंगरी पर तुर्की का कब्जा स्वीकार करना पड़ा। छुटपुट सामुद्रिक झड़पें होती रहीं। लेकिन इस दिशा में फैसला चार्ल्स के पुत्र फिलिप के शासनकाल में ही हो सका।

चार्ल्स और सुलेमान दोनों अपने चरमोत्कर्ष पर थे। दोनों की टकराहट में किसी एक का विशेष नुकसान नहीं हुआ। लेकिन यह निश्चित हो गया कि जहां तुर्क आक्रामक थे चार्ल्स को एक रक्षात्मक नीति अपनानी पड़ी।

चार्ल्स का मूल्यांकन : चार्ल्स ने वास्तव में कांटों का ताज पहना था। कभी वह सुख से नहीं रह सका। उसके शासनकाल में ही स्पेन का अधिकतम उत्थान हुआ। अमरीका महाद्वीप में दक्षिण के अधिकांश क्षेत्र स्पेन के कब्जे में आ गए और नई दुनिया में स्पेन सबसे बड़ा उपनिवेश बन गया लेकिन जितनी तेजी से उत्थान हुआ था उतने ही गहरे पतन के बीज पड़े थे। उसका साम्राज्य स्थाई नहीं हो सकता था।

इतनी जातियों और भाषाओं वाले साम्राज्य पर नियंत्रण रखना संभव नहीं था वह भी तब जब कि तुर्की, फ्रांस, इंग्लैंड हर तरफ से खतरा हो औरसाम्राज्य में राजनीतिक और धार्मिक कारणों से अशांति हो। स्पेन में बाहर से आने वाले धन के कारण लोग आश्रित होने लगे थे। श्रम करना छोड़ रहे थे। मूर और यहूदी भाग रहे थे। समाज खोखला हो रहा था। ऐसे में चार्ल्स थक कर हार गया, उसे अपना जीवन पूर्णतया असफल दिखाई देने लगा। उसने राज्य के परि-त्याग का फैसला ले लिया, जो वास्तव में एक साहसपूर्ण कार्य था। भीख मांगने वाला भी मरते दम तक अपनी गठरी चिपकाए रहता है, वह तो अपने समय के

सबसे बड़े साम्राज्य का मालिक था। छोड़ने से पहले उसने एक फैसला अवश्य किया। उसने देखा था कि सबसे बड़ी कमजोरी राज्य का विस्तार थी। उसने इसलिए राज्य का विभाजन कर दिया। स्पेन, नीदरलैंड्स, इटालियन राज्य और अमरीकी साम्राज्य उसने अपने पुत्र फिलिप को दे दिए और मध्य यूरोप के राज्य भाई फर्डिनेंड को। फर्डिनेंड ही बाद में सम्राट चुन लिया गया।

इस प्रकार 1556 में साम्राज्य से मुक्ति लेने के बाद एक सच्चे ईसाई का पवित्र जीवन बिताता हुआ वह दो वर्ष और जीवित रहा। सामान्य परिस्थितियों में यह केवल स्पेन का शासक होता तो शायद उसकी उपलब्धियां और महत्वपूर्ण होतीं। साधारण से अधिक योग्यता वाला चार्ल्स अपने कर्तव्यों के प्रति बहुत जागरूक था। अपनी सामर्थ्य भर वह उनका निर्वाह भी करता था। चर्च पर उसे बहुत विश्वास था। उसने कहा था: 'मैं अपना, राज्य, मित्र, शरीर, आत्मा सब कुछ चर्च के लिए न्यौछावर कर सकता हूं।' अपने पुत्र को भी उसने राय दी थी: 'संसार शंकाओं से भरा है, ईश्वर में विश्वास रखना और धर्म की रक्षा करना।" लेकिन यह भी सत्य है कि वह चर्च में सुधार का पक्षपाती था। मानववादी साहित्य से वह परिचित था और सहानुभूति भी रखता था। भाग्यवादी होते हुए भी विज्ञान में उसे रुचि थी। परस्पर विरोधी होते हुए भी इस बात में कोई विरोधाभास नहीं लगेगा क्योंकि आज भी विशेषकर भारत में, वैज्ञानिक भाग्यवादी होता है। वह समकालीन पुनर्जागरण की साहित्यिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का पोषक और संरक्षक था। लेकिन इन कार्यों के लिए उसे कम समय मिला। उसमें इतनी दूरदर्शिता भी थी कि घटनाओं का महत्व समझ जाता था। लूथर के विरोध के प्रारंभिक दिनों में उसने कहा था: 'लूथर इन पादरियों से जमकर लड़ेगा', और यह सच साबित हुआ। मध्य यूरोप में बढ़ती पूंजीवादी व्यवस्था को उसके शासन में बढ़ने का मौका मिला। अमरीका में स्पेन के उपनिवेश चिली से वेनेजुएला तक फैल गए और हर कहीं उसने कैथोलिक चर्च और अपने राज्य के कानून और व्यवस्थाएं लागू कीं। स्पेन और नीदरलैंड्स में लोग उसे प्यार और सम्मान देते थे। उसके विषय में हम यही कह सकते हैं कि 'न तो वह महान व्यक्ति था, न ही बहुत अच्छा आदमी लेकिन कुछ भी हो वह एक संभ्रांत, एक धार्मिक व्यक्ति तो था ही।' लेकिन वह अपनी महानता का ही शिकार हो गया और उसी के बोझ से दब कर रह गया।

फिलिप द्वितीय

फिलिप का शासनकाल विवादास्पद रहा है, यद्यपि उसके शासनकाल में ही स्पेन की सत्ता डगमगाने लगी थी, उसे स्पेनी इतिहास में बड़े प्यार के साथ याद किया जाता है। इसका कारण शायद यह हो कि उसे स्पेन से बेहद प्यार था और

उसकी तरक्की के लिए वह कुछ भी कर सकता था। उसे बहुत कट्टर कैंथोलिक कहा जाता है और यह माना जाता है कि उसके जीवन के दो ही आधार थे, स्पेन और चर्च। इनमें भी प्राथमिकता स्पेन को ही प्राप्त थी। यह दूसरी बात है कि स्पेन की भलाई के लिए उसने जो कार्य किए अंततोगत्वा उनसे उसके देश का नुकसान ही हुआ।

फिलिप बहुत मेहनती और लगन से काम करने वाला व्यक्ति था। उसके राज्य में शायद ही उससे अधिक कोई श्रम करता हो। उसकी आदत थी कि हर काम को व्यक्तिगत रूप से देखता था। लेकिन उसमें इतनी देर लगती थी कि वक्त पर कोई काम हो नहीं पाता था। उसके दरबार में नियुक्त वेनिस के राजदूत मोरोसिनी ने लिखा था इतने सारे लोगों पर शासन करने और किसी पर विश्वास न करने के कारण वह इतना व्यस्त रहता था कि लोग कहते थे, 'बाज आए ऐसे राज्य से।' काम इतना धीरे धीरे होता था कि कहावत मशहूर हो गई थी : 'अगर मौत स्पेन से आ रही हो तो मुझे अमर होना चाहिए।'

यह धीमापन इसलिए भी था कि वह अपने अतिरिक्त किसी पर विश्वास नहीं करता था। उसमें मुगल शासक औरंगजेब की प्रवृत्ति थी। औरंगजेब की तरह फिलिप कट्टर व्यक्ति था और अपने सिद्धांतों के लिए जीवन भर लड़ता रहा। औरंगजेब ही की तरह योग्य होते हुए भी यह सफल नहीं हुआ क्योंकि अकेले वह सब कुछ नहीं कर सकता था और दूसरों पर उसे विश्वास नहीं था। अपनी कट्टरता के ही कारण वह तत्कालीन कार्यों में अधिक व्यस्त रहा, स्थाई महत्व के कार्यों को उसने तरजीह नहीं दी।

वह ऐसे सिंहासन पर बैठा था जिसके पाए मजबूत नहीं थे। आर्थिक रूप से दिवालिया, राजनीतिक रूप से विघटित, धार्मिक रूप से अशांत राज्य को केवल व्यक्तिगत रूप से योग्य नहीं बल्कि दूरदर्शी और नेतृत्व के गुणों से संपन्न शासक की आवश्यकता थी। जिस राज्य में इतनी विविधता हो वहां कभी न कभी असहमति का होना स्वाभाविक था। लेकिन उसने असहमति को कभी बर्दाश्त नहीं किया। ऐसे में उसकी कठिनाइयों का बढ़ना स्वाभाविक था। मुगल शासक हुमायूं के बारे में एक उक्ति है : 'उसे विरासत में बहुत सारी कठिनाइयां मिली थीं जिन्हें अपनी ही गलतियों से उसने और बढ़ा दिया'। यह बात अक्षरशः फिलिप पर लागू हो सकती है। उसकी समस्याओं और उसकी नीतियों के विवेचन से बात स्पष्ट हो जाएगी।

आंतरिक नीति : सबसे पहले उसने घर को संभालने का कार्य शुरू किया। उसके राज्य में इतनी विविधता और विघटन था कि उसने निरंकुशता और एकरूपता के सहारे सब कुछ व्यवस्थित कर लेना चाहा। कास्तील और अरागान की प्रतिनिधि संस्थाओं (कोरतेस) को उसने कठपुतली बना डाला। उसने पुराने करों के

वारे में उनकी स्वीकृति लेने की आवश्यकता ही नहीं समझी। और नए कर लगाते समय वस उन्हें मुहर लगानी पड़ती थी। कानून वनाने का और सारा प्रशासनिक कार्य वह स्वयं कर लेता था। सामंतों को उसने शानशौकत और सजावट के लिए छोड़ दिया। नए मध्यवर्ग को उसने सहयोगी वनाया और उत्तरदायित्व के कार्य उन्हें ही सौंपने शुरू किए। सरकारी काम लिखित और व्यवस्थित रूप से होने लगा। लेकिन आज के दफ्तरों की तरह हर काम लालफीताशाही का शिकार हो गया। ठुमकती चलती फाइलों में वंधा कोई काम समय पर होता ही नहीं था। केंद्रीकरण इतना अधिक था कि किसी भी प्रकार का स्थानीय प्रशासन, नागरिकों या सामंतों द्वारा संभव ही नहीं था।

सबसे बड़ी कठिनाई तो आर्थिक क्षेत्र में थी। चार्ल्स के युद्धों ने खजाना खाली ही कर दिया था। अव राज्य के वहुत से क्षेत्रों में इतनी ही आमदनी होती थी कि प्रशासन का खर्चा चल जाए। कुछ तो आर्थिक दृष्टि से वोझ थे ही क्योंकि स्पेन एक पठारी और अनुपजाऊ प्रदेश है। अमरीका से धन आ सकता था और आता भी था लेकिन इसका अधिकांश लूटपाट और विदेशी पूंजीपतियों के हाथ चला जाता था। वैसे भी जव तक देश में ही उत्पादन का आधार मजवूत न हो वाहर से लाया हुआ धन केवल विलासिता वढ़ाता है और देश के अर्थतंत्र को दूसरों पर निर्भर बनाता है। देश की कृषि और उद्योग प्रमुख रूप से यहूदियों और मूर लोगों के हाथों में थे। राज्य की कट्टर कैथोलिक नीति के नाते इन पर जुल्म होता था और ये देश छोड़ कर भाग रहे थे। स्पेनी स्वयं उनका स्थान लेने को तैयार नहीं थे। जो संपन्न थे वे कर देते नहीं थे। जो जीवन की आवश्यकताएं जुटाने में व्यस्त थे उन्हीं पर कर का वोझ पड़ता था। ऐसी अनिश्चितता में निरंतर लड़े जा रहे युद्धों का खर्च···। ऐसे में हर तरह की विक्री पर दस प्रतिशत का कर 'अलकवाला' लगा हुआ था। इसके कारण वाजार की स्थिति और भी डांवाडोल थी।

जैसे आर्थिक और प्रशासकीय कठिनाइयां काफी न हों, उसने धार्मिक नेतृत्व की वात भी सोची। धर्म में वैसे भी उसकी रुचि थी लेकिन धर्म पूरे राज्य को एकरूपता प्रदान करने में भी सहायक हो सकता था। कैथोलिक चर्च में हुए सुधार के वाद एक नए जीवन का प्रवाह शुरू हुआ था। पोप के सहयोग से फिलिप ने चर्च के प्रसार और प्रोटेस्टेंट लोगों के दमन का वीड़ा उठाया। यूरोप में हर कहीं वह कैथोलिक लोगों का समर्थक और प्रोटेस्टेंट लोगों का विरोधी हो गया। चर्च का अलमवरदार होने के नाते उसे वहुत व्यापक स्तर पर संघर्ष करने पड़े—उसे एक साथ ही कई मोर्चों पर लड़ना पड़ा। ऐसी लड़ाई घातक होती है, यह सर्व-विदित है। इन तमाम कठिनाइयों में सबसे कठिन परीक्षा उसे नीदरलैंड्स में देनी पड़ी जिसमें वह पूर्णतया असफल हो गया।

फिलिप और तुर्क : वैदेशिक नीति में भी अनिश्चितता की नीति ने उसे इधर उधर गलत ढंग से फंसाए रखा। कहा जाता है कि यूरोप भूमध्यसागर, अफ्रीका और अमरीका में से किस घोड़े पर दांव लगाए, यह वह कभी नहीं समझ सका और दौड़ में कोई घोड़ा उसका नहीं हो सका। दौड़ खत्म हुई तो वह हारे हुए इन्सान की तरह हाथ मलता रह गया। स्पष्ट भाषा में यह भी कह सकते हैं कि उसमें प्राथमिकता बोध नहीं था कि कौन सा काम पहले किया जाना चाहिए कौन सा बाद में। अपनी ही नीतियों के जाल में वह इस तरह फंस गया कि कभी मुक्त नहीं हो सका।

फिलिप चर्च का कितना बड़ा झंडावरदार था इसका पता शीघ्र ही लग गया। तुर्कों ने दक्षिणी-पूर्वी यूरोप तो जीत ही लिया था, अब वे भूमध्यसागर में निरंतर अपना प्रभाव वढ़ाते जा रहे थे। इटली के व्यवसायी परिवारों के लिए खतरा वढ़ता जा रहा था। तुर्कों की जीत चर्च के हितों के भी विरुद्ध थी। नतीजा यह हुआ कि सारे कैथोलिक जगत के लोग मिलजुल कर तुर्कों का आतंक समाप्त कर देना चाहते थे। हर धनिक परिवार, हर शासक और सामंत ने इस अभियान की मदद की। सबसे अधिक सहयोग फिलिप ने ही दिया। पोप ने व्यक्तिगत रूप से आशीर्वाद दिया। अभियान ने सोलहवीं शताब्दी के जेहाद का रूप धारण कर लिया। संयोग से अभियान का नेतृत्व वहुत योग्य व्यक्ति डानजान के हाथ में था। लेपांटो की खाड़ी में भयंकर युद्ध हुआ और अधिकांश तुर्क नौसेना जलमग्न हो गई। 1571 एक निर्णायक तिथि बन गया। इस भयंकर पराजय से तुर्क कभी उभर नहीं सके और धीरे धीरे पतन के गर्त में गिरने लगे। लेकिन इस विजय को खूब प्रचार के साथ मानने वाले चर्च और फिलिप को उसी अनुपात में लाभ नहीं मिला। पोप ने सेना को विशेषकर डानजान को असाधारण ढंग से सम्मानित किया। लेकिन फिलिप को इसका कोई स्थाई लाभ नहीं मिला। कुछ ही वर्षों बाद उसे सामुद्रिक युद्ध में एक भयानक पराजय झेलनी पड़ी।

फिलिप और इंग्लैंड : फिलिप और इंग्लैंड के संवंध कुछ असाधारण परिस्थितियों में शुरू हुए। वह कट्टर कैथोलिक था और इंग्लैंड धीरे धीरे प्रोटेस्टेंट होता जा रहा था। लेकिन जैसे ही मेरी ट्यूडर इंग्लैंड के सिंहासन पर वैठी, उसने फिलिप से शादी कर ली। मेरी स्वयं भी कैथोलिक थी। इस तरह न केवल वह वल्कि पूरा देश फिलिप का पिछलग्गू हो गया। जैसे पूरा देश ही उसे दहेज में मिल गया हो। इंग्लैंड की अपनी कोई स्वतंत्र वैदेशिक नीति नहीं रह गई लेकिन मेरी बहुत दिन जीवित नहीं रही। एलिजावेथ के इंग्लैंड की महारानी होते ही परिस्थितियां विल्कुल विपरीत हो गईं।

एलिजावेथ एक कुशल राजनीतिक और महत्वाकांक्षी महिला थी। अपने और इंग्लैंड के भविष्य के विषय में उसकी अपनी योजनाएं थीं। ऐसे में जब

फिलिप ने उससे भी विवाह का प्रस्ताव रखा तो उसने इन्कार कर दिया। नारी की अस्वीकृति अपनी श्रेष्ठता के पोषक पुरुष को यों ही क्षुब्ध कर देती है। फिलिप को तो यह और भी बुरा लगा क्योंकि न केवल व्यक्तिगत स्तर पर वल्कि बृहत्तर संदर्भों में उसे अपनी नीतियां लड़खड़ाती नजर आईं।

एलिजावेथ के नेतृत्व में इंग्लैंड प्रोटेस्टेंट हो गया और यूरोप के अन्य प्रोटेस्टेंट लोगों की मदद करने लगा। जैसे फिलिप कैथोलिक लोगों का अपने को नेता समझता था, वैसे ही एलिजावेथ प्रोटेस्टेंट लोगों का नेतृत्व प्राप्त करने में सचेष्ट हो गई। अव तो खुली प्रतिद्वंद्विता का प्रश्न था। स्पेन के विरुद्ध विद्रोह करने वाले नीदरलैंड्स की एलिजावेथ ने मदद करनी शुरू कर दी।

स्पेन का अर्थतंत्र अव पूरी तरह अमरीका से आए धन पर आधारित हो चला था। यूरोप में भी नीदरलैंड्स ही स्पेन की आमदनी का स्रोत था। दोनों क्षेत्रों से स्पेन का स्थल संवंध नहीं था और सामुद्रिक मार्गों पर अंगरेज सामुद्रिक लुटेरों विशेषकर हाकिन्स और ड्रेक की तूती वोलती थी। लदे लदाए जहाज लूट लिए जाते थे। स्पेन का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो चला था। अव फिलिप के सामने एक ही चारा था—इंग्लैंड के साथ अंतिम रूप से फैसला।

इंग्लैंड के विरुद्ध लड़ने के लिए एक शक्तिशाली नौसेना की आवश्यकता थी। फिलिप ने भी सारी शक्ति दांव पर लगा दी और एक अजेय वेड़ा (इन्विसिविल अरमाडा) संगठित करना शुरू किया। 130 जहाज, 8,000 नौसैनिक और 19,000 सैनिकों के साथ वेड़ा चल पड़ा। इतना वड़ा वेड़ा इससे पहले शायद ही कभी अभियान पर चला हो। नीदरलैंड्स से भी सैनिक आकर मिलने वाले थे। लेकिन एलिजावेथ भी तैयार थी। उसने स्पष्ट कर दिया था कि यह इंग्लैंड के अस्तित्व का प्रश्न है। संकट काल में हमेशा ही इंग्लैंड का राष्ट्रीय चरित्र निखरता रहा है। सारे अंगरेज अपने विरोध भुला कर एक राष्ट्रीय संग्राम में लग गए। सामुद्रिक लुटेरों को भी सम्मानपूर्वक इस युद्ध में शामिल कर लिया गया। नतीजा यह हुआ कि 1588 में इंग्लैंड के जांवाज लड़ाकों ने छोटे छोटे किंतु तेज जहाजों के सहारे रास्ते में ही इस अजेय वेड़े को परास्त कर दिया। जो बचा खुचा वह एक वड़े तूफान में नष्ट हो गया। एक तिहाई लोग मुश्किल से बच कर लौट सके। यह एक भयंकर और निर्णायक पराजय थी। इसने इंग्लैंड और स्पेन दोनों के भाग्य का निर्णय कर दिया। इस पराजय के कुछ दिनों बाद अंगरेजों की नौसेना ने स्पेनी वंदरगाह कैडिज को जमकर लूटा और यह स्पष्ट हो गया कि स्पेन अंगरेजों के सामने असहाय हो गया है।

फिलिप ने अपनी सारी सामर्थ्य लगा दी थी। अव न उसके पास साहस बचा था और न साधन। उसका सम्मान भी ध्वस्त हो गया था। अमरीका के उपनिवेशों से धन आना वेहद अरक्षित हो गया था और कम ही होता जा रहा था।

स्पेन के पतन की गति तेज हो गई । दूसरी ओर इंग्लैंड के उभरते राजतंत्र को ऐसी शक्ति एवं सम्मान मिला जिससे प्रेरित होकर वह निरंतर प्रगति की ओर बढ़ता गया। कुछ ही दिनों में यह प्रसिद्ध हो गया कि 'लहरों पर अंगरेजों का राज्य है' ।

फिलिप और फ्रांस : चार्ल्स पंचम के समय फ्रांस और स्पेन के बाद हुए युद्धों का परिणाम यह हुआ कि फिलिप को कातो कांब्रेसी की संधि स्वीकार करनी पड़ी थी। जब फ्रांस में राजपरिवारों की आपसी कलह और धार्मिक संघर्ष के कारण एक गृहयुद्ध छिड़ गया तो फिलिप ने फ्रांस के कैथोलिक लोगों की मदद की। स्थिति यह थी कि फ्रांस में राजपरिवार के संबंधी नावार परिवार का राजकुमार हेनरी ही निकटतम उत्तराधिकारी था और वह प्रोटेस्टेंट था। इसलिए उसका उत्तराधिकार बहुतों को स्वीकार्य नहीं था। फिलिप भी तरह तरह की अड़चनें डालने लगा। लेकिन परिस्थितियों ने हेनरी का साथ दिया और वह फ्रांस का शासक हो गया । स्थिति संभलते ही उसने फिलिप से हिसाब चुकाने की ठानी और आखिर में थके हारे फिलिप को फ्रांस से भी वरवें की संधि करनी पड़ी। उसने हेनरी को फ्रांस के शासक के रूप में मान्यता दे दी। स्पेन को फिलिप के शासन के प्रारंभ की स्थिति को स्वीकार करना पड़ा। यहां भी फिलिप सारी कोशिशों के बावजूद कोई लाभ नहीं उठा सका।

फिलिप और पुर्तगाल : असफलताओं से घिरे फिलिप को एक दिशा में जरूर सफलता मिली पर वह भी स्थाई नहीं हो सकी। पिरेनीज पहाड़ के दक्षिण में स्थित आइबेरियन प्रायद्वीप में दो देश स्थित हैं, स्पेन और पुर्तगाल। इन दोनों में स्पेन अधिक बड़ा और सामर्थ्यवान था। बड़ा पड़ोसी जिस नजर से छोटे पड़ोसी को देखता है वह सर्वज्ञात है और फिर फिलिप जैसा पड़ोसी !

पुर्तगाल और स्पेन के राजपरिवारों में पहले से वैवाहिक संबंध थे। 1580 में पुर्तगाल का शासक निस्संतान मर गया। अब क्या था। सभी रिश्तेदार अपना हक जताने की कोशिश करने लगे। लेकिन इसके पहले कि कोई और आता फिलिप की सेनाओं ने सीमा पार कर ली और 60 वर्षों के लिए पुर्तगाल का अस्तित्व मिट गया। फिलिप के जीवन की शायद यह सबसे बड़ी सफलता थी। पुर्तगाल के उपनिवेश भी स्पेन को मिल गए और दक्षिण अमरीकी महाद्वीप पर स्पेन का झंडा लहराने लगा। फिलिप को मरते वक्त एक संतोष रहा होगा कि अपने देश के लिए कुछ तो कर गया।

यह सफलता स्थाई हो ही नहीं सकती थी। राष्ट्रीयता के बढ़ते जोर से पुर्तगाल कैसे मुक्त रह सकता था ? जब तक फिलिप जिंदा था पुर्तगाल के विद्रोही सर नहीं उठा सके लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के शुरू से ही पुर्तगाल के राजपरिवार, ब्रगांजा, के नेतृत्व में पुर्तगाली स्पेनी जुआ उतार फेंकने के लिए सन्नद्ध हो गए।

अंत में पतनोन्मुख स्पेन स्थिति को संभाल नहीं सका और पुर्तगाल 1640 में फिर एक वार मुक्त हो गया।

मूल्यांकन : फिलिप को स्पेन में आज तक सम्मानित नायक और अन्य देशों में एक खलनायक की तरह चित्रित किया जाता रहा है। वह नायक भी था और खलनायक भी। स्पेन की प्रतिष्ठा के लिए अपने ढंग से उसने सब कुछ किया। यह दूसरी वात है कि उसका विश्लेषण गलत था। उसकी नीतियां दूरदर्शितापूर्ण नहीं थीं। उसकी असफलताओं को भी स्पेनी सहानुभूति से देखता है। किसी भी शासक के लिए यह एक संतोष की वात हो सकती है। लेकिन वास्तविकता यह है कि वह एक कट्टर और धर्मांध शासक था जिसने अपने देश और अपने धर्म (कैथोलिक चर्च) को भी नुकसान ही पहुंचाया।

उसकी तुलना एक बार फिर औरंगजेब से करें तो वात स्पष्ट हो जाएगी। औरंगजेब जैसा कुशल और चरित्रवान शासक शायद ही कोई और हुआ हो। लेकिन अपनी धर्मांधता और अविश्वास के कारण एक साथ उसने बहुतों को अपना दुश्मन वना लिया। कई मोर्चों पर लड़ता हुआ जब वह मरा तो साम्राज्य खोखला हो चुका था। भले ही साम्राज्य 105 वर्षों तक और कायम रहा लेकिन उसका वास्तविक पतन उसके जीवनकाल ही में शुरू हो गया था। यही वात फिलिप के संबंध में भी कही जा सकती है। एक साथ इंग्लैंड, फ्रांस और तुर्कों से दुश्मनी और अपने ही देश में पहले मूर और यहूदी, फिर नीदरलैंड्स के निवासियों का क्षोभ, धर्म को हर कीमत पर मनवाने की जिद, कुल मिलाकर केवल क्षोभ ही बढ़ा। सुखी तो स्पेन में शायद ही कोई हुआ हो।

जहां तक अपने कर्तव्य के निर्वाह का प्रश्न है, वह अथक परिश्रम करता था। बात उसके अनुकूल हो रही हो तो वह मानवीय गुणों का भी प्रदर्शन करता था। लगन और आस्था इतनी कि सब कुछ स्पेन के लिए और भगवान के नाम पर करता था। इसलिए कुछ लोग उसे मासूम कह सकते हैं। लेकिन शासक की मासूमियत नहीं देखी जाती। केवल अपनी योग्यता पर विश्वास, केवल अपने धर्म, अपने देश के लिए सही गलत कूटनीति, युद्ध, दमन किसी भी माध्यम का सहारा लेने के कारण असहिष्णुता के क्षेत्र में भी उसने कीर्तिमान स्थापित किया। एक कट्टर नौकरशाह की तरह कागजी कार्यवाही पर उसे विश्वास था, और इस वैज्ञानिक युग में जब नौकरशाही चींटी की चाल से चलती है तो उस समय क्या स्थिति रही होगी, कितना असंतोष रहा होगा, यह कल्पनातीत नहीं है।

उसकी मृत्यु पर वेनिस के राजदूत ने अपनी सरकार को लिखा था : 'वह ऐसा शासक था जो लोहे (हथियार) के स्थान पर सोने (धन) से, शस्त्रों के स्थान पर बुद्धि से लड़ता था। उसने चुप बैठकर भी, वार्ताओं द्वारा, कूटनीति के माध्यम से वह सब प्राप्त किया जो उसके पिता ने युद्ध से प्राप्त किया था। लेकिन

उसकी नौकरशाह और निरंकुश प्रवृत्ति और स्थानीय स्वतंत्रताओं के अपहरण की नीति ने हर तरफ असंतोष को जन्म दिया था।' इस रपट में एक सहानुभूतिपूर्ण विवेचन था लेकिन यह निश्चित है कि फिलिप अपनी ईमानदारी और लगन के वावजूद अपने देश का भला नहीं कर सका।

नीदरलैंड्स का विद्रोह

मनुष्य ने अदम्य साहस से संसार में अनेक कीर्तिस्तंभ स्थापित किए हैं। उनमें से एक जीवंत उदाहरण है नीदरलैंड्स। फ्रांस के उत्तर और जर्मनी के पश्चिम में स्थित आज के वेल्जियम और हालैंड का वहुत वड़ा हिस्सा समुद्र की सतह से नीचा है। इसीलिए इसका नाम पड़ा था नीची जमीन 'नीदरलैंड्स'। लेकिन यहां रहने वालों का हौसला वहुत ऊंचा था। उन्होंने धीरे धीरे वांध (डाइक्स) वनाकर जमीन सुखानी शुरू की। एक हिस्सा सूखने पर वे थोड़ा आगे वढ़ जाते थे, यह क्रम अव तक जारी है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि यहां के लोगों ने समुद्र से लड़कर अपना देश छीना और वचाया है। उन्हें न केवल सागर बल्कि यूरोप की तीन वड़ी नदियों राइन, मज और शेल्ट से भी निरंतर लड़ते रहना पड़ा है। आज तो विज्ञान ने उन्हें पूरी तरह समर्थ वना दिया है लेकिन यह किस्सा तव शुरू हुआ था जव आदमी केवल हाथों से लड़ता था।

इस संघर्ष के लिए यहां के निवासियों ने बांधों और नहरों का सहारा लिया है। ऊंचे ऊंचे बांध और हजारों नहरें एक दूसरे को काटती हुईं, हरे-हरे दूर तक फैले मैदान, यही है इस क्षेत्र की दृश्यावली। ये नहरें बाढ़ आने पर पानी बांट लेती हैं, सिंचाई और यातायात के सवसे सस्ते साधन उपस्थित करती हैं। यही कारण है कि आज भी हालैंड नहरों और मैदानों का देश है। यहां के निवासी अपने अध्यवसाय और श्रम के लिए विश्वविख्यात हैं। सागर को उन्होंने नावों पर वैठकर भी नापा था। इसलिए ये बहुत कुशल नाविक थे। कुल मिलाकर अपने व्यवसाय के कारण उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति वहुत अच्छी वना ली थी। लेकिन लाभ उनसे ज्यादा उनके शासकों को होता था।

यह छोटा सा प्रदेश दक्षिण में फ्रांस और पश्चिम में जर्मन प्रभावों में रहा है। इस प्रदेश के निवासियों में एकदम दक्षिण के लोग केल्ट जाति के थे और फ्रांसीसी जैसी भाषा वोलते थे। यहां फ्रांसीसी संस्कृति का प्रभाव था। उत्तर के लोग ट्यूटान जाति के थे और जर्मन जैसी भाषा वोलते थे। दोनों क्षेत्रों की आर्थिक स्थिति में भी अंतर था। लेकिन अंतर स्पष्ट हुआ धार्मिक प्रभाव के कारण। उत्तर में जर्मन लूथरवाद का प्रसार तेजी से हुआ था जवकि दक्षिण कैथोलिक रह गया था। इस प्रकार नीदरलैंड्स एक होते हुए भी कुछ सूक्ष्म विभाजक तत्वों के कारण दो अस्पष्ट क्षेत्रों में बंटा हुआ था।

मध्यकाल से ही यहां कई रियासतें और रजवाड़े थे जिनसे यूरोप के बड़े-छोटे राजघरानों का दूर या निकट का संबंध था। पर यह क्षेत्र पूरी तरह से कभी अपने को परतंत्र नहीं समझता था। चार्ल्स पंचम को नीदरलैंड्स भी उत्तराधिकार में मिल गया था। उसने जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग यहीं बिताया था। वह यहां की भाषा बोलता था यद्यपि उसके शासनकाल ही में नीदरलैंड्स के निवासी यह महसूस करने लगे थे कि वे पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हैं और उनका शोषण हो रहा है। लेकिन चार्ल्स को उन्होंने बर्दाश्त किया। फिलिप के समय में भ्रम टूट गया और धीरे धीरे विद्रोह की आग प्रज्वलित होने लगी। इस विद्रोह के क्या कारण थे ?

विद्रोह के कारण : नीदरलैंड्स के नाविक और किसान यूरोप भर में अपने श्रम और साहस के लिए जाने-माने जाते थे। उनका देश हरा-भरा, उपजाऊ था ही, वे दूर दूर तक व्यापार करते थे। स्पेन जैसे बंजर देश के लिए ऐसे क्षेत्र पर प्रभुत्व होना एक वरदान था। स्पेन के शासक नीदरलैंड्स को 'कामधेनु' समझने लगे और नतीजा यह हुआ कि श्रम करता था नीदरलैंड्स का निवासी डच और फायदा उठाता था स्पेनी। कर व्यवस्था ऐसी थी कि यहां के लोगों पर ही अधिक बोझ पड़ता था। कोशिश यह की जाती थी कि स्पेन के हित पूरे हों, भले ही नीदरलैंड्स का नुकसान हो। जब युद्ध शुरू हुआ विशेषकर फ्रांस से तो कर बढ़ने लगे। नीदरलैंड्स की प्रतिनिधि सभा, स्टेट्स जनरल मनमाना कर लगाने के विरुद्ध थी। बाद में फिलिप ने प्रतिनिधियों की राय लेनी भी छोड़ दी। फिलिप के संबंध इंग्लैंड से खराब थे, इस कारण न चाहते हुए भी नीदरलैंड्स को इंग्लैंड से अनावश्यक प्रतिद्वंद्विता करनी पड़ती थी।

इस प्रकार धीरे धीरे स्पष्ट हो चला था कि स्पेन नीदरलैंड्स के साधनों पर निर्भर है और उसका जी भरकर शोषण करता है। यह चेतना बहुत दिनों तक चुप नहीं रहने देती। विरोध मुखर होने लगा। अन्य कारणों ने उसे और बढ़ाया।

लूथरवाद पहले ही नीदरलैंड्स पहुंच गया था। अब तो काल्वैंवाद का भी प्रभाव बढ़ने लगा। चार्ल्स के जमाने में ही धार्मिक न्यायालय द्वारा प्रोटेस्टेंट लोगों को नियंत्रित करने की कोशिश होने लगी थी। फिलिप के जमाने में तो धार्मिक आधार पर पूरी तरह दमन शुरू हो गया। धार्मिक न्यायालय किसी भी धार्मिक असहमति को जड़ से मिटा देने के लिए कृतसंकल्प था और जितने भी लोग अदालत में पेश किए जाते थे उनकी सुनवाई का नाटक होता था और ज्यादातर एक छोटा सा फैसला अर्थात सजा-ए-मौत सुना दिया जाता था। दमन से विरोध न कभी शांत हुआ है, न उस समय हुआ। ये लोग खुल कर विरोध करने लगे। ज्यों ज्यों दमन बढ़ा त्यों त्यों विरोध विद्रोह का रूप लेता गया।

विरोध के राजनीतिक कारण भी विद्यमान थे। नीदरलैंड्स पर शासन चाहे

जिसका रहा हो वहां के लोगों में एक प्रकार की स्वायत्त भावना हमेशा से थी। उनकी प्रतिनिधि सभाएं थीं और एक प्रकार की संसद भी थी स्टेट्स जनरल। विभिन्न प्रभावशाली परिवार थे जिनका अपने अपने क्षेत्रों पर बहुत असर था। स्पेन के प्रभुत्व में केंद्रीकरण शुरू हुआ। शासन स्पेन से होने लगा। स्थानीय संस्थाओं और व्यक्तियों का प्रभाव घटने लगा। फिलिप ने तो वहां जाना भी छोड़ दिया। उसके प्रतिनिधि गवर्नर की हैसियत से जाते थे और वहां के लोगों में बिना घुले-मिले शासन थोपने का प्रयास करते थे। यह स्पष्ट हो चला था कि नीदरलैंड्स स्पेन का उपनिवेश है। महत्वपूर्ण पदों पर बाहर के स्पेनी लोग नियुक्त होते थे। फ्रांस के विरुद्ध हुए युद्ध के जमाने से अब तो स्पेनी सेना भी यहां रहने लगी थी। स्पेन के लोग यहां के लोगों से रूप-रंग में बिल्कुल भिन्न थे। जैसे भारत में शासन करने वाले अंगरेज अपनी भिन्नता से प्रभाव जमा लेते थे वैसे ही स्पेनी करना चाहते थे। लेकिन वहां स्पेनी नीदरलैंड्स के निवासियों के मुकाबले में सांवला और छोटे कद का होता था और यह असम्मानजनक लगता था कि ऐसे लोग अपने से बेहतर लोगों पर शासन करें। अंगरेजों की तरह वे आम जनता से अलग 'सिविल लाइन्स' और 'छावनियों' में भी नहीं रहते थे। सड़कों पर निर्द्वंद्व घूमते नीदरलैंड्स की जनता को हर पल महसूस कराते थे कि वे परतंत्र हैं।

फिर भी चार्ल्स के जमाने तक बात निभ गई क्योंकि उससे एक भावात्मक लगाव जैसा था लेकिन फिलिप के शासन में हर तरह से खाई बढ़ती गई। फिलिप को यहां के लोगों से जरा भी सहानुभूति नहीं थी। वह इनके बारे में सर्वथा अनभिज्ञ था, शायद इसीलिए प्रशासन संबंधी एक के बाद दूसरी भूल करता रहा। उसका और नीदरलैंड्स का संबंध स्पष्ट रूप से शोषक और शोषित का हो गया। ऐसे में विद्रोह का होना स्वाभाविक था।

शासन के शुरू में ही फ्रांस से संधि हो जाने के बाद से फिलिप ने नीदरलैंड्स छोड़ा तो कभी नहीं लौटा। उसने अपनी सौतेली बहन पार्मा की मारगरेट को शासन का उत्तरदायित्व सौंपा था। वह यदि कुटिल सलाहकारों से न घिरी होती तो शायद बात न बिगड़ती। लेकिन उसके सलाहकारों को फिलिप ने कठोर शासन की आज्ञा दे रखी थी। आरेंज परिवार के विलियम और उसके जैसे अनेक स्थानीय शासकों में भारी असंतोष था कि उन्हें कुछ नहीं समझा जा रहा है।

विद्रोह पहले स्पेनी फौज की उपस्थिति और धार्मिक न्यायालयों के जुल्मों के विरोध के रूप में शुरू हुआ। सबसे पहले राजधानी ब्रूसेल्स में कुछ सामंतों ने घोषित किया कि धार्मिक न्यायालय 'ईश्वर का भी नाम बदनाम कर नीदरलैंड्स को बरबाद कर रहा है।' उन्होंने अपने मांग पत्र में राजा के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा। केवल शासन के तरीके का विरोध किया। लेकिन उन्हें 'भिखारी' कह कर

उनकी खिल्ली उड़ाई गई। वहीं उन्होंने इस मजाक को ही अपना हथियार बनाने का निर्णय ले लिया। उन्होंने भीख का कटोरा अपना प्रतीक मान लिया और अपने को भिखारी घोषित किया। सारे प्रदेश में शासकों की असम्मानजनक नीति का प्रचार हो गया और भिखारी शब्द को शासकों के प्रति व्यंग्य के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा। एक प्रतिनिधि-मंडल स्पेन भेजा गया।

इसी बीच काल्वैंवादियों ने उग्र रूप धारण कर लिया। उन्होंने चर्च पर प्रहार शुरू किया और मूर्तियां तथा तस्वीरें तोड़ डालीं। बहुत बड़ी संख्या में कलाकृतियां नष्ट-भ्रष्ट कर दी गईं। इतिहासकारों ने इसे 'मूर्तिभंजक रोष' की संज्ञा दी है। इससे फिलिप ने सबक नहीं लिया। उल्टे उसने प्रतिहिंसा की नीति अपनाई और अपने प्रसिद्ध सेनापति आल्वा के ड्यूक को प्रशासक बना कर भेजा।

आल्वा एक कट्टर और धर्मांध व्यक्ति था। शासक के रूप में उसने निरंकुश तरीका अपनाया। अपने दस हजार स्पेनी सैनिक की मदद से उसने हर तरह के विरोध का दमन कर देना चाहा। एक समिति (काउंसिल आफ ट्रबुल) बनाई गई जो अपने कारनामों की वजह से खूनी समिति (काउंसिल आफ ब्लड) कहलाने लगी। हजारों लोग मारे गए। बहुतों ने देश छोड़ दिया। विलियम तो स्थिति देखकर बच निकला था। लेकिन इगमंट जैसे अन्य प्रसिद्ध सरदार जिन्होंने विरोध किया था मारे गए। कर बढ़ा दिए गए। सारे उद्योग धंधे बंद हो चले। एक आतंक छा गया।

अब खामोश रहना संभव नहीं था। देश के सारे लोगों ने अपने आपसी विरोध भुला दिए और विलियम के योग्य नेतृत्व में संगठित विरोध शुरू हुआ।

विलियम आरेंज परिवार का शासक था। नीदरलैंड्स में उसके परिवार की सबसे अधिक प्रतिष्ठा थी। विलियम न तो बहुत बड़ा सेनापति था, न राजनेता लेकिन उसमें निस्सीम धैर्य और लगन थी। वह चुपचाप अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए सचेष्ट रहना जानता था। इसीलिए उसे शांत विलियम (विलियम, द साइलेंट) कहा जाने लगा था। वास्तविकता यह थी कि वह बहुत शांत प्रकृति का नहीं था, न ही शांतिप्रिय था क्योंकि उसे लगातार संघर्ष करना पड़ा। कुछ भी हो, उपर्युक्त समय पर उसने अपने देशवासियों को सराहनीय नेतृत्व प्रदान किया। उसके बारे में प्रसिद्ध था कि 'वह सब कुछ सुनता है और कुछ नहीं भूलता।' उसका सबसे बड़ा गुण था देश की सेवा में, बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के अपना सर्वस्व न्योछावर कर देना। उसने जितने भी साधन उपलब्ध थे उनके सहारे एक छोटी सी सेना बना कर मुक्तिसंग्राम छेड़ दिया। लेकिन आल्वा का आतंक इतना था कि उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो गई। इसी समय आल्वा ने एक और गलती की। उसने दशमांश (टेन्थ पेनी) नामक एक कर लगाया। किसी भी सामान पर चाहे वह रोज की आवश्यकताएं ही क्यों न हों, उसने दस प्रतिशत कर लगा दिया।

जीवन दूभर हो गया और क्षोभ बढ़ चला।

इसी समय डच सामुद्रिक लुटेरों ने अपने को सामुद्रिक भिखारी (वेगर आफ द सी) के नाम से संगठित किया और हमला करके ब्रिल नामक नगर पर अधिकार कर लिया। सारे देश में बिजली सी कौंध गई। स्वतःस्फूर्त विद्रोह शुरू हो गए। हालैंड और जीलैंड प्रांतों से स्पेनी सैनिक और शासक मार भगाए गए। उन्होंने विलियम को अपना शासक (स्टाडहोल्डर) नियुक्त किया और विद्रोह संगठित ढंग से आगे बढ़ने लगा गया।

आल्वा ने भयंकर दमन शुरू किया। कई स्थानों पर स्पेनी सैनिकों ने नृशंस अत्याचार किए। कई नगर फिर से जीत लिए गए लेकिन अब पूरी तरह विद्रोह का उन्मूलन कर पाना संभव नहीं था। फलतः 6 वर्षों के क्रूर शासन के वाद असफल आल्वा को वापस बुला लिया गया।

इसके उत्तराधिकारी के रूप में रेकजेंस को भेजा गया जो अपेक्षतया गंभीर प्रकृति का व्यक्ति था। उसने रक्त परिषद को भंग कर दिया और क्षमादान की घोषणा की। लेकिन बात बहुत आगे बढ़ गई थी। आल्वा के पहले तक यह नीति चल सकती थी। अव तो संघर्ष शुरू हो चुका था। लीडेन नामक नगर पर स्पेनी घेरा डाले हुए थे। कोई चारा न देखकर विलियम ने बांधों को काट देने की आज्ञा दे दी। तूफानी लहरों ने सबको तहस-नहस कर डाला। स्पेनी सेना को भी, जो बच सके, भागना पड़ा। इसी समय रेक्जेंस की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी के आने में देर थी। नियंत्रणविहीन स्पेनी सेना ने गजब ढा दिया। उसने जी भरकर लूट-खसोट की और उसका रोष (स्पैनिस फ्यूरी) परोक्ष रूप से नीदरलैंड्स के सभी निवासियों के संगठन का कारण बन गया।

अब तक विद्रोह उन्हीं क्षेत्रों में व्याप्त था जो प्रोटेस्टेंट थे। अब तो हर तरह के लोगों ने मिलकर 1576 में घेंट नामक नगर में एक समझौता (पैसीफिकेशन आफ घेंट) कर लिया। उन्होंने घोषणा की कि जब तक धार्मिक न्यायालय समाप्त नहीं किए जाते, स्पेनी सैनिक वापस नहीं बुलाए जाते और उन्हें उनके अधिकार वापस नहीं किए जाते, विद्रोह चलता रहेगा। स्पेन देश के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था, लेकिन वह क्षणभंगुर साबित हुआ।

रेक्जेंस के स्थान पर लेपांटो का विजेता डानजान भेजा गया लेकिन शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। तब पार्मा का ड्यूक अलेक्जेंडर फार्नेस गवर्नर बनाकर भेजा गया और उसने दंड नहीं भेद की नीति से काम लेना शुरू किया। नीदरलैंड्स के उत्तरी दक्षिणी क्षेत्रों के बीच के अंतर पर प्रकाश डाला जा चुका है। अलेक्जेंडर ने दक्षिण के कैथोलिक लोगों को बहकाने में सफलता पाई। 'भेद डालो और शासन करो' की नीति का परिणाम यह हुआ कि दक्षिण के प्रांतों ने आरा का संघ (लीग आफ आरा) बना लिया और विलियम को मजबूरन केवल प्रोटेस्टेंट

लोगों का अलग से यूट्रेक्ट का संघ (यूनियन आफ यूट्रेक्ट) बनाना पड़ा। विभाजन से विद्रोही आंदोलन निश्चित रूप से कमजोर पड़ गया था। लेकिन अब उसमें और एकरूपता आ गई।

विलियम ने जहां तक हुआ खुली लड़ाई से बचने की नीति अपनाई क्योंकि अलेक्जेंडर की शक्ति ऐसी थी कि वह उत्तर के प्रांतों को सैनिक बल के आधार पर जीत सकता था। लेकिन विलियम ने हर प्रोटेस्टेंट देश से मदद लेते हुए व्यावसायिक कार्यों को रुकने नहीं दिया।

अब स्पष्ट हो चुका था कि विद्रोह की रीढ़ विलियम है। उसे रास्ते से हटाना आवश्यक था। उसे घूस देने की कोशिश की गई। असर नहीं हुआ। तब किसी भी सही गलत ढंग से उसे खत्म करना ही था। फिलिप ने उस पर से कानून का संरक्षण हटा लिया। अब उसे कोई कुछ कर दे कानून उसका कुछ नहीं करता। साथ ही उसे समाप्त करने वाले के लिए पुरस्कार की व्यवस्था भी कर दी गई। अब क्या था ? किसके दुश्मन नहीं होते ? और किसे प्रलोभन नहीं होता ? नतीजा यह हुआ कि 1584 में एक कैथोलिक ने विलियम की हत्या कर दी।

एक ओर विलियम की हत्या ने कुठाराघात किया दूसरी ओर अलेक्जेंडर की सेनाएं बढ़ती ही जा रही थीं। लेकिन विलियम के युवा पुत्र मोरिस ने अपने शौर्य से, उत्तरी प्रांतों ने अपनी दृढ़ता और एलिजाबेथ की सामयिक मदद ने विद्रोह को मरने से बचा लिया।

इंग्लैंड की सेना पहली बार खुले आम लोगों की मदद के लिए नीदरलैंड्स पहुंची। फिलिप ने अपना सारा क्रोध इंग्लैंड पर उड़ेल दिया लेकिन उसके अजेय बेड़े के परास्त होने से नीदरलैंड्स पर दबाव पड़ना कम हो गया। फ्रांस में हेनरी चतुर्थ जब शासक हुआ तो उसने फिलिप के विरोधियों की मदद की। इधर मोरिस ने अपने शौर्य से हारे स्थान वापस लेने शुरू कर दिए।

फिलिप ने जीते जी नीदरलैंड्स नहीं छोड़ा। उसकी मृत्यु के बाद भी फिलिप के पुत्र ने युद्ध बंद नहीं किया। लेकिन अब मोरिस का सितारा बुलंदी पर था। वह लगातार जीत रहा था। स्पेनी शासन का अंत हो चुका था लेकिन हार मानना संभव नहीं था। इसलिए 1609 में बारह वर्षों के लिए एक युद्ध स्थगन समझौता हो गया। इसी बीच तीस वर्षीय युद्ध शुरू हो गया और नीदरलैंड्स के उत्तरी प्रांतों ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। अब सवाल केवल एक सच्चाई को स्वीकार करने का था। पतनोन्मुख स्पेन तीस वर्षीय युद्ध में और पिटा। जब वेस्टफेलिया की संधि हुई तो हालैंड नामक नए राज्य के जन्म को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। एक स्वतंत्रता संग्राम को विजय मिली।

इस प्रकार नीदरलैंड्स के विद्रोह की सफल परिणति ने यूरोप के एक नए और महत्वाकांक्षी राष्ट्र को जन्म दिया। दक्षिणी नीदरलैंड्स स्पेन और बाद में

आस्ट्रिया का गुलाम बना रहा। बाद में बेल्जियम नाम से उसे भी स्वतंत्रता मिली। व्यापारियों और नाविकों के देश हालैंड ने न केवल अपनी आजादी हासिल की थी बल्कि दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्य को नीचा दिखाया था और स्पेन के पतन को अनिवार्य बना दिया था। कुछ ही समय में हालैंड एक शक्तिशाली देश बन गया। उसने पहले व्यवसाय और फिर सैनिक शक्ति के सहारे जापान से ब्राजील तक अनेक उपनिवेश बना लिए। आज का नगर न्यूयार्क भी पहले उसके कब्जे में था और उसने अपनी राजधानी एम्सटर्डम के नाम पर उसका नाम न्यू एम्सटर्डम रखा था। एम्सटर्डम का ऐश्वर्य बढ़ता ही गया और वह वित्तीय मामलों में अपने बैंकों द्वारा सारी दुनिया पर प्रभाव रखने लगा। वह हीरों के व्यापार के लिए दुनिया की सबसे बड़ी मंडी बन गया।

व्यवसाय में तो हालैंड का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण था ही रचनात्मक क्षेत्रों में भी वह आगे बढ़ता गया। साहित्य और कला में डच लोगों ने बहुत प्रसिद्धि पाई। ग्रोशियम अंतर्राष्ट्रीय कानून का प्रवर्तक कहा जाने लगा। फ्रांसिसी दार्शनिक देकार्त बहुत दिनों तक हालैंड को ही अपनी रचना भूमि बनाए रहा। महान दार्शनिक स्पिनोजा भी डच था। हाल्स और रेंब्रांट जैसे कलाकार आज भी विश्व की विभूतियों में समझे जाते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में बनी यह परंपरा आज भी बनी हुई है। आज उपनिवेश नहीं रहे लेकिन छोटा सा देश हालैंड दुनिया के सबसे संपन्न और व्यवस्थित देशों में से है।

स्पेन का पतन

फिलिप की मृत्यु के बाद सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन लगातार पतनोन्मुख होता गया। फ्रांस के उत्कर्ष काल में स्पेन का महत्व घटता ही गया। तीस वर्षीय युद्ध के दौरान रिशलिउ की भूमिका ने पूरे हैप्सवर्ग परिवार का महत्व घटाना शुरू कर दिया था। वेस्टफेलिया की संधि ने इस वंश के प्रभुत्व को विघटित और अपमानित किया। अंत में लूई चतुर्दश के शासन काल में जब फिलिप चतुर्थ निस्संतान मरा तो उत्तराधिकार की होड़ और उससे उत्पन्न युद्धों में फ्रांस के लूई चतुर्दश को सफलता मिली। उसके वंश का राजकुमार आंजू स्पेन का शासक मान लिया गया। इस प्रकार स्पेन में भी बूर्बों वंश की स्थापना हो जाने से चार्ल्स पंचम और फिलिप द्वितीय का वंश ही समाप्त हो गया। शायद स्पेन के सबसे स्वर्णिम दिनों के समय शासक हैप्सवर्ग परिवार के अंतिम योग्य और देशभक्त शासक होने के कारण ही फिलिप द्वितीय स्पेन के इतिहास का लोकप्रिय शासक माना जाता है।

स्पेन एक धूमकेतु की तरह यूरोप के क्षितिज पर उदित हुआ। उसके प्रकाश की जगमगाहट फैल गई लेकिन सब कुछ अस्थाई था। एक शताब्दी भी नहीं बीती थी

कि स्पेन में उत्कर्ष का अस्तित्व ही मिट गया। केवल इतिहास में याद बाकी रह गई। ऐसा क्यों हुआ ?

वास्तविकता यह है कि स्पेन में महानता का आधार ही नहीं बना। किसी देश की वास्तविक महानता वहां की स्थाई आर्थिक उपलब्धियों पर निर्भर करती है। स्पेन को प्रकृति ने गरीब बनाया है। वहां के निवासियों ने भी अपने श्रम से वहां की कमी पूरी करने की कोशिश नहीं की। ऐसा लगता है कि यह मात्र संयोग था कि सोलहवीं शताब्दी में अचानक स्पेन यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश हो गया। इस संयोग से हम परिचित हैं। इसी अचानक प्राप्त महानता के बोझ से स्पेन दबा रहा और इतनी बुरी तरह उलझा कि जो स्वाभाविक उन्नति हो सकती थी उससे भी वंचित रह गया।

कास्तील और अरागान के विलय के बाद स्पेन का राष्ट्रीय एकीकरण संपन्न भी नहीं हुआ था कि वह एक बहुत बड़े साम्राज्य की उलझनों में फंस गया। इंग्लैंड और फ्रांस राष्ट्रीय एकता और व्यवस्था संपन्न करने के बाद औपनिवेशिक अभियान की दिशा में उन्मुख हुए थे। स्पेन में सब एक साथ शुरू हो गया। परिणाम यह हुआ कि स्पेन का पहला और अंतिम सम्राट चार्ल्स, सम्राट अधिक स्पेन का राजा कम रह पाया। यातायात के साधनों के अभाव में इतनी सारी भाषाओं और जातियों पर शासन करना एक ऐसा सरदर्द था जिसका कष्ट स्पेन को ही उठाना पड़ा। स्पेन की बहुतेरी कठिनाइयां महज इसलिए थीं कि उसका शासक सम्राट था और साम्राज्य के कारण उसे तमाम दुश्मनों से लोहा लेना पड़ता था। ऐसा न होता तो तुर्कों और लूथर से स्पेन को बहुत कुछ नहीं लेना-देना था। नीदरलैंड्स का बोझ न आ पड़ा होता तो सारी शक्ति वहां का विद्रोह दबाने में न लगानी पड़ती। इसी तरह उपनिवेशों का धन लूटने के कारण ही इंग्लैंड से दुश्मनी बढ़ी। अंत में यह भी कह सकते हैं कि गरीब स्पेन के धनी उपनिवेशों ने उसे गरीब ही बनाए रखा। बाहर से आए धन ने स्पेन को आलसी बनाए रखा। और चूंकि वह धन पूंजी बन कर उत्पादक कार्यों में नहीं लगा, वह खर्च होता रहा और जब धन कम आने लगा या उपनिवेश आजाद हो गए तो स्पेन बेसहारा हो गया। इसलिए जो स्पेन की महानता के कारण दिखाई पड़ते हैं वे ही उसके पतन के वास्तविक कारण सिद्ध हुए।

स्पेन में प्राकृतिक साधनों की कमी थी लेकिन मनुष्य उसे पूरी कर सकता था। आधुनिक जापान इस बात का प्रमाण है। जापान में लोहा, कोयला, पेट्रोलियम, यूरेनियम कुछ भी नहीं होता पर वहां का निवासी, मानवीय साधन, वहां की शक्ति का आधार है और जापान की आर्थिक प्रगति की रफ्तार दुनिया में सबसे तेज है। स्पेन के मानवीय साधन थे वहां के अनुशासित और बहादुर सैनिक, परिश्रमी मूर और चतुर यहूदी। इनमें से किसी का सही इस्तेमाल न हो सका।

सैनिक अनावश्यक या थोपे हुए युद्धों में लगे रहे और धार्मिक असहिष्णुता के कारण मूर और यहूदियों का दमन हुआ जिनमें से अधिकांश देश छोड़कर चले गए। बचे हुए स्पेनी इतने पराश्रित थे कि समाज की आर्थिक गतिविधि को संभाल नहीं सके।

स्पेनी समाज का जीवन पूरी तरह संगठित नहीं हो सका। कास्तील और अरागान का राजनीतिक जीवन भिन्न था। उनके विलय पर कोई एक स्वीकृत व्यवस्था नहीं लागू हो पाई। सामंती प्रवृत्ति का इतना जोर था कि वास्तव में स्पेन का आधुनिकीकरण हो ही नहीं पाया, आज तक नहीं हो सका है। पुनर्जागरण के प्रभावों से स्पेन पूरी तरह नहीं बदला। इसलिए सामाजिक और आर्थिक उद्वेलन नहीं हो सका। कृषि और उद्योग की वही पुरानी व्यवस्था चलती रही और उस पर भी पूरा ध्यान नहीं दिया जा सका। बाहर के व्यापारी और बैंकर स्पेन में लाभ उठाते रहे क्योंकि स्पेनी स्वयं उस के लिए तैयार ही नहीं था।

स्पेन के शासकों की धार्मिक असहिष्णुता की नीति ने बहुत नुकसान पहुंचाया था। चार्ल्स के समय में सम्राट होने की वजह से और फिलिप के समय में जान-बूझकर स्पेन को कैथोलिकों का नेता होना पड़ा। इसके कारण अपने राज्य में भीषण दमन और अन्यत्र भयंकर युद्ध की दुहरी चक्की में स्पेन पिसता रहा। धार्मिक दमन ने ही नीदरलैंड्स के विच्छेद की पृष्ठभूमि बनाई, एक विनाशकारी आतंक को जन्म दिया और स्पेन के आर्थिक ढांचे को डगमगा दिया।

जिन्होंने इंग्लैंड और फ्रांस जैसे देशों की महानता की नींव रखी, वे उपनिवेश ही स्पेन के लिए बोझ बन गए। स्पेन की आर्थिक स्थिति ही ऐसी नहीं थी कि विकास के लिए उपनिवेशों का शोषण कर सके। स्पेन के उपनिवेशों में केवल धर्मप्रचार होता रहा और लोग ईसाई बनाए जाते रहे। इंग्लैंड और फ्रांस के उपनिवेशों में धर्मप्रचार भी हुआ लेकिन विशेष रूप से बाजार बनाए गए और वक्त आने पर राजनीतिक प्रभुत्व भी कायम किया गया। इनके लिए उपनिवेश विशुद्ध रूप से आर्थिक लाभ के लिए थे। स्पेन ऐसी स्थिति में था ही नहीं। उसे तो जैसे अमरीकी उपनिवेशों से पेंशन मिलती रही जिसे वह मौज उड़ाने में खर्च करता रहा। परिणाम यह हुआ कि पूरा समाज विलासी, आलसी और भ्रष्ट हो गया। स्पेन यदि पूंजीवादी हो गया होता तो उपनिवेशों से लाभ होता लेकिन सामंती स्पेन के लिए उपनिवेश कैंसर हो गए।

स्पेन के शासकों की भी जिम्मेदारी कम नहीं थी। विडंबना यह कि सोलहवीं शताब्दी के दोनों शासक योग्य थे और उन्हें अपने देश से प्यार था पर दोनों ने अपनी अदूरदर्शिता से अपने देश को कमजोर बनाया। चार्ल्स तो स्पेन का राजा होने का उत्तरदायित्व पूरा ही नहीं कर सका। इतनी सारी समस्याओं में वह उलझा रहा कि स्पेन के हित दबते चले गए। फिलिप केवल स्पेन के लिए चिंतित

था लेकिन वह समझ ही नहीं सका कि वास्तविक लाभ कैसे हो सकता है। गौरव किसी देश की वास्तविक निधि नहीं होता। वास्तविक उपलब्धियां हों तो गौरव मिल ही जाता है। फिलिप ने उल्टा ही काम किया। गौरव का प्यासा वह भागता ही रहा और मृगतृष्णा का शिकार हो गया। गौरव की तलाश में देश की तात्कालिक आवश्यकताओं और स्थाई उन्नति पर उसने ध्यान ही नहीं दिया। जिस नौकरशाही तंत्र का जाल उसने बुना उसमें सामान्य प्रशासन भी ठीक से नहीं हो सकता था। केवल भ्रष्टाचार पनप सकता था, असंतोष बढ़ सकता था। शासनतंत्र को जंग लग सकती थी और वही हुआ।

जब कभी राजनीति और धर्म की खिचड़ी पकी है, विनाश हुआ है। धर्म-सुधार ने बहुत कुछ इसे स्पष्ट भी किया था लेकिन फिलिप ने कभी ध्यान नहीं दिया। वह चर्च और स्पेन दोनों का भला एक साथ करना चाहता था। कभी कभी वह स्पेन को प्राथमिकता देता भी था तो सवाल इतने उलझे हुए थे कि लाभ हो नहीं पाता था। उसमें इतनी योग्यता थी कि यदि उसने केवल स्पेन के हित में काम किया होता तो स्थिति इतनी बिगड़ने नहीं पाती। लेकिन वह तो चर्च की लड़ाई लड़ता रह गया।

शासक के लिए समय की पहचान बहुत आवश्यक होती है। सोलहवीं शताब्दी में प्रगति की शक्तियां थीं, मध्यवर्ग, पूंजीवाद, सामुद्रिक शक्ति, राष्ट्रीयता आदि। इन्हें जिन शासकों ने पहचाना और बढ़ावा दिया वे आगे निकल गए। स्पेन के शासकों ने इनका महत्व ही नहीं समझा। स्पेनी समाज सामंती ही रह गया और मध्यवर्ग का पूरा विकास ही नहीं हो पाया। सामुद्रिक शक्ति के सहारे ही स्पेन को उपनिवेश मिले थे। लेपांटो की विजय मिली थी, फिर भी उसका महत्व नहीं समझा गया। अटलांटिक और भूमध्यसागर के तटों की रक्षा के साथ स्पेन को नीदरलैंड्स की रक्षा करनी होती थी, उपनिवेशों से यातायात सुरक्षित रखना पड़ता था। लेकिन स्पेन की नौसेना स्थिर रह गई जबकि अन्य देश इस क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गए।

इस तरह हम यह भी कह सकते हैं कि स्पेन में आधुनिकता की प्रेरक शक्तियों को प्रोत्साहित और संगठित नहीं किया गया। इस प्रकार प्रतिद्वंद्विता के युग में अन्य प्रगतिशील देशों से पिछड़ जाना स्वाभाविक ही था। यूरोप के अन्य देश आगे बढ़ते चले गए और स्पेन आज भी आर्थिक विपन्नता और राजनीतिक ताना-शाही के नीचे दबा कराह रहा है।

6

फ्रांस का उत्कर्ष

दुनिया के महान देशों की गणना उनकी सैनिक और आर्थिक शक्ति के आधार पर की जाती है। फ्रांस इस दृष्टि से भी कई शताब्दियों तक महान रहा। लेकिन उसकी वास्तविक महानता वहां की सांस्कृतिक उपलब्धियों के कारण है। इसका एक स्थूल सा उदाहरण इस बात से दे सकते हैं कि द्वितीय महायुद्ध के बाद जब राष्ट्रसंघ बना तो उसका केंद्र सबसे शक्तिशाली देश अमरीका के सबसे बड़े नगर न्यूयार्क में बना और उसी राष्ट्रसंघ की सांस्कृतिक शाखा 'यूनेस्को' का केंद्र फ्रांस की राजधानी पेरिस को बनाना पड़ा।

पिछली तीन शताब्दियों से साहित्य, कला और विचारों के क्षेत्र में फ्रांस अग्रणी रहा है। जहां तक सौंदर्यबोध का प्रश्न है, रहन-सहन, आचार-व्यवहार के तौर-तरीकों के लिए पहले सारा यूरोप और बाद में सारा विश्व फ्रांस की ओर देखता रहा है। वस्त्राभूषणों के मामले में हर साल दुनिया की नजर लगी रहती है कि देखें इस वर्ष फैशन का क्या रुख है? आधुनिक चित्रकला का इतिहास फ्रांसीसी चित्रकला का इतिहास है। साहित्य की विधाओं में फ्रांसीसी साहित्यकारों की नकल होती रही है। साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार सबसे अधिक फ्रांसीसी साहित्यकारों को ही मिला है। फ्रेंच दार्शनिकों ने औरों से आगे की ही बात सोची है। रही राजनीति की बात तो लूई चतुर्दश से राष्ट्रपति दगाल तक एक शक्तिशाली राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीति के लिए फ्रांस जाना जाता रहा है। ऐसा कैसे हुआ? यह प्राथमिकता सहज ही में नहीं मिली। इसके पीछे सदियों का इतिहास है। फ्रांस के इतिहास की तीन शताब्दियों की प्रमुख प्रवृत्तियों और घटनाओं का सर्वेक्षण करने पर ही फ्रांस का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा।

फ्रांसिस प्रथम (1515-1547): पुनर्जागरण और धर्मसुधार काल में फ्रांस का शासक फ्रांसिस प्रथम था। इतिहास में उसके उल्लेख के दो ही आधार हैं—उसकी चार्ल्स से प्रतिद्वंद्विता और फ्रांस में नवयुग के प्रारंभ में उसकी भूमिका।

समकालीन कई शासकों की तरह वह भी पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट बनना चाहता था। जब चार्ल्स पंचम सम्राट चुन लिया गया तो इंग्लैंड के शासक

हेनरी अष्टम ने अपनी हार मानकर स्थिति को स्वीकार लिया लेकिन फ्रांसिस जिद्दी ही नहीं वेहया भी था। उसने कोई न कोई बहाना बनाकर इटली के क्षेत्रों पर अधिकार जमाने और चार्ल्स को नीचा दिखाने का क्रम जारी रखा। उसे कितनी ही बार मुंह की खानी पड़ी (विस्तार के लिए देखें 'स्पेन का उत्थान और पतन')। एक बार तो वह गिरफ्तार भी हो गया लेकिन उसने हार नहीं मानी। इटली के इन युद्धों से फ्रांस को क्षेत्रीय लाभ तो नहीं मिला लेकिन इस बहाने फ्रांस का पुनर्जागरण से परिचय बढ़ा और धीरे धीरे वहां भी नई लहर फैलने लगी।

स्वभाव से वह सहिष्णु था। चार्ल्स पंचम के शत्रुओं, जर्मनी के प्रोटेस्टेंट विद्रोहियों, की उसने मदद भी की। स्वयं फ्रांस में लफैब्र के अनुयायियों ने भो नामक स्थान को केंद्र बनाकर सुधार और 'नई विद्या' का वातावरण बनाना शुरू कर दिया था। लेकिन सुधारवादियों की उग्रता बढ़ती जा रही थी और उसने धीरे धीरे उनका विरोध और कभी कभी दमन भी शुरू कर दिया। इसी क्रम में काल्वैं को देश छोड़ कर जाना पड़ा और हजारों लोगों को मौत का मुंह देखना पड़ा।

इसके समानांतर उसके शासनकाल में उदार और कलापूर्ण कार्य भी हुए। 'कालेज द फ्रांस' की स्थापना ने सारवान्न विश्वविद्यालय की कट्टरता का विकल्प प्रस्तुत किया। आज यह कालेज विश्वविख्यात विद्वानों का गढ़ है। मानववादी विचारों और पुनर्जागरण की कला का विस्तार हुआ। लुआर प्रदेश के अप्रतिम शातो बनाए गए। लेओनार्दो को संरक्षण मिला जिसकी वजह से उसका संग्रहालय और 'मोनालिजा' आज भी फ्रांस में ही है। उसने अपने बड़े लड़के हेनरी का विवाह इटली के प्रसिद्ध मेडिली परिवार में किया। यह उसकी इटली में विजय की आकांक्षा और इटली की कला से प्रेम दोनों का प्रतीक था।

इस प्रकार फ्रांसिस अपने अस्थिर स्वभाव के बावजूद फ्रांस के भावी उत्कर्ष की पृष्ठभूमि बनाने में सहायक हुआ।

पंद्रहवीं शताब्दी के अंत से ही लफैब्र जैसे सुधारकों का प्रभाव बढ़ने लगा था। फ्रांसिस के समय में ही लूथर का प्रादुर्भाव हुआ था। काल्वैं को फ्रांस छोड़कर जाना पड़ा था लेकिन बहुत से फ्रांसीसी काल्वैंवादी हो गए थे। विशेष रूप से फ्रांस का नवोदित मध्यवर्ग जो अटलांटिक तट के नगरों में रहता था, प्रोटेस्टेंट हो रहा था और अपने धन और सामर्थ्य के कारण संख्या के अनुपात में अधिक प्रभावशाली था। इससे बहुमत के कैथोलिक रुष्ट थे ही, फ्रांस के सामंत अधिक क्षुब्ध थे क्योंकि मध्यवर्ग के हाथों उन्हीं को अपनी सत्ता छिनती नजर आ रही थी।

फ्रांसिस और हेनरी चतुर्थ के बीच का समय

फ्रांसिस और दूसरे महत्वपूर्ण शासक हेनरी के बीच का शासनकाल धार्मिक और पारिवारिक कलह और संघर्ष का काल है जिस पर संक्षेप में विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

यह काल धार्मिक कलह और पारिवारिक षड्यंत्रों के लिए याद किया जाता है। सामंती परिवारों ने अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए इस समय जी तोड़ प्रयास किया। फ्रांस की अधिकांश जनता कट्टर कैथोलिक थी, और है। लेकिन पहले लूथर और फिर काल्वैं के अनुयायी संपन्न और महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग में बढ़ रहे थे। विशेष रूप से काल्वैं का प्रभाव बढ़ रहा था क्योंकि वह फ्रांसीसी था और भाषा की निकटकता एक निर्णायक निकटता होती है। काल्वैं के विचारों में नए वर्ग को धार्मिक ही नहीं राजनीतिक और आर्थिक संभावनाएं भी दिख रही थीं और उनके प्रोटेस्टेंट होने का यही प्रमुख कारण भी था।

फ्रांसिस का उत्तराधिकारी हेनरी खतरे को समझ रहा था। उसने फ्रांस की सेना की मदद से इसका दमन करना चाहा लेकिन अपने जीवनकाल में उसे सफलता नहीं मिली। उसका लड़का फ्रांसिस द्वितीय तो बिल्कुल अयोग्य था। लेकिन सत्ता उसकी मां कैथरिन के हाथों में थी जो न केवल मां थी, अपने लड़कों के हितों की रक्षा के लिए सब कुछ करने को तत्पर थी।

कैथरिन इटली के मेडिची परिवार की महिला थी औरअपने देश से मेकिया-वेली की शिक्षाओं के साथ आई थी। उसकी सारी महत्वाकांक्षा अपने अयोग्य पुत्रों की सत्ता बनाए रखने तक सीमित थी। धर्म में उसकी विशेष रुचि नहीं थी। इस मामले में वह बहुत कट्टर भी नहीं थी, लेकिन सत्ता बनाए रखने के प्रश्न पर वह कुछ भी करने को तैयार थी। इतिहास साक्षी है कि जब भी राजनीति हरम से संचालित होती है षड्यंत्र बढ़ते हैं। फ्रांस में भी यही हुआ।

उस समय तीन गुट सक्रिय थे। एक गुट राजपरिवार से संबंधित 'नावार के बूर्बों परिवार' का था। फ्रांस के दक्षिण-पश्चिम में स्थित नावार की रियासत के परिवार को ही अंततोगत्वा सफलता मिली। दूसरा गुट गीज परिवार का था, रानी से संबंधित होने के नाते, जिसकी महलों तक पहुंच थी। एक तीसरा गुट राजनीति में इतना डूबा हुआ था कि उसका नाम ही राजनीतिक (पोलितिक) पड़ गया था। कैथोलिक राजनीतिज्ञों का यह गुट अतिशयवादी नहीं था और हर कीमत पर राष्ट्रीय एकता बनाए रखना चाहता था।

इन गुटों में पहले गीज परिवार के ड्यूक को प्राथमिकता मिली। प्रोटेस्टेंट लोग, जिन्हें फ्रांस में 'यूगनो' कहा जाता था, इस संकट काल में अपना प्रभाव बढ़ाने लगे। कैथरिन और गीज के ड्यूक ने राजा और रानी की रक्षा के नाम पर

प्रोटेस्टेंट लोगों का भयंकर दमन शुरू किया। फ्रांसिस के मरने पर सत्ता पूरी तरह कैथरिन के हाथ में आ गई क्योंकि उसका दूसरा पुत्र नाबालिग था। अब स्थिति और बिगड़ने लगी।

इस बीच बूर्बों परिवार के प्रोटेस्टेंट हो जाने और गीज़ परिवार के कैथोलिक समर्थक होने के नाते इन परिवारों का सामंती संघर्ष धार्मिक रूप ले रहा था। कभी कभी शासकों का ध्यान किए बिना ही ये परिवार आपस में टकराने लगे थे। शासक की कमजोरी के कारण धार्मिक गुटबंदी ने तनावपूर्ण स्थिति पैदा कर दी थी। लालची सामंत उद्वेलित थे। ऐसे में गृहयुद्ध होना स्वाभाविक था। ऐसे वातावरण में गीज का ड्यूक वास्सी नामक नगर से गुजर रहा था। वहां प्रोटेस्टेंट लोग प्रार्थनारत थे। कहा-सुनी के बाद लोग हिंसा पर उतर आए और सैकड़ों यूगनो हताहत हो गए। यह गृहयुद्ध की पूर्व सूचना थी जिसमें सारा फ्रांस बुरी तरह कमजोर हुआ। ऐसा लगता था कि प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक किसी प्रतियोगिता में शामिल हैं, जैसे वे साबित करना चाहते हों कि कौन अधिक नृशंस है और फ्रांस को अधिक बरबाद कर सकता है। इसमें कैथरिन अपने पारिवारिक स्वार्थ के कारण कोई निर्णायक भूमिका नहीं निभा पाई। अंत में 1570 में सैंजर्मैं की संधि हुई जिसके अनुसार यूगनो लोगों को अपने क्षेत्रों में धार्मिक स्वतंत्रता मिल गई। 'राजनीतिक' वर्गों के सरदार कोलिन्यी का प्रभाव बढ़ने लगा और फ्रांस यूगनो और अन्य प्रोटेस्टेंट देशों से शांतिपूर्ण संबंध की ओर बढ़ने लगा। कैथरिन इससे बहुत असंतुष्ट थी। उसने कोलिन्यी की हत्या करवा दी।

इस बीच यूगनो लोगों के नेता नावार के हेनरी और राजपरिवार के संबंधों को मजबूत बनाने के लिए हेनरी और राजकुमारी मार्गरेट का विवाह कर देने का निर्णय किया गया। पेरिस में सारे फ्रांस के प्रोटेस्टेंट अपने नेता के विवाह के लिए इकट्ठा होने लगे। कैथरिन ने एक घातक प्रहार करने की योजना बनाई। 24 अगस्त 1572 को संत बारथोलोमिउ का त्योहार था। सुबह के पहले जब गिरजाघर का घंटा बजा तो पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार कैथोलिक लोगों ने उन घरों पर हमला किया जहां यूगनो लोग ठहरे हुए थे। हजारों लोग मार डाले गए। दूल्हा बनने आए हेनरी ने झूठमूठ धर्म परिवर्तन करके अपनी जान बचाई। इसका असर प्रांतों में भी पड़ा। वहां भी प्रोटेस्टेंट लोग मारे गए। कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ कि बारथोलोमिउ के हत्याकांड ने प्रोटेस्टेंट लोगों की कमर तोड़ दी। सारे कैथोलिक जगत में खुशियां मनाई गईं। इन हत्यारों पर पोप भी प्रसन्न हुआ। स्पेन के शासक फिलिप को भी जैसे एक विजय मिली। लेकिन यूगनो लोगों ने हिम्मत नहीं हारी।

स्थिति बिगड़ती गई और फ्रांस फिर एक गृहयुद्ध के कगार पर खड़ा था। फ्रांस को निरंतर विनाश की ओर बढ़ता देखकर देशभक्त लोग अत्यंत दुखी थे।

वे लोग जो कट्टरता के स्थान पर एक सहिष्णु नीति अपनाना चाहते थे, एकजुट होने लगे। वह वर्ग जो 'राजनीतिक' कहलाता था, धीरे धीरे यूगनो नेता हेनरी के निकट आने लगा। उसे विश्वास था कि हेनरी कट्टर नहीं है और देश के हित को सर्वोच्च स्थान देता है। एक बात और थी। फ्रांस का शासक हेनरी तृतीय निस्संतान था। उसका निकटतम संबंधी जो उत्तराधिकारी हो सकता था, वह नावार का हेनरी ही था। इन कारणों से नावार के हेनरी के नेतृत्व में एक सबल गुट संगठित होने लगा।

इससे कैथोलिक चिंतित थे। गीज परिवार का ड्यूक जिसका नाम संयोग से हेनरी ही था, कैथोलिक शक्तियों को संगठित करने लगा। उसे पोप और फिलिप द्वितीय का समर्थन और सहयोग प्राप्त था। कैथोलिक बहुमत के फ्रांस में गैर-कैथोलिक शासक न होने पाए इसके लिए हर तरह के प्रयास हो रहे थे। इस तरह कुल मिलाकर फ्रांस में तीन गुट हो गए थे और विडंबना ऐसी कि तीनों गुटों के नेता का नाम हेनरी था।

इन तीनों हेनरियों में फ्रांस का शासक हेनरी अपने निकट के सहयोगी गीज के हेनरी से आक्रांत था क्योंकि वास्तविक सत्ता उसी के पास थी। अंत में लाचार होकर उसने हेनरी गीज की हत्या करवा दी। इस प्रकार एक हेनरी समाप्त हो गया। लेकिन इससे सारे कैथोलिक बड़े क्षुब्ध हो गए। उन्होंने राजा की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। शाशक का अपनी राजधानी पर भी प्रभाव नहीं रह गया। अब तो उसे अपनी रक्षा के लिए नावार के हेनरी की शरण लेनी पड़ी। दो विरोधियों को परिस्थितियों ने एक कर दिया था। दोनों ने मिलकर पेरिस पर शासक का प्रभुत्व स्थापित करना चाहा लेकिन इसी समय शासक हेनरी से क्षुब्ध एक कट्टर कैथोलिक ने उसकी हत्या कर दी। हत्याओं ने तीन में से दो हेनरियों को तीसरे के मार्ग से हटा दिया था। अब तो नावार का हेनरी ही उत्तराधिकारी था। लेकिन उसे कैथोलिक लोग कैसे अपना राजा स्वीकार करते? पेरिस पूरी तरह कैथोलिकों के कब्जे में था और राजा को अपनी राजधानी पर कब्जा करने के लिए कई हमले करने पड़े। फिर भी सफलता नहीं मिली। बहुत बड़े अंतर्द्वंद्व का समय था। अंत में हेनरी ने एक ऐतिहासिक निर्णय लिया। उसने अपना प्रोटेस्टेंट विश्वास छोड़कर कैथोलिक धर्म स्वीकार कर लिया। अब अंतिम व्यवधान भी हट गया था। उसकी योग्यता और देशभक्ति लोग जानते ही थे। इसलिए उसके कैथोलिक हो जाने पर उसका स्वागत हुआ। हेनरी शासक तो 1589 में ही बन गया था लेकिन पांच साल बाद कैथोलिक बन जाने पर शार्त के गिरजाघर में परंपराओं के अनुसार राजा हेनरी चतुर्थ के रूप में उसका राज्या-भिषेक हुआ। वह फ्रांस का पहला बूर्बों शासक था। अपने शासनकाल में उसने शक्तिशाली और गौरवपूर्ण बूर्बों वंश की जड़ें मजबूत कीं।

हेनरी चतुर्थ

नावार का हेनरी जब हेनरी चतुर्थ के नाम से फ्रांस की गद्दी पर बैठा तो अन्य कोई विकल्प न होने के कारण उसे स्वीकार तो किया गया था लेकिन उसकी स्थिति बहुत डांवाडोल थी। उसे एक बुरा प्रोटेस्टेंट समझा जा रहा था क्योंकि वह कैथोलिक हो गया था। उसे एक बुरा कैथोलिक समझा जा रहा था क्योंकि वह प्रोटेस्टेंट लोगों के प्रति सहिष्णु था। ऐसी स्थिति में वह न घर का हो सकता था न घाट का। लेकिन अपने कार्यों द्वारा उसने साबित कर दिया कि वह बुरा प्रोटेस्टेंट या बुरा कैथोलिक भले ही हो वह एक अच्छा फ्रांसीसी है। उसके देश-प्रेम और पूरे फ्रांस के हित में किए गए कार्यों ने उसकी तमाम कमजोरियों पर परदा डाल दिया और वह बेहद लोकप्रिय और सफल शासक साबित हुआ।

आंतरिक नीति : हेनरी अपनी नुकीली दाढ़ी, चमकती आंखों, फुर्ती और तत्काल निर्णय लेने की आदत के कारण शीघ्र ही जाना-पहचाना हो गया। यद्यपि वह बहुत स्वार्थी था और कभी कभी बहुत टुच्चे ढंग से पेश आता था, पर साधारणतया उसके निर्णय बहुमत के पक्ष में होते थे और उनसे देश का भला होता था। वह स्वयं एक सफल सैनिक और सेनापति था। संघर्षमय जीवन बिताने के कारण उसे व्यावहारिक जीवन के अनुभव प्राप्त थे। अपनी प्रजा के हितों का उसे जितना ध्यान था उससे ज्यादा वह उसके बारे में बातें करता था। परिणाम यह हुआ कि यह प्रचार हो गया कि हेनरी प्रजापालक है। उसे 'नेक राजा हेनरी' (गुड किंग हेनरी) कहा जाने लगा।

अच्छा कहलाने मात्र से काम चलने वाला नहीं था। फ्रांस पिछले सौ वर्षों से लगातार युद्धरत था। फ्रांसिस ने राजा की सत्ता स्थापित तो की थी लेकिन उसके बाद के लगातार कलह और युद्ध के कारण लालची सामंत आपस में लड़ने लगे थे। योग्य शासक के अभाव में और कैथरिन की नीतियों के कारण पेरिस षड्यंत्रों का गढ़ बन गया था। धार्मिक और राजनीतिक समस्यों की आड़ में व्यक्तिगत और परिवारगत स्वार्थ बुरी तरह टकराने लगे थे। ऐसे में पूरा प्रशासन ठप्प था। खेत उजाड़ पड़े थे। उद्योग निष्क्रिय हो चले थे। राजकोष में धन आए भी तो कहां से ? कर का बोझ तो बढ़ता ही जा रहा था। दिवालिया और विघटित देश बाहरी दुश्मनों से भी आक्रांत था। फ्रांस अभी भी यूरोप की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर सका था।

ऐसी समस्याओं से जूझता हेनरी अधिकांशतः सफल हुआ। लेकिन उसकी सफलता का सारा श्रेय उसके मंत्री सल्ली को है। अपने शासक की ही तरह वह भी स्वार्थी और कुशल था। उसके हेनरी और फ्रांस के प्रति असाधारण लगाव के कारण हेनरी और सल्ली की जोड़ी बहुत कारगर साबित हुई। लेकिन सल्ली

प्रोटेस्टेंट था और प्रोटेस्टेंट बना रहा। उसके लिए काम करना आसान नहीं होता यदि हेनरी ने एक ऐतिहासिक घोषणा न की होती।

उसने 1598 में धार्मिक सहिष्णुता की नीति के संबंध में नांत नामक नगर से घोषणा की। इस नांत के अध्यादेश ने यूगनो लोगों को आशातीत सुविधाएं दे दीं। यूगनो लोगों को व्यक्तिगत रूप से पूरे फ्रांस में धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई। दो सौ नगरों और तीन हजार किलों, जहां यूगनो लोग बड़ी संख्या में रहते थे, उन्हें वहां सार्वजनिक रूप से भी अपने धर्म के अनुसार कार्य करने की आजादी दे दी गई। उनके स्कूलों को भी राजकीय सहायता देने का वायदा किया गया। प्रोटेस्टेंट पुस्तकों पर से प्रतिबंध उठा लिया गया। यूगनो लोग अपनी पंचायतें चला सकते थे। इस घोषणा के प्रति यूगनो लोग आश्वस्त हो पाएं, इसलिए उन्हें एक निश्चित अवधि के लिए नगरों और गढ़ों की किलेबंदी करने और अपने को सुरक्षित करने का अधिकार दे दिया गया।

आज के संदर्भ में ये सुविधाएं भले ही अपर्याप्त लगें लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अधिक संभव नहीं था। कुछ बातों में तो उन्हें सीमा से अधिक अधिकार दे दिए गए थे। किलेबंदी के अधिकार के कारण यूगनो लोग 'राज्य के अंदर एक और राज्य', जैसी खतरनाक स्थिति पैदा करने में सफल हो गए और बाद के शासकों को फ्रांस के विघटन का खतरा दिखाई पड़ने लगा। यूगनो लोगों को नागरिकता के पूरे अधिकार प्राप्त हो गए थे लेकिन केवल काल्वैंवादियों को अधिकार मिलने से अन्य अल्पमत के लोगों में असंतोष था।

अब हेनरी के सामने प्रश्न यह था कि समयानुकूल एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना कैसे की जाए। इस मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध सामंत वर्ग बना हुआ था। तब तक की व्यवस्था में सामंतों पर राजा निर्भर रहता था। धार्मिक गृहयुद्धों के दौरान भी सामंत परिवारों ने अपनी प्रमुखता बनाए रखने की लड़ाई लड़ी थी। हेनरी अपने मंत्री सल्ली के सहयोग से एक निरंकुश राजतंत्र की स्थापना में जुट गया। प्रसिद्ध सामंतों—बिरों, बरगंदी, बुइओं को एक एक कर उसने नीचा दिखाया और फ्रांस के सामंती विरोध को नियंत्रित करने में सफलता पाई।

इधर से निश्चित होकर उसने सल्ली को एक स्थाई आधारभूमि बनाने की जिम्मेदारी सौंपी। इस क्षेत्र में एक तरह से हर काम नए सिरे से शुरू करना था क्योंकि पिछले सौ वर्षों की तबाही में सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। सल्ली चूंकि स्वयं बेहद कंजूस और विलासिता से दूर था, वह एक कठोर अनुशासन का पालन कर और करवा सकता था। उसने यह स्पष्ट रूप से देख लिया कि आर्थिक कमजोरी का कारण कृषि की उपेक्षा और बरबादी है, उसने कृषि योग्य भूमि का विस्तार करवाया और कृषक को हर तरह के प्रोत्साहन दिए। आंतरिक चुंगी की

व्यवस्था समाप्त कर दी गई। विशेष रूप से निर्यात कर समाप्त करके उन्हें उत्पादन बढ़ाने का अतिरिक्त प्रोत्साहन दिया गया।

आर्थिक सुदृढ़ता का दूसरा आधार होता है उद्योग। हेनरी इस क्षेत्र में स्वयं दिलचस्पी लेता था। रेशम उद्योग जिसके लिए आज भी फ्रांस प्रसिद्ध है, उसी समय से बड़े पैमाने पर बढ़ा। लिओं और नीस के नगर इस उद्योग के केंद्र बन गए। आज भी लिओं 'रेशम का नगर' कहलाता है। बढ़ते विलास और शान शौकत के लिए खूबसूरत बर्तनों की आवश्यकता बढ़ रही थी। राजधानी पेरिस और सैव्र के नगरों में शीशे और चीनी मिट्टी के सुंदर बर्तन बनने लगे। आज भी फ्रांस ही नहीं कितने ही विदेशी राष्ट्रपति और शासकों के लिए बर्तन सैव्र में ही बनते हैं। पशुपालन के क्षेत्र में प्रगति होने से ऊन का उद्योग बढ़ा। पहली बार लोहे के औद्योगिक विकास को संरक्षण मिला।

कृषि और उद्योग दोनों के विकास के लिए यातायात के साधन चाहिए। रोमन विजय के समय से ही फ्रांस में काफी सड़कें और पुल बने थे लेकिन बाद के दिनों में उनमें से अधिकांश बेकार हो गए थे। नदियां बहुत थीं परंतु उनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता था। इस दिशा में पुरानी सड़कों और पुलों की मरम्मत और नयों का निर्माण शुरू हुआ। लुआर और सैन नदियों से ऐसी नहरें निकाली गईं जो सिंचाई और यातायात दोनों काम आ सकती थीं।

आंतरिक विकास से देश की आर्थिक स्थिति ठीक तो हो सकती है, लेकिन जब विदेशों से व्यापार हो तभी देश में समृद्धि आती है, प्रगति की रफ्तार बढ़ती है। सोलहवीं शताब्दी में नए नए मार्ग ढूंढ़े गए थे। सामुद्रिक यात्राएं बढ़ी थीं। इसलिए एक नौसेना और व्यापारी जहाजों का निर्माण और संगठन शुरू हुआ। अतएव धार्मिक विरोध भुलाकर प्रोटेस्टेंट इंग्लैंड और हालैंड तथा मुसलमान तुर्की के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित किए गए। इन्हीं अनुभवों के आधार पर बाद में अमरीका और भारत से व्यापार की शुरुआत हुई।

प्रशासन को राजभक्त और योग्य बनाने के लिए ऐसे नए कर्मचारी नियुक्त किए गए जिनकी योग्यता और राजभक्ति असंदिग्ध होती थी। एक कर, 'पोलेत' देकर वे अपने पद अपने उत्तराधिकारियों के लिए सुरक्षित कर सकते थे। इस तरह राजभक्त कर्मचारियों का एक वर्ग पैदा हुआ जो मध्यवर्ग का चरित्र रखता था। इस प्रकार राजा और मध्यवर्ग मिलकर सामंतों के विरुद्ध खड़े हो सकते थे।

राज्य की आमदनी का मुख्य स्रोत कर होता है। यदि कर व्यवस्था भ्रष्ट हो तो न केवल पूरा समाज भ्रष्ट होने लगता है, राज्य की आमदनी भी घट जाती है। सल्ली ने असमान कर व्यवस्था में परिवर्तन की तो हिम्मत नहीं की लेकिन जैसी भी व्यवस्था हो उसे ठीक ढंग से लागू करने की योजना बनाई। इसके लिए कर्मचारियों के मनमाने कार्यों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और राज्य द्वारा

प्रोटेस्टेंट था और प्रोटेस्टेंट बना रहा। उसके लिए काम करना आसान नहीं होता यदि हेनरी ने एक ऐतिहासिक घोषणा न की होती।

उसने 1598 में धार्मिक सहिष्णुता की नीति के संबंध में नांत नामक नगर से घोषणा की। इस नांत के अध्यादेश ने यूगनो लोगों को आशातीत सुविधाएं दे दीं। यूगनो लोगों को व्यक्तिगत रूप से पूरे फ्रांस में धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई। दो सौ नगरों और तीन हजार किलों, जहां यूगनो लोग बड़ी संख्या में रहते थे, उन्हें वहां सार्वजनिक रूप से भी अपने धर्म के अनुसार कार्य करने की आजादी दे दी गई। उनके स्कूलों को भी राजकीय सहायता देने का वायदा किया गया। प्रोटेस्टेंट पुस्तकों पर से प्रतिबंध उठा लिया गया। यूगनो लोग अपनी पंचायतें चला सकते थे। इस घोषणा के प्रति यूगनो लोग आश्वस्त हो पाएं, इसलिए उन्हें एक निश्चित अवधि के लिए नगरों और गढ़ों की किलेबंदी करने और अपने को सुरक्षित करने का अधिकार दे दिया गया।

आज के संदर्भ में ये सुविधाएं भले ही अपर्याप्त लगें लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अधिक संभव नहीं था। कुछ बातों में तो उन्हें सीमा से अधिक अधिकार दे दिए गए थे। किलेबंदी के अधिकार के कारण यूगनो लोग 'राज्य के अंदर एक और राज्य', जैसी खतरनाक स्थिति पैदा करने में सफल हो गए और बाद के शासकों को फ्रांस के विघटन का खतरा दिखाई पड़ने लगा। यूगनो लोगों को नागरिकता के पूरे अधिकार प्राप्त हो गए थे लेकिन केवल काल्वैंवादियों को अधिकार मिलने से अन्य अल्पमत के लोगों में असंतोष था।

अब हेनरी के सामने प्रश्न यह था कि समयानुकूल एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना कैसे की जाए। इस मार्ग में सबसे बड़ा अवरोध सामंत वर्ग बना हुआ था। तब तक की व्यवस्था में सामंतों पर राजा निर्भर रहता था। धार्मिक गृहयुद्धों के दौरान भी सामंत परिवारों ने अपनी प्रमुखता बनाए रखने की लड़ाई लड़ी थी। हेनरी अपने मंत्री सल्ली के सहयोग से एक निरंकुश राजतंत्र की स्थापना में जुट गया। प्रसिद्ध सामंतों—बिरों, बरगंदी, बुइओं को एक एक कर उसने नीचा दिखाया और फ्रांस के सामंती विरोध को नियंत्रित करने में सफलता पाई।

इधर से निश्चित होकर उसने सल्ली को एक स्थाई आधारभूमि बनाने की जिम्मेदारी सौंपी। इस क्षेत्र में एक तरह से हर काम नए सिरे से शुरू करना था क्योंकि पिछले सौ वर्षों की तबाही में सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। सल्ली चूंकि स्वयं बेहद कंजूस और विलासिता से दूर था, वह एक कठोर अनुशासन का पालन कर और करवा सकता था। उसने यह स्पष्ट रूप से देख लिया कि आर्थिक कमजोरी का कारण कृषि की उपेक्षा और बरबादी है, उसने कृषि योग्य भूमि का विस्तार करवाया और कृषक को हर तरह के प्रोत्साहन दिए। आंतरिक चुंगी की

व्यवस्था समाप्त कर दी गई। विशेष रूप से निर्यात कर समाप्त करके उन्हें उत्पादन बढ़ाने का अतिरिक्त प्रोत्साहन दिया गया।

आर्थिक सुदृढ़ता का दूसरा आधार होता है उद्योग। हेनरी इस क्षेत्र में स्वयं दिलचस्पी लेता था। रेशम उद्योग जिसके लिए आज भी फ्रांस प्रसिद्ध है, उसी समय से बड़े पैमाने पर बढ़ा। लिओं और नीस के नगर इस उद्योग के केंद्र बन गए। आज भी लिओं 'रेशम का नगर' कहलाता है। बढ़ते विलास और शान शौकत के लिए खूबसूरत बर्तनों की आवश्यकता बढ़ रही थी। राजधानी पेरिस और सैव्र के नगरों में शीशे और चीनी मिट्टी के सुंदर बर्तन बनने लगे। आज भी फ्रांस ही नहीं कितने ही विदेशी राष्ट्रपति और शासकों के लिए बर्तन सैव्र में ही बनते हैं। पशुपालन के क्षेत्र में प्रगति होने से ऊन का उद्योग बढ़ा। पहली बार लोहे के औद्योगिक विकास को संरक्षण मिला।

कृषि और उद्योग दोनों के विकास के लिए यातायात के साधन चाहिए। रोमन विजय के समय से ही फ्रांस में काफी सड़कें और पुल बने थे लेकिन बाद के दिनों में उनमें से अधिकांश बेकार हो गए थे। नदियां बहुत थीं परंतु उनका समुचित उपयोग नहीं हो पाता था। इस दिशा में पुरानी सड़कों और पुलों की मरम्मत और नयों का निर्माण शुरू हुआ। लुआर और सैन नदियों से ऐसी नहरें निकाली गईं जो सिंचाई और यातायात दोनों काम आ सकती थीं।

आंतरिक विकास से देश की आर्थिक स्थिति ठीक तो हो सकती है, लेकिन जब विदेशों से व्यापार हो तभी देश में समृद्धि आती है, प्रगति की रफ्तार बढ़ती है। सोलहवीं शताब्दी में नए नए मार्ग ढूंढ़े गए थे। सामुद्रिक यात्राएं बढ़ी थीं। इसलिए एक नौसेना और व्यापारी जहाजों का निर्माण और संगठन शुरू हुआ। अतएव धार्मिक विरोध भुलाकर प्रोटेस्टेंट इंग्लैंड और हालैंड तथा मुसलमान तुर्की के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित किए गए। इन्हीं अनुभवों के आधार पर बाद में अमरीका और भारत से व्यापार की शुरुआत हुई।

प्रशासन को राजभक्त और योग्य बनाने के लिए ऐसे नए कर्मचारी नियुक्त किए गए जिनकी योग्यता और राजभक्ति असंदिग्ध होती थी। एक कर, 'पोलेत' देकर वे अपने पद अपने उत्तराधिकारियों के लिए सुरक्षित कर सकते थे। इस तरह राजभक्त कर्मचारियों का एक वर्ग पैदा हुआ जो मध्यवर्ग का चरित्र रखता था। इस प्रकार राजा और मध्यवर्ग मिलकर सामंतों के विरुद्ध खड़े हो सकते थे।

राज्य की आमदनी का मुख्य स्रोत कर होता है। यदि कर व्यवस्था भ्रष्ट हो तो न केवल पूरा समाज भ्रष्ट होने लगता है, राज्य की आमदनी भी घट जाती है। सल्ली ने असमान कर व्यवस्था में परिवर्तन की तो हिम्मत नहीं की लेकिन जैसी भी व्यवस्था हो उसे ठीक ढंग से लागू करने की योजना बनाई। इसके लिए कर्मचारियों के मनमाने कार्यों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और राज्य द्वारा

स्वीकृत कर ही लगाए जा सकते थे। प्रतिवर्ष स्थानीय और कागजी जांच का प्रबंध किया गया। लगान संबंधी कागजात की जांच कराई गई और जो भी गलत नाम चढ़े थे या गलत ढंग से छूट दी गई थी वह समाप्त कर दी गई। सारा कर इकट्ठा करके राजकोष में जमा किया जाता था। वहां से सैनिक व्यवस्था या अन्य किसी खर्च के लिए अलग से उसी मद के लिए धन प्राप्त होता था। इस प्रकार एक मद का पैसा दूसरे मद में खर्च करने से जो अनियमितता होती थी उसे कम करके कर्मचारियों के गवन और भ्रष्टाचार की संभावना कम कर दी गई। आवश्यकता पड़ने पर कर्मचारियों की छंटनी भी कर दी जाती थी।

सल्ली स्वयं राज्य का दौरा करता था और हर बात का निरीक्षण करता था। चूंकि वह स्वामिभक्त था, दौरे पर अपना व्यक्तिगत लाभ नहीं करता था। सारा लाभ राज्य को होता था। इस प्रकार दिवालिया राजकोष धीरे धीरे संभल गया और हर साल दस लाख की बचत होने लगी।

विदेशीनीति : हेनरी को शासक न बनने देने के लिए स्पेन के शासक फिलिप ने कुछ भी उठा नहीं छोड़ा था। लेकिन अब फिलिप का सितारा गर्दिश में था। उसकी हर कोशिश के बावजूद हेनरी को सफलता मिली। उसने प्रतिहिंसा की नीति नहीं अपनाई और एक दूरदर्शी शासक की तरह स्पेन से संधि कर ली। वरवैं की संधि के द्वारा फिलिप ने उसे फ्रांस का शासक मान लिया और दोनों देशों की पुरानी सीमाएं स्वीकार कर ली गईं। वह सभी दूरदर्शी फ्रांसीसी शासकों की तरह जानता था कि फ्रांस की मुख्य प्रतिद्वंद्विता हैप्सबर्ग परिवार से है। लेकिन हैप्सबर्ग परिवार का राज्य बहुत विस्तृत था और फ्रांस तो उससे घिरा हुआ था। अकेले फ्रांस को अपर्याप्त देखकर उसने हैप्सबर्ग परिवार से पीड़ित और असंतुष्ट अन्य राज्यों, जैसे हालैंड और इटली के राज्यों से मित्रता शुरू की। डच स्वतंत्रता संग्राम को उसने बहुत मदद पहुंचाई। इटली के प्रसिद्ध मेडिची परिवार की राजकुमारी मारी से उसने विवाह कर लिया। इटली, स्विट्जरलैंड और जर्मनी के बहुत से शासक हेनरी के मित्र हो गए। जब वह पूरी तरह आश्वस्त हो गया कि हैप्सबर्ग परिवार के विरुद्ध वह अकेला नहीं है तो उसने संघर्ष की तैयारी शुरू की। उसका शासनकाल अपेक्षतया शांतिमय रहा था। अब वह युद्ध के लिए तत्पर था लेकिन इसी समय एक विक्षिप्त कैथोलिक रावाइआक ने उसकी हत्या कर दी।

मूल्यांकन : उसकी योजनाएं अधूरी छूट चुकी थीं लेकिन उसके देशवासियों ने उसे वह सम्मान दिया जो बहुत कम शासकों को मिला है। आज भी वह फ्रांस के उत्कर्ष का संस्थापक समझा जाता है। उसका व्यक्तिगत चरित्र आदर्श नहीं था लेकिन शासन की योग्यता, दूरदर्शिता, देश के भविष्य के प्रति चिंता और उसे ठीक करने के प्रयास के कारण उसके दोषों पर विशेष ध्यान ही नहीं जाता। अपने

समकालीन इंग्लैंड की रानी ऐलिजाबेथ और भारत के सम्राट अकबर की तरह अपने राज्य के हित में किए गए कार्यों के आधार पर ही उसका मूल्यांकन होता है, व्यक्तिगत चरित्र के आधार पर नहीं।

उसे बार बार मारने के प्रयत्न हुए थे और वह हर बार बच गया था। इसलिए मनोवैज्ञानिक रूप से परिस्थिति उसके बहुत अनुकूल थी। लोग उससे सहानुभूति रखते थे। धार्मिक कलह के युग में जिस साहसपूर्ण ढंग से उसने कैथोलिक धर्म स्वीकार किया और नांत के आदेश द्वारा यूगनो लोगों के हितों की रक्षा की वह उसकी दूरदर्शिता का परिचायक था। एक हद तक सभी उससे संतुष्ट हो गए थे। धर्म को उसने राजनीति पर कभी हावी नहीं होने दिया।

व्यक्ति की, विशेषकर शासकों की, सफलता का निर्णय इस बात पर भी हो जाता है कि उन्होंने कैसे सहयोगी चुने। हेनरी ने सल्ली जैसा मंत्री और सहयोगी चुना। दूसरी ओर उसने बढ़ते हुए महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग को बढ़ावा दिया। यूरोप के छोटे लेकिन प्रगतिशील देशों से उसने मित्रता की। इस प्रकार आंतरिक स्थिरता, योग्य प्रशासन, सफल वैदेशिक नीति और कुशल प्रशासन के आधार पर उसने बूर्बों वंश के गौरव की आधारशिला रखी। इसीलिए हेनरी आज भी, फ्रांसीसी गणतंत्र में भी, प्यार से याद किया जाता है।

लूई त्रयोदश

हेनरी चतुर्थ का उत्तराधिकारी लूई त्रयोदश महज एक नाम बनकर रह जाता और उसका कोई नामलेवा तक न बचता यदि संयोग से उसका मंत्री रिशलिउ न नियुक्त हुआ होता। लूई अभी बच्चा था और शासन उसकी मां मारी के हाथ में था। इटालियन होने के कारण वह महत्वाकांक्षी तो थी लेकिन उसमें न तो क्षमता थी और न योग्यता। हेनरी के कार्यों पर उसने पानी डालना शुरू किया। उसने स्पेन से मित्रता की नीति अपनाई और कैथोलिक चर्च का समर्थन इस प्रकार करना शुरू किया कि धार्मिक समझौतावादी नीति खतरे में पड़ गई और अशांति फैलने लगी।

ऐसी अनिश्चितता की स्थिति में फ्रांस की परंपरागत प्रतिनिधि सभा 'स्टेट्स जनरल' का अधिवेशन बुलाया गया। इंग्लैंड की तरह फ्रांसीसी प्रतिनिधि सभा न ठीक से प्रतिनिधित्व करती थी, न ही उसके पास कोई शक्ति थी। उसकी अनिवार्यता भी संदिग्ध थी। इंग्लैंड में शासक पार्लियामेंट को कठपुतली की तरह नचा तो लेता था लेकिन उसे पूरी तरह समाप्त करने की कोशिश में मुंह की खा जाता था। फ्रांस में ऐसा नहीं था। फ्रांस की सभा में तीन वर्गों, पादरी, सामंत और तृतीय वर्ग के अलग अलग प्रतिनिधि होते थे जो अलग अलग मत देते थे। यानी वही बात की जाती थी जो कुलीन और शक्तिशाली लोग चाहते थे लेकिन इस

समय तो वे आपस में ही बंटे हुए थे। वे मिलकर पूरे देश के बारे में कुछ सोच ही नहीं सकते थे। जिन्हें विशेष अधिकार प्राप्त थे वे यथास्थिति को बदलने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार स्टेट्स जनरल शासन के लिए एक नया सरदर्द बन गया। अंत में उसे खत्म करने का निर्णय लिया गया। एक के बाद दूसरा शासक स्टेट्स जनरल के बिना ही शासन करता रहा। अंत में 175 वर्षों के बाद जब शासक को उसका अधिवेशन मजबूरन बुलाना पड़ा तो क्रांति का आह्वान हो गया।

रिशलिउ

इस अधिवेशन की एक ही उपलब्धि थी। रानी की नजर प्वातू क्षेत्र के प्रतिनिधि रिशलिउ पर पड़ी थी और वह उसकी वाक्‌पटुता से बहुत प्रभावित हुई थी। धीरे धीरे रिशलिउ रानी का विश्वासपात्र बन गया और उसकी राय सबसे अधिक मानी जाने लगी।

रिशलिउ का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली नहीं था। धार्मिक शिक्षा के बाद वह बिशप बन गया था। लेकिन उसकी प्रमुख रुचि का विषय राजनीति था। उसकी दृष्टि बहुत पारखी थी और समस्याओं को वह वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देख सकता था। एक बार निर्णय लेने के बाद सारी शक्ति वह उसे पूरा करने में लगा देता था। धार्मिक अधिकारी होते हुए भी वह अपने निर्णयों को परंपरागत नैतिकता की ही दृष्टि से नहीं देखता था। उसे देश से प्यार था और देश को शक्तिशाली और प्रतिष्ठित बनाना ही उसका उद्देश्य था। मारी की मदद से वह चर्च में पोप के बाद सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी कार्डिनल बन गया था लेकिन इससे आगे बढ़ने की कोशिश नहीं की।

मारी की अदूरदर्शिता के कारण जब स्थिति बिगड़ी और विशेष रूप से यूगनो वर्ग, जो हर तरह से शक्तिशाली था, विद्रोह पर आमादा हो गया तो लूई ने अपनी मां से शासन अपने हाथ में ले लिया लेकिन वह तो एक विलासी और आमोदप्रिय शासक था। उस समय की स्थिति को संभाल पाना उसके बूते के बाहर था। उसने भी अपनी मां के चुने हुए रिशलिउ की योग्यता को पहचाना और उसे धीरे धीरे अपना सबसे बड़ा महत्वपूर्ण सलाहकार और एक तरह से मुख्य और वास्तविक शासक बना दिया। अपने शासक का इतना विश्वास पाने पर उसने लूई के सामने शपथ ली कि उसे जो भी अधिकार दिए जाएंगे, उनका उपयोग 'मैं यूगनो और सामंतों का दमन करने, प्रजा को अनुशासित और कर्तव्यपरायण बनाने और आपको राजपरिवारों में उचित सम्मान दिलवाने में करूंगा।' उसने स्पष्ट कर दिया कि वह फ्रांस में हर तरह के विरोध का अंत करके शासक को निरंकुश बना देगा और फ्रांस को यूरोप में एक प्रभावशाली शक्ति के रूप में

प्रतिष्ठित करेगा। इस प्रकार रिशलउ पहला व्यक्ति था जिसने फ्रांस की राष्ट्रीय नियति को इतने स्पष्ट शब्दों में समझा और उसे कार्यान्वित करने में अपने जीवन का एक एक क्षण लगा दिया। मृत्यु तक उसका केवल एक लक्ष्य था, अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना और इस कार्य में वह चाणक्य जैसे विचारक मेकियावेली का पक्का शिष्य था। कूटनीति, युद्ध, छल, कपट, दंड-दमन, किसी भी माध्यम को वह अनैतिक या गलत नहीं समझता था। ऐसे व्यक्ति के सामने निश्चित था कि लूई स्वयं गौण हो जाता। ऐसे में लूई का रिशलिउ से कुढ़ना भी स्वाभाविक था लेकिन वह जानता था कि उसकी और फ्रांस की रक्षा और उन्नति रिशलिउ के बिना संभव नहीं। इसलिए वह खामोश समर्थक बना रहा।

निरंकुश राजतंत्र की स्थापना : रिशलिउ ने अपने वायदे के अनुसार फ्रांस में राष्ट्रीय एकता और एकरूपता स्थापित करने के लिए हर तरह के विरोध और गुट का अंत कर देना चाहा। उसे सबसे शक्तिशाली गुट यूगनो लोगों का लगा। उसने प्रोटेस्टेंट लोगों को दुश्मन इसलिए नहीं माना कि वह स्वयं एक कैथोलिक अधिकारी था। धर्म को तो वह उतना महत्व देता ही नहीं था। उसे किसी भी तरह कट्टर या धर्मांध कहा ही नहीं जा सकता। फ्रांस के प्रोटेस्टेंट लोगों का वह विरोधी इसलिए था कि नांत के अध्यादेश के बाद से वे बहुत शक्तिशाली हो गए थे। विशेष रूप से अटलांटिक तट के नगरों, बोर्दो, लारोशेल, रोशफोर, में उन्होंने अपने प्रभाव से अपनी अलग सत्ता कायम कर ली थी। व्यवसाय के कारण वे धनी तो थे ही उन्हें इंग्लैंड का समर्थन और सहयोग भी प्राप्त था। कुछ दिनों तक किलेबंदी करने और अपने नगरों को सुरक्षित करने की उन्हें जो छूट मिली थी उस छूट को इन लोगों ने स्थाई बना लिया था। उनकी अलग प्रतिनिधि सभाएं थीं, कानून और न्यायालय थे, सेना थी, धर्मस्थान थे। अब बचा ही क्या था कि वे अपने को स्वतंत्र न समझें। किसी भी राज्य के लिए यह एक घातक स्थिति होती। रिशलिउ ने इस खतरे को समझ लिया और फौरन उनका दमन कर उनकी राजनीतिक और सैनिक शक्ति समाप्त कर देने की तैयारी शुरू कर दी।

उसने यह नहीं पता लगने दिया कि वह हर कीमत पर उनका दमन करने को तैयार है। उसने वार्ता भी चलाई, लेकिन यूगनो लोगों का मन बढ़ गया था। उन्होंने राजज्ञाओं का भी उल्लंघन करना शुरू कर दिया। उनके बढ़ते विद्रोह को देखकर रिशलिउ ने सैनिक कार्यवाही शुरू कर दी। उनके नगरों और किलों पर हमला शुरू हुआ। व्यापारिक और प्रमुख बंदरगाह लारोशेल अपनी किलेबंदी के लिए प्रसिद्ध था। बंदरगाह होने के कारण वहां इंग्लैंड से सीधी मदद पहुंच सकती थी। लेकिन रिशलिउ ने जबरदस्त घेरा डाला जो पंद्रह महीने तक चलता रहा। रिशलिउ सेनापति नहीं था, लेकिन वह सेनापतियों और सैनिकों का

हौसला बढ़ाने के लिए स्वयं वहां मौजूद रहा और संचालन करता रहा। नगर-निवासियों ने अभूतपूर्व धैर्य और वीरता का परिचय दिया। अत्यंत कठिन परि-स्थितियों में भी वे लड़ते रहे। लेकिन रिशलिउ के दृढ़ निश्चय और व्यवस्था के आगे उन्हें झुकना पड़ा। हजारों लोगों की बलि भी नगर की रक्षा नहीं कर सकी। लारोशेल के पतन के वाद अन्य प्रोटेस्टेंट केंद्रों का भी वही हाल हुआ।

यदि रिशलिउ धर्मांध होता और चाहता तो इस समय फ्रांस से प्रोटेस्टेंट लोगों का अंत कर देता। लेकिन उसका लक्ष्य तो कुछ और था। वह जानता था कि यूगनो लोगों में व्यवसाय और नौकरियों के लिए प्रतिभा है। इसीलिए उसने 1624 में आर्ले की घोषणा की। उसने उनके वे अधिकार छीन लिए जिनके कारण राज्य के लिए विघटनकारी खतरा पैदा हो गया था। यूगनो लोगों के धर्म और नौकरियों से संवंधित पुराने अधिकार बने रहे। लेकिन सैनिक संगठन भंग कर दिया गया और सुरक्षा संवंधी विशेषाधिकार छीन लिए गए। इस प्रकार उन्हें वे सभी अधिकार प्राप्त थे जो राज्य के अन्य लोगों को प्राप्त थे। जबकि यूरोप के अधिकांश लोग धर्मांध हो रहे थे, रिशलिउ ने असाधारण सहिष्णुता का परिचय दिया।

दूसरा मोर्चा सामंतों का था। फ्रांस में अनेक ऐसे सामंत परिवार थे जो अपनी शक्ति और प्रभाव के कारण राजा के प्रतिद्वंद्वी बन जाते थे। राज्य के प्रांतों का शासन प्रायः इन्हीं के हाथ में होता था। एक निश्चित सीमा में इन्हें राजा के सारे अधिकार प्राप्त थे। इनकी हैसियत शासक की नहीं प्रशासक की होती थी लेकिन अक्सर ये केंद्रीय सत्ता की परवाह नहीं करते थे और स्वच्छंद हो जाते थे। इनके पास सेना होती ही थी। सुरक्षा के लिए अनेक गढ़ और शातो थे। ऐसी स्थिति में केंद्र की पकड़ ढीली होते ही ये विद्रोह कर सकते थे। राज-धानी में भी इनके दांव-पेंच चलते रहते थे। लगातार षड्यंत्र का वातावरण वना रहता था। रिशलिउ के असाधारण प्रभाव के कारण उससे अन्य सामंत ईर्ष्या करें यह भी स्वाभाविक ही था।

रिशलिउ इनकी शक्ति से परिचित था। इसलिए उसने इनके दमन की योजना वहुत सूझबूझ के साथ वनाई। वह जानता था कि सामंतों के अत्याचार से जनता पीड़ित थी। नगरों और गांवों के लोगों के साथ ये मनमाना व्यवहार करते थे। इसलिए उसने यह प्रदर्शित किया कि सामंतों का दमन राजा के ही नहीं किसानों और मध्यवर्ग के भी हित में है। और इस तरह जब उसने फ्रांस भर में फैले सामंती गढ़ों और दुर्गों को नष्ट करने का आदेश दिया तो जनता ने इसका समर्थन किया। हजारों किले गिरा दिए गए जिनके भग्नावशेष आज भी लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं। फ्रांस का पर्यटन-विभाग इन स्थानों की यात्रा की व्यवस्था करके हर साल करोड़ों रुपयों की आमदनी करता है।

सामंतों में उसने छोटे-बड़े का लिहाज नहीं किया। जो भी महत्वाकांक्षी था या गड़बड़ी करता था या कर सकता था उसके विरुद्ध उसने जासूस लगा दिए। खुफिया विभाग ने सामंतों का व्यक्तिगत जीवन दूभर कर दिया। जो विरोधी गुटों के नेता थे उनकी उसने हत्या करवा दी। धीरे धीरे उन्हें कार्यमुक्त कर दिया गया। उन्हें सजावट का सामान बनाकर छोड़ दिया गया। जो हाल अंगरेजों ने भारत की देशी रियासतों के राजाओं का किया था, वही हाल रिशलिउ ने सामंतों का कर दिया। पूरे फ्रांस में राजा को चुनौती देने वाली अब कोई ताकत नहीं बची।

केंद्रीकरण : विरोध का दमन हो चुका था लेकिन जब तक प्रशासन को उसी के अनुकूल और कारगर न बनाया जाता, यह व्यवस्था स्थाई नहीं हो सकती थी। उसने देखा कि सामंतों के मुकाबले में मध्यवर्ग अधिक योग्य और राजभक्त है इसलिए उसने राजा और मध्यवर्ग को निकट लाना शुरू किया। उसने संस्थाओं में कोई मौलिक परिवर्तन करना और एक सर्वथा नई व्यवस्था लागू करना उपयोगी नहीं समझा। इससे विरोध होने की संभावना थी। उसने चालाकी से उन्हीं संस्थाओं से काम लेना शुरू किया जिन्हें वह उपयोगी समझता था। अन्यों को बिना भंग किए उनसे कोई काम ही नहीं लेता था। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, लेकिन वास्तव में वही होता था जो रिशलिउ चाहता था।

उसने एक मात्र प्रत्यक्ष परिवर्तन यह किया कि पहले के सामंत गवर्नरों के स्थान पर मध्यवर्गीय नए प्रशासक ऐतांदां नियुक्त करने लगा। इन नए प्रशासकों के लिए राजभक्ति अनिवार्य शर्त थी। ये कुलीन तो होते ही नहीं थे इसलिए राजकृपा पर ही अपनी महत्ता बनाए रख सकते थे। इन्हें न्याय, सुरक्षा और प्रशासन संबंधी सारे अधिकार थे। इन पर एक मात्र नियंत्रण रिशलिउ का था जो इन प्रशासकों से हमेशा संपर्क बनाए रखता था और इनके बारे में पता भी लगाया करता था। नए प्रशासकों के अधिकार इतने अधिक थे कि सामंतों के लिए कुछ करने को ही नहीं बचा। धीरे धीरे वे राजधानी की शोभा बढ़ाने, राजा के आगे पीछे घूमने, नाच तमाशों में भाग लेने के अलावा और किसी भी काम के लिए बेकार हो गए।

यूरोप के अन्य देशों की तरह फ्रांस में भी प्रतिनिधि सभा की परंपरा थी। कई क्षेत्रों में क्षेत्रीय सभाएं होती थीं। कुछ नगरों में भी म्युनिसिपल सभाएं थीं। पूरे राज्य के लिए स्टेट्स जनरल थी। वह स्वयं इसी राष्ट्रीय सभा के माध्यम से राजधानी तक पहुंचा था। लेकिन उसने देखा था कि लंबी बहसों के अलावा वहां कुछ होता नहीं। समुद्र पार इंग्लैंड में राजा और पार्लियामेंट का भयानक संघर्ष चल रहा था। रिशलिउ ने सोचा कि इस तरह की कोई भी संस्था राजा की शक्ति पर अंकुश का काम करेगी। लेकिन उसे भंग करने से देश में विरोध हो

सकता था। इसलिए उसने किसी भी प्रतिनिधि सभा से कार्य लेना बंद कर दिया उसकी नीति उसके अनुयायियों ने भी अपनाई और धीरे धीरे लोग भूल गए कि फ्रांस में कोई प्रतिनिधि सभा भी थी। कई पीढ़ियों तक राजा की शक्ति सुरक्षित बनी रही। लेकिन इसके दूरगामी परिणाम राजतंत्र के लिए घातक हुए। देश में एक प्रकार की राजनीतिक निष्क्रियता आ गई। लोग तटस्थ और निर्लिप्त हो गए और अंत में जब राजा निकम्मा साबित हुआ तो देश में कोई विकल्प नहीं था इसलिए क्रांति हो गई।

इसी तरह एक न्यायिक संस्था थी पार्लेमां। सारे देश में पार्लेमां के न्यायाधीश महत्वपूर्ण कार्य करते थे। पेरिस की पार्लेमां अत्यंत महत्वपूर्ण थी। कोई भी राजाज्ञा तब तक मान्य नहीं होती थी जब तक पेरिस की पार्लेमां उसे स्वीकार न कर ले। रिशलिउ ने पार्लेमां के अधिकार समाप्त न कर सदस्यों को वश में करके पार्लेमां को भी नियंत्रित कर लिया।

उसने फ्रांस के परंपरागत प्रशासन में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया। आधार वही बने रहे लेकिन ऊपर से उसने अपनी व्यवस्था थोप दी। इसलिए परिवर्तन सैद्धांतिक और वैचारिक स्तर पर हुआ। सामंतवाद को जबरदस्त धक्का पहुंचा। मनुष्य के विकासक्रम में सामंतों की अपेक्षा मध्यवर्ग अधिक प्रगतिशील था और मध्यवर्ग को बढ़ावा देकर रिशलिउ ने प्रगतिशील शक्तियों को अपने संघर्ष में मदद पहुंचाई। अब राजा फ्रांस का नाममात्र का शासक नहीं, वास्तविक शासक हो गया। सारे वित्तीय और सैनिक साधन उसके हाथ में आ गए। इस प्रकार जो काम इंग्लैंड में एलिजाबेथ ने किया था, रिशलिउ ने फ्रांस में किया और राजा के नेतृत्व में शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना हुई। लेकिन इंग्लैंड में मध्यवर्ग अधिक शक्तिशाली था। इसलिए वहां शक्ति सामंतों के हाथ से निकल कर पार्लियामेंट के हाथों में आ गई। फलतः जबकि फ्रांस में राजा की तानाशाही का सूत्रपात हुआ जिसमें मध्यवर्ग उसका पिछलग्गू बन गया।

वैदेशिक संबंध : आंतरिक संगठन और केंद्रीकरण तो रिशलिउ की नीति का एक पक्ष था। वह फ्रांस को यूरोप में शक्तिशाली और प्रतिष्ठित बनाने के लिए कृतसंकल्प था। वह जानता था कि जब तक फ्रांस को प्राकृतिक सीमा नहीं मिल जाती और उत्तर में राइन नदी और दक्षिण पश्चिम में पिरेनीज के पहाड़ों तक फ्रांस का विस्तार नहीं हो जाता, फ्रांस न तो पूरी तरह सुरक्षित होगा न शक्तिशाली। यह लक्ष्य तब तक पूरा नहीं हो सकता था जब तक हैप्सबर्ग परिवार कमजोर न हो जाए। पवित्र रोमन साम्राज्य और स्पेन के राज्यों से फ्रांस बुरी तरह घिरा हुआ था। इसलिए उसी पर प्रहार करने की आवश्यकता थी।

रिशलिउ ने देखा कि हैप्सबर्ग परिवार के राज्यों में विघटनकारी शक्तियां बढ़ रही हैं। उसने नीदरलैंड्स के डच और जर्मनी के प्रोटेस्टेंट लोगों की मदद

करनी शुरू की। तीस वर्षीय युद्ध चल रहा था। फ्रांस के लिए यह स्वर्णिम अवसर था। रिशलिउ ने साम्राज्य के दुश्मनों की पूरी मदद की। समर्थन और सहयोग के लिए एक ही आधार था—हैप्सबर्ग परिवार से दुश्मनी। जब डेनमार्क और स्वीडन ने युद्ध में प्रवेश किया तो उन्हें फ्रांसीसी मदद प्राप्त थी लेकिन परोक्ष मदद का पूरा परिणाम नहीं निकल रहा था। कैथोलिक लोग और साम्राज्य की सेनाएं हर बार भारी पड़ जाती थीं। अंत में रिशलिउ ने ऐतिहासिक निर्णय लिया। उसने प्रोटेस्टेंट लोगों का पक्ष लेकर खुले आम युद्ध में हिस्सा लेने का निर्णय किया।

फ्रांस की राजसत्ता को अक्षुण्ण बनाने के लिए ही उसने फ्रांस के प्रोटेस्टेंटों का दमन किया था और उसी के लिए उसने जर्मनी के प्रोटेस्टेंट संघ की मदद की। फ्रांस की सेना संगठित हो चुकी थी। त्यूरेन और कोंदे जैसे योग्य और बहादुर सेनापति मिल चुके थे। फ्रांसीसी सेनाओं ने हर तरफ से हैप्सबर्ग राज्यों की सेनाओं से लोहा लिया और उसके दुश्मनों की मदद की। शुरू में सफलता मिलती नहीं दिखी लेकिन रिशलिउ का निश्चय और लगन असाधारण थे। उसने ऐसी ऐसी चालें चलीं, कूटनीति और युद्ध का ऐसा इस्तेमाल किया कि सात वर्षों के सतत प्रयास से अंत में फ्रांसीसी सेनाओं को विजय मिलने लगी।

युद्ध का समापन देखने के लिए वह जिंदा नहीं बचा लेकिन 1642 में जब वह मरा तो युद्ध के रुख का पता चल गया था। यह निश्चित हो चुका था कि स्पेन अब नहीं उठ सकेगा। साम्राज्य की नींव हिल गई थी। वेस्टफेलिया की संधि में जो निर्णय लिए गए उनका आधार रिशलिउ ने ही बनाया था। इस प्रकार राजा और अपने राष्ट्र की सेवा में रत उसे यह संतोष रहा होगा कि उसने अपने वायदे का पूरी तरह पालन किया था।

मूल्यांकन : इतिहास राजाओं को याद करता रहा है। राजाओं के शासनकाल के आधार पर ही विभिन्न कालों का नामकरण होता रहा है। लेकिन इतिहास में ऐसे भी उदाहरण हैं कि शासक इतना निकम्मा हुआ है कि उसे कोई भी याद नहीं करता। भारत के इतिहास में चंद्रगुप्त से अधिक उसका सलाहकार चाणक्य याद किया जाता है। बलबन सुल्तान बनने के पहले किसका मंत्री था, यह बहुतों को याद नहीं होगा। इसी प्रकार अठारह वर्षों तक रिशलिउ फ्रांस का विधाता बना रहा। जिस राजा की सत्ता के लिए उसने अथक प्रयास किया, उसे बस इसलिए जाना जाता है कि रिशलिउ उसका मंत्री था।

रिशलिउ शारीरिक रूप से बहुत प्रभावशाली नहीं था। अक्सर बीमार रहता था। लेकिन अपने मनोबल के कारण वह सारी कमियां पूरी कर लेता था। लोगों के बीच जाने से पहले वह अपनी वेशभूषा पर विशेष ध्यान देता था। प्रायः लाल रंग के वस्त्र पहनता था जो फौरन उसे औरों से भिन्न कर देते थे। व्यक्तिगत

स्वार्थ और महत्वाकांक्षा को अपने उद्देश्यों के रास्ते में नहीं आने देता था। पुनर्जागरण ने जिन नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया था, उसने उन्हें आत्मसात कर लिया था। इसीलिए वह धार्मिक मामलों में सहिष्णु और धर्म निरपेक्ष था। स्वयं कार्डिनल होते हुए भी कैथोलिक चर्च को राजनीति और विशेषकर फ्रांस की राजनीति से अलग करके देखता था। अपने देश और अपने राजा के लिए वह चर्च के हितों की भी परवाह नहीं करता था। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि आज यूरोप में बहुत से देश प्रोटेस्टेंट हैं इसका श्रेय एक कैथोलिक रिशलिउ की नीतियों को मिलता है। तभी तो उसे 'प्रोटेस्टेंटों का कार्डिनल' कहते थे।

वह जानता था कि देश तभी शक्तिशाली होगा जब सारी शक्ति एक जगह केंद्रित हो। सामंतों की शक्ति को वह विघटनकारी समझता था, इसलिए उसने उन्हें निष्क्रिय और बेकार कर दिया। मध्यवर्ग को वह उपयोगी समझता था। उनसे उसने सहयोग किया। प्रजातांत्रिक संस्थाओं को उसने कोई महत्व नहीं दिया। फ्रांस में स्टेट्स जनरल के लड़ाई झगड़े उसने देखे ही थे। इंग्लैंड में भी पार्लियामेंट राजा का विरोध कर रही थी। इसीलिए हर प्रतिनिधि संस्था को उसने बेकार समझा। इससे तात्कालिक परिणाम तो अच्छा निकला। राजतंत्र शक्तिशाली होता गया और लूई चतुर्दश स्वयं को ही राज्य कहने लगा : मैं ही राज्य हूं। लेकिन इसके दूरगामी परिणाम बहुत बुरे हुए। घोर केंद्रीकरण और तानाशाही का परिणाम यह हुआ कि सौ साल के बाद ही विरोध शुरू हुआ। और रिशलिउ की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों के बाद ही फ्रांस के राजा को सूली पर चढ़ा दिया गया।

वैदेशिक संबंधों के विषय में रिशलिउ की नीति दूरदर्शी थी। हैप्सबर्ग परिवार को कमजोर बनाकर उसने फ्रांस का मार्ग प्रशस्त किया। स्पेन और पवित्र रोमन साम्राज्य का पतन ही होता गया। अंत में स्पेन फ्रांस के राज-परिवार के ही हाथ में आ गया और साम्राज्य को फ्रांस के ही शासक नेपोलियन ने भंग कर दिया। अतः फ्रांस को महान शक्ति बनाने का सूत्रपात्र रिशलिउ ही ने किया।

रिशलिउ के कार्यों पर विहंगम दृष्टि डालने पर ऐसा लगता है कि उसके कार्य जनविरोधी थे। उसने केवल राजा का भला किया। फ्रांस की कृषि और उद्योग तिरस्कृत रहे। आर्थिक दृष्टि से फ्रांस कमजोर होता गया। राजा की शान-शौकत बढ़ती गई। जनता गरीब होती गई। यह सच है कि उसने सांस्कृतिक महत्व के भी कार्य किए। अकादमियां स्थापित हुईं। राष्ट्रीय पुस्तकालय को संगठित किया गया। लेकिन वह उन व्यक्तियों में से था जो देश की अमूर्त महिमा के प्रशंसक होते हैं। फ्रांसीसी एक शब्द से बहुत प्यार करता है, ग्लुआर जिसका अर्थ होता है महिमा। रिशलउ से लेकर फ्रांस के विश्वविख्यात राष्ट्रपति दगाल

तक बहुत से फ्रांसीसी शासक हुए हैं जिन्होंने फ्रांस को महान बनाए रखने के लिए ऐसे भी काम किए हैं जिनसे जनता का वास्तविक लाभ कुछ भी नहीं हुआ है लेकिन फ्रांस की प्रतिष्ठा बढ़ी है। रिशलिउ को इसी संदर्भ में देखना चाहिए। कुछ भी हो, रिशलिउ फ्रांस में हमेशा याद किया जाएगा क्योंकि उसने फ्रांस को शक्तिशाली और प्रतिष्ठित बनाने के लिए अथक प्रयास किया था।

लूई चतुर्दश

रिशलिउ की मृत्यु के एक वर्ष के अंदर ही उसके शासक की भी मृत्यु हो गई। उत्तराधिकारी लूई, जो लूई चतुर्दश के नाम से फ्रांस के इतिहास का सबसे प्रसिद्ध राजा हुआ, केवल पांच वर्ष का था। रिशलिउ के काम अधूरे थे और उसके किए-कराए पर पानी पड़ सकता था। लेकिन उसने भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। उसका शिष्य माजारैं इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त था।

माजारैं

उस जमाने में राष्ट्रीयता की जकड़ इतनी मजबूत नहीं थी। लोग नौकरी करने दूसरे देशों में चले जाते थे और ऊंचे ऊंचे पदों पर सुशोभित होते थे। आज तो दूसरे देश में कोई मजदूरी भले ही कर ले, राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर देश के ही आदमी रखे जाते हैं।

माजारैं इटालियन था और चर्च की नौकरी करता था। पोप ने ही उसे पेरिस में नियुक्त किया था। रिशलिउ ने उसकी योग्यता को पहचान कर उसे राज्य की नौकरी दी थी और लगातार आगे बढ़ाया था। माजारैं की रिशलिउ से तुलना नहीं की जा सकती। रिशलिउ के मुकाबले में वह एक साधारण व्यक्ति था जिसमें न मौलिकता थी न दूरदर्शिता। लेकिन वह यह जानता था कि रिश-लिउ के कार्यों को पूरा करना है। सामंतों का दमन और हैप्सबर्ग परिवार को नीचा दिखाना रिशलिउ के प्रमुख कार्य थे। इन्हें माजारैं ने पूरा किया। जैसे किसी खत को पूरा करने के बाद कुछ याद आ जाए और 'पुनश्च' के बाद कुछ और लिखकर उसे पूरा किया जाए वैसे ही माजारैं ने रिशलिउ को उसकी परि-णति तक पहुंचाया। इसलिए उसे 'पोस्ट स्क्रिप्ट टु रिशलिउ' कहते हैं।

माजारैं को ठीक से फ्रांसीसी बोलना कभी नहीं आया और इस प्रकार वह विदेशी बना रह गया। फिर भी रिशलिउ की मृत्यु से अपनी मृत्युपर्यंत वह उन्नीस वर्षों तक फ्रांस का वास्तविक शासक बना रहा। रिशलिउ जिस कार्य को निर्दय होकर आवश्यकता पड़ने पर हिंसा और युद्ध के द्वारा पूरा करता था उसे माजारैं जहां तक हो सकता था कूटनीति से पूरा करता था। इसीलिए विरोधों के

वावजूद वह फ्रांस का मंत्री और चर्च का कार्डिनल वन सका।

आंतरिक व्यवस्था : रिशलिउ ने सामंतों को दवा तो दिया था लेकिन उनकी शक्ति समाप्त नहीं हुई थी। कह सकते हैं कि सांप तो मर गया था लेकिन उसका सिर नहीं कुचला गया था। रिशलिउ के मरते ही वे सिर उठाने लगे। मध्यवर्ग के लोगों ने सामंतों के विरुद्ध रिशलिउ का साथ दिया था लेकिन वे माजारैं से असंतुष्ट थे। यह वढ़ती राष्ट्रीयता का युग था और एक ऐसे विदेशी का मंत्री होना जो अपने राज्य की भाषा भी ठीक से न जाने, लोगों को वहुत खलता था। दूसरे माजारैं दांवपेच करता रहता था। स्वार्थी होने के कारण उसने वहुत सारा धन भी इकट्ठा कर लिया था। इन कारणों से मध्यवर्ग भी ईर्ष्यालु हो गया था। सामंतों को इससे सहारा मिला और उन्होंने अंतिम वार राजा की सत्ता को ललकारा। उनके विद्रोह को इतिहास में फ्रोंद के नाम से जाना जाता है। फ्रोंद पेरिस के बच्चों का एक खेल था जो वे सड़कों पर खेलते थे। इसीलिए अक्सर पुलिस वाले उन्हें रोक देते थे।

इस विद्रोह का स्वरूप पांच वर्षों में कई वार वदला। पहले तो ऐसा लगा कि यह राजा की वढ़ती निरंकुशता के विरोध में परंपरागत वैधानिक संस्थाओं, जैसे पार्लमां का विद्रोह है। फिर इसने दमन के विरुद्ध जन आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया। कभी यह षड्यंत्रकारियों द्वारा उकसाया हुआ व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए किया गया आंदोलन लगा। अंत में निश्चित हो गया कि यह सामंतों का मध्यवर्ग और राजा के विरुद्ध शक्ति प्राप्त करने का, अस्तित्व की रक्षा का संघर्ष है।

पेरिस की पार्लमां एक शक्तिशाली संस्था थी। जब से 'पोलेत' नामक कर लगा था, जिसे देकर पद अपने उत्तराधिकारी के लिए सुरक्षित किया जा सकता था, पार्लमां के सदस्य और शक्तिशाली हो गए थे। वे ब्रिटिश पार्लियामेंट की शक्ति देखकर अपने लिए भी वे ही अधिकार चाहने लगे थे। वास्तविकता यह थी कि दोनों में कोई समानता नहीं थी। एक व्यवस्थापिका थी, कानून बनाने का कार्य करती थी। दूसरी न्यायपालिका थी। लेकिन कानून बनाने पर पार्लमां की स्वीकृति लेने की परंपरा के कारण पेरिस की पार्लमां के सदस्य प्रभावशाली थे तथा अपना प्रभाव और भी वढ़ाना चाहते थे।

1648 में पेरिस में एक नया कर लगाया गया। इस चुंगी को जनता ने पसंद नहीं किया। शासक अभी वयस्क नहीं था। मंत्री विदेशी था और जनता नए कर के विरुद्ध थी। अवसर अनुकूल था। पार्लमां ने इस कर को स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। ऐसी परिस्थिति में परंपरा थी कि राजा स्वयं पार्लमां में आए और अपने स्थान (लिट दे जस्टिस) से कर को मान्य करने की घोषणा कर दे। शिशु लूई ने माजारैं के निर्देश पर ऐसा किया भी लेकिन पार्लमां का विरोध बना रहा।

उसने एक समिति बना दी जिसने 27 मांगें रखीं। इन मांगों में प्रमुख थीं : ऐंतांदों के पद का अंत, भूमि कर में कमी, गिरफ्तार व्यक्तियों को निश्चित समय के भीतर न्यायालय के सामने प्रस्तुत करना और करों पर पार्लमां का नियंत्रण। पेरिस में विरोध इतना बढ़ा कि लोगों ने सड़कों पर विद्रोह करना शुरू कर दिया। कुछ मांगें स्वीकार करनी पड़ीं। कुछ ऐंतांदां हटाए गए और भूमि कर भी कम कर दिया गया। लेकिन कुछ ऐसी भी मांगें थी जिनके मानने पर सैद्धांतिक परिवर्तन करने पड़ते। इसी बीच फ्रांसीसी सेनाओं को विजय मिली और इस उपलक्ष्य में प्रसिद्ध गिरजाघर 'नात्रदाम' में एक समारोह आयोजित हुआ। माजारैं ने देखा कि अवसर आ गया है। उसने विरोध के प्रमुख नेता ब्रसेल को गिरफ्तार करवा दिया। लेकिन विरोध इतना बढ़ा कि लगा कि पेरिस की सड़कों पर भयंकर हिंसात्मक मुठभेड़ें होंगीं। सेनापति कोंदे और त्यूरेन पर भरोसा नहीं किया जा सकता था कि वे किसका साथ देंगे। इसलिए ब्रूसेल को छोड़ना पड़ा और अधिकांश मांगें स्वीकार करनी पड़ीं। इस तरह फ्रोंद का पहला अध्याय राजा और माजारैं के विरुद्ध सफल हो गया।

फिर भी शांति नहीं स्थापित हो सकी। पेरिस में छुटपुट वारदातें होती रहीं। व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए कुछ सामंत षड्यंत्र करते रहे। राजदरबार ने एक समझौता भी किया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। कोंदे भी षड्यंत्र में शामिल था। निराश माजारैं कुछ दिनों के लिए पेरिस से दूर चला गया। लोगों ने समझा कि उसका पतन हो गया और उन्होंने खुशियां मनाईं। लेकिन विद्रोह दबा नहीं। फ्रांस भर में तरह तरह के दंगे होने लगे। माजारैं लौटा और उसने राजा के समर्थकों और त्यूरेन की मदद से परिस के विद्रोहियों को दबाने का कार्य शुरू किया। कोंदे स्वयं विद्रोहियों का नेतृत्व कर रहा था। जब माजारैं को लगा कि अधिकतर विद्रोह उसी के प्रति है तो वह अलग चला गया। पेरिस पर राजा का नियंत्रण हो गया। कोंदे को देश छोड़कर भागना पड़ा। धीरे धीरे विरोधियों को पकड़ पकड़ कर सजा दी गई और फ्रोंद का अंत हो गया। माजारैं फिर अपने पद पर लौट आया।

पांच वर्षों की अशांति का कोई परिणाम नहीं निकला। सामंत अपनी खोई शक्ति वापस नहीं पा सके। पार्लमां की महत्वाकांक्षा भी पूरी नहीं हो सकी। उसका कार्यक्षेत्र केवल न्याय निर्धारित कर दिया गया। पेरिस पर शासन का नियंत्रण बढ़ा दिया गया। राजा की निरंकुशता का जहां से विरोध हुआ था वहीं नियंत्रण बढ़ता गया और इस संघर्ष से, जो गृहयुद्ध का रूप ले रहा था, अंततोगत्वा राजतंत्र शक्तिशाली ही हुआ।

वैदेशिक नीति : तीस वर्षीय युद्ध के परिणाम फ्रांस के पक्ष में हो चुके थे। तभी रिशलिउ मर गया। माजारैं ने युद्ध जारी रखा और जब वेस्टफेलिया की संधि हुई

तो बहुत सी शर्तें फ्रांस के पक्ष में थीं। (देखिए वेस्टफेलिया की संधि) । फ्रांस की सीमा उत्तर-पूर्व में आगे बढ़ी और साम्राज्य में फ्रांस का महत्व बढ़ गया। दक्षिण में स्पेन से पूरी तरह समझौता हो नहीं पाया था। माजारैं ने इंग्लैंड के शासक क्रामवेल से समझौता किया और उसकी मदद से स्पेन में युद्ध शुरू हुआ। अंत में पिरेनीज की संधि के द्वारा युद्ध का अंत हो गया। इस संधि की विशेष बात यह थी कि हैप्सबर्ग और बूर्बों जैसे प्रतिद्वंद्वी परिवारों में वैवाहिक संबंध स्थापित हो गया। स्पेन की राजकुमारी का विवाह फ्रांस के शासक लूई से संपन्न हुआ। इसी विवाह के कारण बाद में स्पेन का राज्य भी बूर्बों वंश के कब्जे में आ गया।

मूल्यांकन : माजारैं की मृत्यु ठीक समय से हुई, क्योंकि लूई ने शासन अपने हाथ में लिया तो निश्चित था कि माजारैं से संबंध बिगड़ सकते थे। माजारैं की विशेष उपलब्धि थी सामंतों का अंतिम रूप से दमन। पार्लमां कोई जन प्रतिनिधि संस्था नहीं थी। फ्रोंद के दौरान जो विद्रोह हुए उनमें से अधिकांश स्वार्थी लोगों द्वारा भड़काए हुए थे। वैसे भी यह इतिहासक्रम के विरुद्ध था कि सामंतों को शक्ति वापस मिल जाए। इस तरह माजारैं ने अपने समय के लिए एक उपयुक्त कार्य ही किया। लेकिन इसके अतिरिक्त उसे कोई सफलता नहीं मिली। सारे देश में अराजकता और अव्यवस्था बढ़ गई। कोई स्थाई सुधार नहीं हुए। सल्ली द्वारा किए गए सुधार समाप्त हो गए। विदेशों से संबंध के क्षेत्र में अवश्य फ्रांस को सफलता मिली। उसके मंत्रित्वकाल में हुई वेस्टफेलिया और पिरेनीज की संधियां फ्रांस के बढ़ते प्रभाव की साक्षी थीं।

इस तरह माजारैं का एकमात्र कार्य रिशलिउ के अधूरे कार्यों को पूरा करना था। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इतने विरोध के बावजूद विदेशी होते हुए भी उसने अपना प्रभाव बनाए रखा। अपने में यह एक महत्वपूर्ण कार्य था। उसकी सबसे बड़ी यादगार फांस की सबसे प्रतिष्ठित संस्था 'इंस्टीट्यूट' है जिसकी इमारत का नाम उसी के नाम पर रखा गया है।

लूई चतुर्दश का शासन

आधुनिक इतिहासकारों में वोल्तेयर का नाम सबसे पहले आता है। उसने ही इतिहास में बीते हुए दिनों की समग्रता का, विशेषकर सांस्कृतिक उपलब्धियों का, महत्व बताया था। उसने अपनी इतिहास पुस्तक का नाम रखा, 'लूई चतुर्दश का काल'। उसने लूई के काल में जो कुछ भी हुआ उसे करीब से देखा समझा था। उसने भी माना कि पूरी अर्धशताब्दी में जो भी हुआ उस पर उसके व्यक्तित्व की छाप थी। राजनीति से दैनिक कार्यों, आचार-व्यवहार, वेशभूषा तक ऐसा कुछ भी नहीं था जिस पर उसका प्रभाव न हो। वह प्रभाव राजधानी से विकसित होता-

फैलता धीरे धीरे सारे यूरोप तक पहुंच गया था। राजनीति में उसे सफलता भी मिली और असफलता भी। लेकिन फ्रांस की सांस्कृतिक उपलब्धियां हर कहीं विजयी हुईं। यही कारण है कि व्यक्तिगत जीवन बहुत प्रतिभाशाली न होते हुए भी लूई को महान शासक (ल ग्रांद मोनार्क) कहा जाता है।

राजत्व का सिद्धांत : इतने विस्तृत शासनकाल में उसने बहुत कुछ किया। उसके पूर्ववर्तियों ने जिस एकतंत्र की नींव रखी थी उस पर उसने एक आलीशान अट्टालिका खड़ी की। राजा और उसकी राजधानी की चमक से सभी चकाचौंध थे। उसकी तुलना सूरज से की जाती थी। उसे Roi Soleil या Sun King कहा जाता था। यह बात बड़ी सारगर्भित थी। जैसे पूरे सौरमंडल का केंद्र सूरज होता है वैसे ही पूरी व्यवस्था का केंद्र वह स्वयं था। और जिस प्रकार सौरमंडल के सभी ग्रह सूरज का चक्कर लगाते हैं उससे प्रकाश और जीवन पाते हैं उसी प्रकार उसके राज्य में जीवन और प्रकाश उसी से प्रवाहित होता था।

जबसे राजतंत्र का जन्म हुआ है राजाओं ने अपनी विशिष्टता को सैद्धांतिक रूप देने का प्रयास किया है ताकि दूसरे उसे बिना विरोध किए स्वीकार कर लें। समाज में अधिकांश लोग भाग्यवादी होते हैं इसलिए राजओं ने यह स्थापित करने की कोशिश की है कि उन्हें राजा के रूप में ही ईश्वर ने पैदा किया है और इस स्थिति में मनुष्य चाहकर भी परिवर्तन नहीं कर सकता। परिणामतः राजा की आज्ञाओं का पालन करना जनता की नियति है। इस काम में राजाओं का साथ पुरोहितों ने हमेशा से दिया है। राजा की सत्ता को धार्मिक लबादा पहनाकर पुरोहित अपनी विशिष्टता भी सुरक्षित कर लेता था। यह हमेशा और हर देश में हुआ है।

लूई ने इस काम को बड़ी धूमधाम और गरिमा के साथ संपन्न किया। उसे अपने लड़के के शिक्षक वोस्सुए पर भरोसा था। वोस्सुए एक पटु पादरी था और इतिहास तथा दर्शन में उसका विशद अध्ययन था। रोज जब वह चर्च में भापण करता था तो राजा की सर्वोच्चता की हिमायत करता था। उसके अनुसार राजतंत्र 'सबसे प्राचीन, सबसे उपयुक्त और सबसे स्वाभाविक शासनतंत्र है।' राजा पूरे राष्ट्र का मूर्त रूप होता है। वह कहता था कि राजा को ईश्वर अपने विशेष कार्य के लिए पैदा करता है। राजा के माध्यम से ही ईश्वर संसार पर नियंत्रण रखता है। इसलिए राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। राजा प्रजा का पिता तुल्य होता है। प्रजा को शासन में कोई हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। जैसे सारे गुण, सारी पूर्णता ईश्वर में निहित होती है वैसे ही किसी समाज के व्यक्तियों की सारी शक्तियां राजा में निहित होती हैं। (ऐज इन गाड आर यूनाइटेड आल परफेक्सन ऐंड एवेरी वर्च्यू सो आल द पावर आफ आल द इंडिविजुअल्स इन ए कम्युनिटी इज यूनाइटेड इन द पर्सन आफ द किंग)। इस प्रकार राजा के मंत्री

भी उसके कर्मचारी हो गए। मंत्री स्वतंत्र रूप से कोई निर्णय नहीं ले सकते थे। रिशलिउ जैसे मंत्री अब संभव नहीं थे। लूई का योग्य मंत्री कोल्वेर भी पूरी तरह स्वतंत्र नहीं था। राज्य के हर कार्य का राजा प्रतिमूर्ति हो गया, यहां तक कि वह कहने लगा कि 'मैं ही राज्य हूं'।

शक्ति के इतने केंद्रीकरण के कारण उसने जिन व्यक्तियों के माध्यम से शासन किया, वे न तो अपनी पूरी प्रतिभा प्रदर्शित करते थे, न अपने शासक की बराबरी कर सकते थे। लूई का कोई विरोध तो कर ही नहीं सकता था, वह स्वयं हर विभाग, हर कार्य का शीर्षस्थ व्यक्ति था। अन्य लोगों की हैसियत बस मातहत कर्मचारी की थी।

आंतरिक प्रशासन : उसे किसी रिशलिउ जैसे मंत्री की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि अंतिम निर्णय वह स्वयं लेता था। मंत्रियों को उन्हें बस कार्यान्वित करना होता था। कर्मचारियों की नियुक्ति और उनके कार्य की निगरानी वह स्वयं करता था। राजधानी में मंत्रियों से स्थानीय कर्मचारियों तक सब पर उसका व्यक्तिगत नियंत्रण था। वह स्वयं परिश्रम करता था और कहा करता था कि 'शासन कार्य के माध्यम से कार्य के लिए ही होता है।' (वन रेन्स बाई वर्क ऐंड फार वर्क)। शासन को वह पेशेवर पटुता प्रदान करना चाहता था। जैसे अन्य पेशे होते हैं वैसे ही राजा का भी एक पेशा होता है और राजा अपने अध्यवसाय और योग्यता के अनुसार उसमें दक्ष हो सकता है। लूई ने वास्तव में अभूतपूर्व दक्षता प्राप्त की और राज्य को एक संगठित तंत्र बनाने में सफल हुआ।

उसकी छत्रछाया में उसकी जैसी ही प्रतिभावाला व्यक्ति पनप नहीं सकता था। फिर भी उसे ऐसे व्यक्तियों का सहयोग मिला जो पहले से ही राज्य के सेवक थे। उसके अंतिम दिनों में तो प्रतिभाओं का अकाल पड़ गया। अत्यंत साधारण लोगों की मदद से उसे शासन करना पड़ा।

उसके शासनकाल में एकमात्र अपवाद हम कोल्बेर को समझ सकते हैं। कोल्बेर आर्थिक मामलों में असाधारण प्रतिभासंपन्न था। लूई को व्यक्तियों की पहचान थी। आंतरिक प्रशासन को कोल्बेर के हाथों छोड़कर वह निश्चिंत हो गया। युद्ध, कूटनीति और दरबार की शान-शौकत संबंधी कार्यों में रुचि लेने की उसे फुरसत मिल गई।

कोल्बेर का प्रशासन : कोल्बेर एक मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा था। एक व्यापारी का लड़का होते हुए भी माजारैं की कृपा से वह उन्नति करता चला गया और अंत में लूई ने भी उसकी योग्यता पहचान कर युद्ध मंत्रालय के अलावा सारे महत्वपूर्ण मंत्रालय उसे सौंप दिए। वह एक स्वामिभक्त मंत्री साबित हुआ और बीस वर्षों तक अपने राजा, अपने देश और अपने वर्ग के हितों के लिए अथक परिश्रम करता रहा। लूई और कोल्बेर का सहयोग राजतंत्र और मध्यवर्ग के

सहयोग का चरमोत्कर्ष था।

कोल्वेर के सामने तात्कालिक और सबसे महत्वपूर्ण समस्या राजकोष से संबंधित थी। रिशलिउ और माजरैं ने ऊपर से राजतंत्र को मजबूत किया था लेकिन उसके आर्थिक आधार पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। उसने देखा कि राज्य ने ऊंची दरों पर बहुत सा कर्ज ले रखा है। कर वसूली ठीक से न होने से कम धन राजकोष में आ पाता है। जैसे अंगरेजों ने कर वसूली जमींदारों को सौंप दी थी और वे मनमाने ढंग से वसूली करते थे वैसा ही फ्रांस में होता था। बहुत बड़ी मात्रा में कर वसूली हुई ही नहीं थी। राज्य के पदों की बिक्री होती थी और हिसाब-किताब सही रूप से नहीं रखा जाता था।

उसने वित्तीय समस्याओं को प्राथमिकता दी। एक बहुत बड़ा वर्ग विशेषाधिकारों के नाते राजकोष का सबसे प्रमुख श्रोत भूमि कर देता ही नहीं था। यह कर वह सब पर नहीं लगा सका क्योंकि वह जानता था कि इसका कितना विरोध होगा। लेकिन बहुत से करों से मुक्त लोगों को फिर से कर देने की व्यवस्था की गई। राज्य को उधार देने में बहुत बेइमनी हुई थी। इसलिए उसने बहुत से कर्जों की वैधता को समाप्त कर दिया। सूद की दरें कम कर दी गईं। जिन लोगों ने कर वसूली में बेइमानी की थी उनका पता लगाया गया और उनसे सात करोड़ बकाया वसूला गया। विश्वासपात्र कर्मचारियों की नियुक्ति की गई। प्रांतों के प्रशासकों को कर वसूली की जिम्मेदारी सौंप दी गई। राज्य के खर्चों में कमी की गई। वह दरबार के खर्चे को भी नियंत्रित करना चाहता था लेकिन लूई ने जो शाहखर्ची शुरू की उसमें वह कमी नहीं कर सका। उसने कोई नया कर नहीं लगाया। चुंगी और सीमा कर की दरें घटा दीं। इस प्रकार केवल व्यवस्था ठीक कर देने से राजकोष का घाटा समाप्त हो गया और उल्टे लाभ होने लगा।

वह जानता था कि जब तक अर्थव्यवस्था का कोई स्थाई आधार नहीं होगा ऊपरी सुधारों से काम नहीं चलेगा। इसीलिए उसने कृषि और उद्योग पर विशेष ध्यान दिया। इस संबंध में उसने कोई मौलिक नीति नहीं अपनाई। उसने वही किया जो इंग्लैंड जैसे देश में हो रहा था और जिसे 'मरकैंटिलिज्म' कहा जाता था। इस वाद का अर्थ था कि सारी आर्थिक गतिविधि पर राज्य का नियंत्रण रहे। इसके अनुसार किसी एक व्यक्ति, क्षेत्र या वर्ग का हित महत्वपूर्ण नहीं था, सारे राज्य का हित सर्वोच्च था। इसके लिए आवश्यक था कि राज्य किसी चीज के लिए दूसरे देशों पर निर्भर न हो क्योंकि हर पड़ोसी संभावित दुश्मन समझा जाता था।

इस नीति के अनुसार आत्मनिर्भरता पर जोर दिया गया। उसने कृषि पर विशेष ध्यान दिया। किसानों की सुरक्षा के लिए यह कानून बना कि किसी परिस्थिति में खेती के उपकरण उनसे छीने नहीं जा सकते। चौपायों के पालन को

प्रोत्साहित किया गया। नहरें बनवाई गईं। आंतरिक व्यापार अनेक तरह के करों के कारण अवरुद्ध रहता था। उन्हें वह पूरी तरह तो समाप्त नहीं कर सका, लेकिन बहुत सारी चुंगियां समाप्त कर दी गईं ताकि सामान एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक आवश्यकतानुसार निर्बाध रूप से पहुंच सके।

उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए उसने फ्रांसीसी कारीगरों के विदेश जाने पर प्रतिबंध लगा दिया। इंग्लैंड, हालैंड और इटली के कारीगरों को विशेष सुविधाएं और पुरस्कार देकर फ्रांस आने का निमंत्रण दिया गया। धातुओं, कपड़े और शीशे का उद्योग बढ़ा। 100 औद्योगिक प्रतिष्ठानों को शाही मुहर लगाने की आज्ञा दे दी गई। उस समय दरबारी शान-शौकत का जमाना था। इसलिए भोग-विलास की चीजों का उत्पादन और व्यापार बहुत बढ़ा। नगरों, विशेषकर राजधानी में ऐसी वस्तुओं के लिए खुला बाजार था। धीरे धीरे ये चीजें विदेशों में भी जाने लगीं। उसने आयात पर तरह तरह के प्रतिबंध लगा दिए और निर्यात को हर तरह का प्रोत्साहन दिया। मूल्य राज्य की ओर से निर्धारित किया जाता था और इंस्पेक्टर लोग बराबर निगरानी करते थे।

उद्योग के विकास के लिए यातायात के साधनों की उन्नति आवश्यक थी। कोल्बेर ने सड़कों के निर्माण को बहुत महत्व दिया। उसे रोमन लोगों के बाद इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण सड़कों का निर्माता (ग्रेटेस्ट रोड मेकर इन फ्रेन्स सिंस द टाइम आफ रोमन्स) कहते हैं। उसने ऐसी नहरें भी बनवाईं जो यातायात के काम आएं। उसने उस समय की सबसे बड़ी, एक सौ साठ मील लंबी, लांग दांग नहर बनवाई जिससे फ्रांस का दक्षिणी समुद्र तट पश्चिमी समुद्र तट से जुड़ गया।

कोल्बेर इतना दूरदर्शी था कि औद्योगिक विकास के लिए स्थाई बाजारों की आवश्यकता समझता था। ऐसे स्थाई बाजार केवल उपनिवेश हो सकते थे। जहां से कच्चा माल मिले और जहां बने हुए सामान बेचे जा सकें, उसी के प्रोत्साहन से फ्रांस की 'ईस्ट इंडिया कंपनी' और पश्चिमी देशों से व्यापार करने के लिए 'कोंपानी द लुएस्त' की स्थापना हुई। उत्तरी देशों, अरब देशों और अफ्रीका से व्यापार करने के लिए अलग अलग कंपनियां बनाई गईं। इन कंपनियों पर अत्यधिक राजकीय नियंत्रण था जो बाद में कमजोर शासकों के समय घातक साबित हुआ। कुछ भी हो, कोल्बेर की नीतियों के परिणामस्वरूप भारतवर्ष, अफ्रीका में सेनेगाल और मादागास्कर और अमरीका में लूसियाना, ग्वादलूप और मारतिनिक जैसे स्थानों पर फ्रांसीसी व्यापार केंद्रित स्थापित हो गए।

उपनिवेशों के लिए एक शक्तिशाली नौसेना की आवश्यकता थी। उसने जहाजों के निर्माण और बंदरगाहों के विकास को प्रोत्साहन दिया। अपने शासन के दस वर्षों के अंदर उसने दो सौ से अधिक जहाज बनवाए। अटलांटिक तट पर

अच्छे बंदरगाह नहीं थे। उसने कैले, ब्रेस्ट और ल हाव्र नामक बंदरगाहों को विकसित किया और फ्रांस के दोनों तटों पर नौसेना रहने लगी। जहाजों को चलाने का काम अपराधी, युद्धबंदी और अमरीका में पकड़े गए कैदी करते थे। फ्रांस की नौसेना इंग्लैंड और हालैंड की उन्नत नौसेनाओं की बराबरी करने लगी। सैनिक जहाजों के साथ साथ व्यापारी जहाजों को भी विकसित किया गया। सैनिक शक्ति के लिए लूई स्वयं और युद्धमंत्री लूवुआ जिम्मेदार थे। फिर भी कोल्बेर ने धन की व्यवस्था की जिससे सेना का पुनर्संगठन हो सका। पैदल सेना का महत्व बढ़ा, संगीनों का इस्तेमाल शुरू हुआ। नई रणनीतियां विकसित की गईं और घायल तथा पंगु सैनिकों के लाभ के लिए एक विशेष संस्था ऐंवालिद की स्थापना की गई।

कोल्बेर ने स्थाई महत्व के सांस्कृतिक कार्यों में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। रिशलिउ द्वारा स्थापित अकादमी को और अच्छी तरह संगठित किया गया। विज्ञान के लिए अलग से अकादमी स्थापित की गई। पेरिस में नक्षत्रों के अध्ययन के लिए एक महत्वपूर्ण वेधशाला का निर्माण हुआ। सारे विश्व में कलात्मक कालीनों के निर्माण के लिए विख्यात संस्थान 'गोवलैं' खरीद लिया गया। आज भी गोवलैं के कालीन और टैपस्ट्री दुनिया में सबसे अधिक प्रसिद्ध माने जाते हैं। लेखकों को राजकीय संरक्षण दिया गया और विदेशी लेखकों को भी फ्रांस आने के लिए प्रोत्साहित किया गया। बहुत सारे निर्माण के लिए कोल्बेर व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार था।

एक प्रकार से उस सारी शान-शौकत के लिए वही जिम्मेदार था जिसका केंद्र वेर्साईय था और जिसका श्रेय लूई को मिला। वेर्साईय का वैभव कोल्बेर द्वारा बचाए गए धन पर ही आधारित था। लूई की कूटनीति और युद्धों के लिए धन कहां से आता था ? निश्चित ही कोल्बेर द्वारा भरे गए राजकोष से।

बीस वर्षों के संघर्षमय शासन में कोल्बेर ने फ्रांस की महानता की नींव रख दी थी। इसीलिए जब वह 1682 में मरा तो एक शून्य छोड़ गया जिसे न लूई भर सका, न उसके उत्तराधिकारी, न और कोई मंत्री। लूई को फिर कोई ऐसा योग्य प्रशासक नहीं मिला। उसने अपनी नीतियां नहीं बदलीं, जबकि उनकी पूर्ति के लिए आवश्यक धन मिलना बंद हो गया था। नतीजा हुआ कि फ्रांस की आर्थिक स्थिति, जिसे सुधारने में कोल्बेर का इतना बड़ा हाथ था, बिगड़ती चली गई।

कोल्बेर का मूल्यांकन : यह इतिहास की विडंबना रही है कि काम कोई और करता है और नाम किसी और का होता है। फ्रांस का सारा वैभव, आर्थिक समृद्धि पर निर्भर था और उस समृद्धि के लिए लूई नहीं कोल्बेर जिम्मेदार था। लूई के जिन युद्धों ने फ्रांस की सीमाओं का विस्तार किया और जिनके कारण फ्रांस यूरोप की महान शक्ति बन गया, वे भी कोल्बेर की आर्थिक नीति के बिना संभव नहीं

थे। लेकिन कोल्बेर का उतना नाम नहीं हुआ जितना लूई का।

कोल्बेर की नीतियों ने फ्रांस के उद्योग और व्यवसाय को बहुत आगे बढ़ाया। फ्रांस के शीशे, सिल्क और जरी के सामान दुनिया के बाजारों में आज भी प्रतिष्ठिति हैं। फ्रांस के मध्यवर्ग को भी बहुत प्रोत्साहन मिला। लेकिन राजकीय नियंत्रण की नीति से नुकसान भी हुआ। अनाज के निर्यात को रोककर वह हमेशा के लिए फ्रांस को आत्मनिर्भर बनाना चाहता था किंतु उसका परिणाम उल्टा हुआ। जब फसल अच्छी होती थी तो बाजार पट जाते थे। निर्यात न होने के कारण भाव गिर जाते थे और बहुत सारे खेत खाली छोड़ दिए जाते थे। फिर जब फसल बुरी होती थी तो दाम बढ़ते थे और अकाल की स्थिति आ जाती थी। निर्यात होता रहता था तो फ्रांस के किसानों को बहुत लाभ होता क्योंकि पड़ोस के अधिकांश देश अनाज के मामलेमें आत्मनिर्भर नहीं थे और हशेशा फ्रांस पर निर्भर रहते।

कुछ भी हो, उसकी नीतियों ने फ्रांस को समृद्ध बनाया। कर व्यवस्था अपेक्षतया ठीक की, राजकोष पर बढ़ा कर्ज घटाया। करों का बोझ कम किया और सारे प्रशासन की दुर्व्यवस्था बहुत हद तक दूर की। राज्य के अनावश्यक खर्च कम हुए।

फ्रांस को कुछ स्थाई लाभ जरूर हुए लेकिन कोल्बेर की अदूरदर्शिता के कारण जितना लाभ पहुंच सकता था उतना नहीं हो सका। कोल्बेर ने कभी नहीं समझा कि कोई राज्य अकेले समृद्ध नहीं हो सकता। आत्मनिर्भरता की एक सीमा होती है। सभी राज्य पूर्णतया आत्मनिर्भर हो जाएं और केवल निर्यात को प्रोत्साहित करें तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत बड़ा धक्का पहुंचेगा। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार परस्परावलंबी होता है यह कोल्बेर की समझ में नहीं आया। वह हमेशा यही समझता रहा कि एक देश की समृद्धि दूसरे की गरीबी पर निर्भर होती है। इसीलिए जब लूई जैसा शासक और कोल्बेर जैसा प्रशासक नहीं रहा तो फ्रांस का उद्योग लड़खड़ाने लगा। उपनिवेशों में भी फ्रांस को मुंह की खानी पड़ी। इंग्लैंड की व्यक्तिगत कंपनियां राज्य के झगड़ों से परे लगातार व्यापार और फिर राजनीति में सफल होती गईं। दूसरी ओर फ्रांस की राजकीय कंपनियां राज्य के ऊंच-नीच से सीधे प्रभावित हो गईं। ज्यों ज्यों शासन विगड़ा त्यों त्यों फ्रांस का विदेशी प्रभाव भी घटता गया।

सब कुछ देखने के बाद भी कोल्बेर का महत्व घटता नहीं। वह एक अर्थ में वक्त से पीछे था। वह दुनिया के धन को सीमित समझता था और चाहता था कि फ्रांस के धनी होने के लिए दूसरे देशों को गरीब बनाना और उनके धन को छीनना जरूरी है। वह उत्पादन के महत्व को नहीं समझता था। दूसरी ओर वह मध्यवर्ग का संरक्षक था और उनके हितों को उसने काफी आगे तक बढ़ाया। उसने

एक योग्य वित्तमंत्री का कार्य उत्कट स्वामिभक्ति के साथ संपन्न किया। वह फ्रांस के सांस्कृतिक विकास में भी महत्वपूर्ण सहयोग देता रहा। इसीलिए तमाम सफलताओं और असफलताओं के बावजूद इतिहासकार उसकी ऐतिहासिक भूमिका को कभी नहीं नकारते। योग्य मंत्रियों की परंपरा में कोल्बेर आखिरी नाम था। लूई और कोल्बेर की टीम फ्रांस के इतिहास की अंतिम योग्य राजा और योग्य मंत्री की टीम थी।

फ्रांस का वैभव : अपनी शक्ति और सामर्थ्य का प्रदर्शन करना मानव स्वभाव है। यदि व्यक्ति वैभव संपन्न हुआ तो यह अभिव्यक्ति बड़ी भड़कीली और शानदार होना चाहती है। विशेष रूप से राजाओं और तानाशाहों में हमेशा ही महल और स्मारक बनवाने की प्रवृत्ति रही है। कभी कभी कुछ भवनों से शासक संतुष्ट नहीं हो पाते और अलग से एक नगर बसा डालते हैं। आगरा और दिल्ली जैसे उस समय के खूबसूरत शहरों से भी अकबर संतुष्ट नहीं हुआ था। उसने फतहपुर सीकरी में अलग से एक राजधानी ही बनवा ली थी। उसी तरह लूई ने अपने वैभव, अपनी महिमा की अभिव्यक्ति के लिए पेरिस को अपर्याप्त पाया और बारह मील दूर वेर्साईय नामक स्थान पर एक नई राजधानी की नींव रखी। इस कार्य के लिए अपने समय के प्रख्यात कलाकारों और इंजीनियरों को उसने इकट्ठा किया। शिल्पी मांसार, मूर्तिकार जिरारदों, चित्रकार लब्रैं की मदद से उसने एक भव्य योजना बनाई। उसकी व्यक्तिगत देखरेख में वेर्साईय के उजाड़ और दलदली क्षेत्र में एक विशाल राजप्रासाद बना। उसकी दीवारें मूर्तियों और छतें चित्रों से सजाई गईं। बीच में एक विशाल शीशों का हाल बना जिसमें बाद में कई ऐतिहासिक संधियां हुईं। बाहर खूबसूरत फव्वारे, नकली झील, दूर दूर तक फैले बागीचे और जंगल बनवाए गए। मनुष्य की कल्पना और उपलब्ध साधनों के माध्यम से जितनी भव्यता की सृष्टि की जा सकती थी की गई। राज्य के कर्मचारियों और मुसाहिबों के रहने का इंतजाम हुआ। कुछ लोग स्वयं ही आकर बसने लगे। धीरे धीरे एक खूबसूरत राजधानी बस गई। शाहजहां को अपने निर्माण पर इतना गर्व था कि उसने लिखवाया। 'अगर धरती पर कहीं स्वर्ग है तो यहीं है, यहीं है, यही है।' लूई भी वर्साई की दीवारों पर यही खुदवा देता तो सभी इसे उपयुक्त ही मानते।

पेरिस की उथल-पुथल और उपद्रवों से दूर वेर्साईय का दरबार हर तरह के कलाकारों के संरक्षण का केंद्र बन गया। फ्रांसीसी भाषा के युग प्रवर्तक साहित्यकारों ने लूई के शासनकाल को गौरवान्वित किया। मोलिएर फ्रांस का सबसे बड़ा नाटककार माना जाता है। कोरनई और रासीन जैसे सामाजिक नाटकों के रचयिता मौजूद थे। इन तीनों नाटककारों ने फ्रांसीसी भाषा को वही गरिमा प्रदान की जो शेक्सपीयर ने अंगरेजी भाषा को। उनके नाटक समकालीन समाज

के चित्र और व्यंग्य प्रस्तुत करते हैं। इनका महत्व इसी से स्पष्ट है कि इनका दुनिया की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और ये नाटक सारी दुनिया में आज भी खेले और पढ़े जाते हैं। मादाम सेन्विये अपने चुटीले पत्रों और ला फोतैन अपनी गीतात्मक कहानियों के लिए प्रसिद्ध हैं। सैंसीमों लूई से असंतुष्ट था और एक सीमा तक कटाक्ष करता रहता था। फिर भी उसकी दरवार तक पहुंच थी और उसकी डायरी में दरवार के विलासी और षड्यंत्रों से भरपूर वातावरण की सुंदर और विश्वसनीय तस्वीर मिलती है। प्रसिद्ध लेखक और वैज्ञानिक पास्काल ने भी लूई के जीवनकाल में ही अपनी रचनाओं से फ्रांसीसी भाषा और विचारों को संवारा। फेनलों और वोस्सुए के दार्शनिक और धार्मिक विचार उस समय की चिंताधारा के सुंदर प्रमाण हैं। इन सारे लेखकों ने फ्रांसीसी भाषा को इतनी प्रतिष्ठा दी कि राजशक्ति से अधिक सफलता भाषा को मिल गई। फ्रांसीसी सेनाओं ने केवल एक वार, नेपोलियन के समय में यूरोप जीता था। लेकिन फ्रांसीसी भाषा ने तीन सौ वर्षों तक यूरोप पर अपना प्रभाव वनाए रखा। फ्रांसीसी कूटनीति और दरवारों की भाषा वन गई। सुसंस्कृत कहलाने के लिए फ्रांसीसी जानना आवश्यक हो गया। आज भी फ्रांस की राजनीतिक शक्ति घट जाने के वावजूद फ्रांसीसी भाषा का महत्व तनिक भी नहीं घटा है।

वर्साई नाच रंग का केंद्र हो चुका था। यहां तक की पाक कला में भी वहुत प्रगति हुई। वातेल लूई का मुख्य खानसामा था और एक से एक स्वादिष्ट चीजें वनाता था। एक दिन लूई को उसके वनाए भोजन से संतोष नहीं हुआ तो वातेल ने आत्महत्या कर ली। आज भी सारे पश्चिमी यूरोप में फ्रांसीसी खाना सवसे वढ़िया समझा जाता है। वर्साई में नए फर्नीचर, वस्त्राभूषण वनते रहते थे और पार्टियों, स्वागत समारोहों में उनका प्रदर्शन होता था। सारे फ्रांस और यूरोप के लोग उनकी नकल करते थे।

रिशलिउ ने सामंतों के सारे कार्य प्रशासकों को सौंप दिए थे। उनके पास धन था, समय था, पर करने को कुछ नहीं था। धीरे धीरे सारे फ्रांस के धनी मानी कुलीन सामंत वर्साई में ही वसने लगे और दरवार को खुश रखने और सजाने में व्यस्त रहने लगे।

लूई की दिनचर्या भी एक कर्मकांड की तरह निश्चित नियमों के अनुसार चलती थी। सुवह होते ही खिड़कियों पर लगे मोटे मखमली पर्दे हटाए जाते थे और घोषणा की जाती थी: 'धूप को अंदर आने की इजाजत है।' कमरे में राज-परिवार के सदस्य, सामंत, उच्च कर्मचारी और राज्य के गण्यमान्य लोग उप-स्थित रहते थे। कोई पानी लिए, कोई कपड़े लिए सेवा में तत्पर अपने को धन्य समझता था, यदि उसे लूई के तैयार होने में कोई कार्य संपन्न करने का अवसर मिल जाता था।

अपने प्रमुख कर्मचारियों से घिरा हुआ वह शासन के हर क्षेत्र में व्यक्तिगत रुचि लेता हुआ स्वयं परिश्रम करता था। कोल्बेर अधिकांश विभागों के कार्य देखता था लूवुआ युद्धमंत्री और वोवां सैनिक इंजीनियर था। त्यूरेन और कोंदे जैसे विख्यात सेनापतियों की सेवा उसे प्राप्त थी। सेना के कार्यों में वह स्वयं दिलचस्पी लेता था। इस प्रकार लूवुआ, वोवां, कोंदे और त्यूरेन जैसी सैनिक टीम शायद ही कभी एक साथ जुट पाई हो। इन्होंने जिस तरह सेना को संगठित किया और उसे लड़ाकू तथा गतिशील बनाया, जितने नए कार्य और आविष्कार किए उन्हीं के बल पर लूई को युद्धों में सफलता मिली। फ्रांस के इस नए सैनिक तंत्र का पूरा लाभ नेपोलियन ने उठाया। लूई स्वयं बहुत योग्य कूटनीतिज्ञ था और लिओन की मदद से परराष्ट्र नीति का स्वयं संचालन करता था।

लूई की बढ़ती प्रतिष्ठा के कारण वर्साई पर फ्रांस ही नहीं सारे यूरोप की नजर रहती थी। फ्रांस की शान सब जगह चर्चित थी। फ्रांसीसी को इस पर थोड़ा गर्व भी होता था। लेकिन इस सबसे वह स्वयं वंचित था। आज छोटा-बड़ा हर कोई टिकट खरीद कर वर्साई की सैर कर सकता है। उस समय वर्साई नगर में ही रहने वाले साधारण लोगों को प्रवेश नहीं मिल पाता था। सेवकों और परि-चारिकों को छोड़कर कोई भी गरीब आदमी राजधानी के ऐशो आराम की झलक तक नहीं पा सकता था। राजधानी पेरिस में तो हर तरह की गतिविधि का पता चलता था। राजा और प्रजा की निकटता कम से कम भौतिक रूप से बनी हुई थी। अब तो राजा और राजधानी लोगों से हर तरह दूर हो गए। राजा जनता से कटा हुआ अपनी ही दुनिया में रहने लगा। यह दूरी शासन की दृष्टि से तो घातक थी ही जनता को भी यह महसूस होने लगा कि राजा को उनसे केवल कर वसूलने से मतलब है। विशेषकर पेरिस के प्रबुद्ध लोग इससे बहुत क्षुब्ध हुए। धीरे धीरे वर्साई के विरुद्ध जनमत बनने लगा और जब फ्रांस में क्रांति हुई तो जनता ने फौरन राजपरिवार और शासन को वर्साई छोड़कर पेरिस आने पर मजबूर किया।

धार्मिक नीति : फ्रांस यूरोप का वह देश है जहां एक से एक क्रांतिकारी विचारक पैदा हुए हैं। कभी कभी तो शासन एकदम नास्तिक लोगों के हाथों में रहा है लेकिन फ्रांस का बहुमत आज भी कैथोलिक है। दूसरी ओर कैथोलिक होते हुए भी फ्रांस ने पोप का प्रभुत्व पूरी तरह कभी नहीं स्वीकारा। रोम को हमेशा विदेश समझा गया और चर्च के हस्तक्षेप से फ्रांसीसी शासक बराबर कुढ़ते रहे। पुनर्जागरण के बाद की बढ़ती राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्रवृत्ति के कारण पोप का हस्तक्षेप और बुरा लगने लगा। लूई जैसे निरंकुश शासक के लिए तो यह और भी अमान्य और अस्वीकार्य था कि किसी भी मामले में उसके अतिरिक्त कोई दखल रखे। फ्रांस के राष्ट्रीय चर्च (गैलिकन चर्च) का अपना अलग अस्तित्व था ही। यह सर्वथा लूई की

नीतियों के अनुकूल था कि फ्रांस की जनता भी फ्रांस में रोम के प्रभाव से असंतुष्ट हो।

उसे धर्म में कोई विशेष रुचि नहीं थी। उसका व्यक्तिगत जीवन तो परंपरागत मानदंड के अनुसार घोर अनैतिक था फिर भी वह पूरी तरह अधार्मिक नहीं था। वास्तव में जबसे उसने महलों की प्रमुख परिचारिका मदाम द मैंतनों से विवाह किया, उसका धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप बढ़ गया। कुछ इतिहासकारों का यह मत है कि ऐसा मैंतनों के प्रभाव के कारण हुआ। फ्रांस की धार्मिक उथल-पुथल के लिए वही पूरी तरह जिम्मेदार थी ऐसा कहना मुश्किल है।

फ्रांसीसी चर्च पर किसका कितना अधिकार है इस प्रश्न को लेकर पोप और लूई में ठन गई। एक परंपरा 'रेगाल' के अनुसार जब किसी बिशप का स्थान रिक्त रहता था तो इस क्षेत्र की आमदनी राजकोष में चली जाती थी। यह परंपरा जो दक्षिण फ्रांस में मान्य नहीं थी, वहां भी लागू कर दी गई। कुछ बिशप लोगों ने इसका विरोध किया। पोप ने उनका पक्ष लिया और विरोध स्पष्ट हो गया। फ्रांस में हर वर्ग लूई के साथ था। यह एक राष्ट्रीय प्रश्न बन गया था। पोप लूई को धर्मच्युत तक करने की सोचने लगा। संघर्ष चलता रहा। अंत में धर्म के अधिकारियों की एक सभा ने रेगाल के संदर्भ में लूई के पक्ष की पुष्टि कर दी और बोस्सुए के नेतृत्व में चार महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किए गए। इन प्रस्तावों के अनुसार कहा गया कि पोप का अधिकार केवल धार्मिक मामलों तक सीमित है और वह राजा को न च्युत कर सकता है, न उसके कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया कि चर्च की 'साधारण सभा' का अधिकार पोप से अधिक होता है और पोप को 'गैलिकन चर्च' की परंपराओं और नियमों का उल्लंघन करने का कोई अधिकार नहीं है। अंत में धर्म के क्षेत्र में पोप का अधिकार माना गया लेकिन उसकी राय अंतिम और अपरिवर्तनीय नहीं मानी गई।

पोप इन शर्तों को कैसे मानता? ऐसा लगने लगा कि गैलिकन चर्च भी ऐंग्लिकन चर्च की तरह रोम से अलग हो जाएगा और जैसे इंग्लैंड में ट्यूडर वंश के शासक की सर्वोच्चता मानकर अलग एक राष्ट्रीय चर्च स्थापित कर लिया गया था वैसे ही फ्रांस में भी हो जाएगा। लेकिन दोनों ही पक्ष इस परिणति के लिए तैयार नहीं थे। 1691 में जब पोप बदला तो समझौता संभव हुआ। लूई ने चारों प्रस्ताव वापस ले लिए और पोप ने लूई द्वारा प्रस्तावित व्यक्तियों को धर्माधिकारी नियुक्त कर दिया। इस प्रकार पोप का सम्मान बचा रहा और राजा का फ्रांसीसी चर्च पर प्रभाव बढ़ गया।

धर्म के क्षेत्र में एकरूपता की तलाश में लूई यूगनो लोगों से भी टकरा गया। रिशलिउ ने जब से उनसे राजनीतिक अधिकार छीने थे, वे उद्योग और व्यवसाय में लग गए थे। ये लोग नौकरियों और व्यवसाय में अपने श्रम से धाक जमा

चुके थे। फ्रांस की समृद्धि में इनका महत्वपूर्ण योगदान था। सहिष्णुता की नीति अपनाने से सबका लाभ था लेकिन लूई तो हर कीमत पर एकरूपता लाने के लिए उतारू था। उसने एक के बाद दूसरा आदेश जारी किया और यूगनो लोगों का जीवन दूभर होता गया। अपने धर्म का पालन करने में उन्हें कठिनाई होने लगी। धर्म परिवर्तन के लिए उन्हें प्रोत्साहित किया जाने लगा। एक समिति बना दी गई जो प्रोटेस्टेंट लोगों को कैथोलिक बनाने के लिए हर तरह से सचेष्ट थी। जो इस कार्य में जितना मदद करता था उतना ही पुरस्कृत होता था। यूगनो लोगों को सरकारी नौकरियों से भी निकल दिया गया। सात साल की उम्र में ही यूगनों मां-बाप के बच्चे अपने को कैथोलिक घोषित कर सकते थे और इसके लिए उन्हें हर तरह का लालच दिया जाता था। बहुत सारे प्रोटेस्टेंट स्कूल और चर्च बंद कर दिए गए। यूगनों को साम, दाम और दंड तीनों ही तरह से कैथोलिक बनाने का प्रयास होने लगा। आतंक फैल गया। अंत में ये लोग देश छोड़कर इंग्लैंड, हालैंड और जर्मनी भागने लगे। इनके पलायन पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। फिर भी लुकछिप कर हजारों लोग भागते रहे। अंत में इन लोगों ने सेवान्न नामक स्थान पर विरोध प्रकट किया। इस प्रदर्शन के साथ लूई के सैनिकों ने वैसा ही व्यवहार किया। जैसा जनरल डायर ने जलियांवाला बाग में हजारों शांतिपूर्ण स्त्री-पुरुष और बच्चों को गोली से भून कर किया था। लूई के सैनिकों ने प्रोटेस्टेंट नारियों और बच्चों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया। कुछ ने हार मानकर कैथोलिक होना स्वीकार कर लिया। लूई को बताया गया कि काम पूरा हो गया और उसने नांत के अध्यादेश को रद्द दिया क्योंकि उसके ख्याल से अब न प्रोटेस्टेंट बचे थे न उनके प्रति सहिष्णुता की जरूरत थी। इतने आतंक के बावजूद लाखों लोग जान बचाकर भागने में सफल हो गए और हजारों फ्रांस में ही अपनी आस्था अपने मन में संजोए अच्छे दिनों के इंतजार में घुटते रहे।

इस धर्मांध नीति की जिम्मेदारी कुछ इतिहासकार मादाम मैंतनों पर टालकर लूई को अपेक्षतया कम जिम्मेदार ठहराने की कोशिश करते हैं। पर यह सर्वथा अमान्य है। जिम्मेदारी पूरी तरह उसी की थी। विशेषकर इसलिए कि फ्रांस को यूगनो लोगों के दमन और पलायन से बहुत नुकसान हुआ। व्यवसाय और उद्योग को तो भारी नुकसान पहुंचा ही, ये कुशल नाविक विदेशों में जाकर फ्रांस के विरुद्ध लड़ने लगे। इस प्रकार इस नीति से आर्थिक और सैनिक रूप से फ्रांस कमजोर हुआ और उसके दुश्मन पड़ोसी मजबूत हुए।

फ्रांस में कुछ ऐसे कैथोलिक थे जो चर्च की मूलभूत बातों को भी स्वीकार करते थे लेकिन उसके आडंबर और प्रचार को बेकार समझते थे। वे व्यक्तिगत पवित्रता को बहुत महत्व देते थे और इसीलिए उन्हें कैथोलिक चर्च में वही स्थान प्राप्त था जो आंग्ल चर्च में विशुद्धतावादी (प्योरिटंस) लोगों को प्राप्त था। जांसां नामक

प्रोफेसर के इन अनुयायियों को जांसांनिस्ट कहते थे। इनके कट्टर विचार न तो चर्चको स्वीकार थे, न राजा को। लूई के समय इस आंदोलन के नेता आनो नामक भाई-बहन थे। ये निरंतर अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे। अंत में सारवान विश्वविद्यालय ने इनके कुछ विचारों को धर्म विरोधी घोषित कर दिया और पोप ने भी इसकी पुष्टि कर दी। हार मानकर जांसांनिस्ट लोगों ने पोप का निर्णय स्वीकार किया, लेकिन उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उनके विचारों को गलत ढंग से समझा गया है। लूई ने उनका भी पूरी तरह दमन शुरू कर दिया। यद्यपि उन्हें हिंसात्मक ढंग से नहीं दवाया गया जिस प्रकार यूगनो वर्ग को दवाया गया था, फिर भी उन्हें परंपरागत कैथोलिक मत मानने के लिए मजबूर किया गया। आर्नो को फ्रांस छोड़कर भागना पड़ा। मरने से दो वर्ष पहले लूई ने एक आदेश द्वारा उनके सारे कार्यों पर प्रतिवंध लगा दिया। उनका केंद्र 'पोर रोय्याल' वंद कर दिया गया। फिर भी इन्हें पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सका।

लूई की धार्मिक नीति कट्टर थी लेकिन फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह धर्मांध था। उसके धर्म के नाम पर अतिशयवादी नीति अपनाने का कारण राजनीतिक था। वह एक तो अपनी सत्ता पर कोई अंकुश नहीं चाहता था, दूसरे फ्रांस को एकरूपता प्रदान करने के लिए कैथोलिक चर्च को एक माध्यम समझता था। यही कारण था कि उसने यूगनो और जांसांनिस्ट लोगों का भी दमन किया। यह सच है कि अंतिम दिनों में वह मादाम मैंतनों जैसी कट्टर और धर्मांध महिला के प्रभाव में था लेकिन उसकी नीतियों के लिए किसी और को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। यह एक वड़ी विडंवना थी कि जव यूरोप के अन्य देश धर्मयुद्ध लड़ रहे थे तो हेनरी ने सहिष्णुता की नीति अपनाई थी और वेस्टफेलिया की संधि के वाद जव अन्य देशों में सहिष्णुता की नीति अपनाई जा रही थी तो फ्रांस में धर्म के नाम पर तरह तरह के अत्याचार होने लगे थे।

वैदेशिक नीति : लूई जैसी प्रवृत्ति के व्यक्ति के लिए वैदेशिक संबंधों में आक्रामक होना स्वाभाविक था। जव से वूर्वों वंश की स्थापना हुई थी, हर शासक ने फ्रांस को प्राकृतिक सीमा देने के लिए प्रयास किया था। दक्षिण में भूमध्यसागर और पश्चिम में अटलांटिक सागर फ्रांस की अपरिवर्तनीय सीमाएं वनाते थे। लेकिन दक्षिण-पश्चिम में पिरेनीज पहाड़ों तक के वहुत से क्षेत्रों पर फ्रांस की नजर थी ताकि पिरेनीज स्पेन और फ्रांस की सीमा वन जाए। इसी प्रकार आल्प्स पर्वत के पश्चिम के क्षेत्रों को भी फ्रांस हड़पना चाहता था। फ्रांस की उत्तरी सीमा पर कोई प्राकृतिक व्यवधान नहीं था। राइन नदी जर्मन क्षेत्र से वहती हुई हालैंड को चीरती हुई उत्तरी सागर में गिरती है। राइन नदी को फ्रांस की उत्तरी सीमा वनाने का मतलव था, हैप्सवर्ग परिवार के राज्यों से एक वहुत वड़ा हिस्सा छीनना। लूई

इन सीमाओं के लिए कुछ भी करने को तैयार था।

दूसरी ओर सत्रहवीं शताव्दी के उत्तरार्ध में यूरोप में उस जैसा प्रतिभाशाली और कोई शासक नहीं था। फिलिप द्वितीय के वाद स्पेन पतनोन्मुख था। इटली विभाजित और कमजोर था। इंग्लैंड के स्टुअर्ट शासक कमजोर थे और पालियामेंट से निरंतर संघर्षरत थे। लूई ने देखा की इन सव पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो सकता है। पवित्र रोमन साम्राज्य में भी उसने महसूस किया कि एलेक्टर लोगों को वश में करके सम्राट वना जा सकता था। ऐसी हालत में सारे पश्चिमी यूरोप का वह एकछत्र शासक वन सकता था और शार्लमन जैसा शासक वनने का सम्मान पा सकता था।

उसकी यह महत्वाकांक्षा खोखली नहीं थी। कोल्वेर के सुधारों ने कुछ ही वर्षों में फ्रांस की आर्थिक स्थिति ठीक कर दी थी। उसकी शान वढ़ने लगी थी और सारा यूरोप उसकी ओर सम्मान की दृष्टि से देखने लगा था। लुवुआ और वोवों ने फ्रांस की सेना को ऐसी शक्ति दे दी थी कि वह किसी से भी लोहा लेने की वात सोच सकता था। इसके अलावा सभी इतिहासकार एकमत हैं कि वह अपने समय का सवसे वड़ा कूटनीतिज्ञ था। कूटनीति और सैनिक शक्ति के सहारे वह कमजोर और विघटित पड़ोसियों को नीचा दिखा सकता था।

कहते हैं कि सफलता से अधिक कुछ भी सफल नहीं होता। एक सफलता मिलने पर व्यक्ति दूसरी के लिए तत्पर हो जाता है। ज्यों ज्यों लूई सफल होता गया त्यों त्यों उसका घमंड और महत्वाकांक्षा वढ़ती गई। सवसे पहले उसने अपने लक्ष्यों का आभास तव दिया जब लंदन में स्पेन और फ्रांस के दूतावासों में कहासुनी हो गई। उसने फ्रांस के राजदूतों को आदेश दिया कि वे कहीं भी साम्राज्य के दूतों के वाद प्रथम स्थान को ही स्वीकारें। इसका स्पष्ट मतलब था कि साम्राज्य के अलावा वह अन्य किसी भी राज्य को फ्रांस के वरावर दरजा देने के लिए तैयार नहीं था। कुछ ही दिनों में उसकी योजनाएं स्पष्ट हो गईं। अपने शासन में केवल शुरू के छः वर्ष वह शांति से रह सका। वाकी आधी शताव्दी तक वह निरंतर युद्धरत रहा। शुरू की जीतों से उसके उद्देश्य का पता चल गया और यूरोप के शासक सशंकित और संगठित होते गए। अंत में लूई को हार और असम्मान भी उठाना पड़ा। लेकिन वह अपने उद्देश्य से हटने वाला नहीं था। इस प्रकार उसने कुल चार वड़े युद्ध किए। कभी जीता, कभी हारा। सारे लक्ष्य तो पूरे नहीं कर सका, पर फ्रांस की सीमाओं के विस्तार में वह अवश्य सफल हुआ।

डिवोल्यूशन का युद्ध : उसका पहला युद्ध जोर आजमाइश का युद्ध था। वह जानना चाहता था कि उसकी शक्ति कितनी है और उसकी नीति के प्रति यूरोप के राज्य कैसा दृष्टिकोण अपनाते हैं।

युद्ध पर कोई आमादा हो तो वहाना मिल ही जाता है। शेर झरने के ऊपर

बैठकर भी नीचे पानी पीते मेमने पर पानी जूठा करने का आरोप लगा सकता है। सारे यूरोप में उत्तराधिकार के मामले में पुत्रों को वरीयता मिलती थी। लेकिन स्पेनी नीदरलैंड्स (बेल्जियम) के क्षेत्र में एक परंपरा थी कि यदि किसी की कई शादियां हों तो पहली शादी से हुई संतान को, भले ही वह लड़की हो, उत्तराधिकार मे प्राथमिकता मिलती थी। यह क्षेत्रीय परंपरा थी और केवल व्यक्तिगत संपत्ति के मामले में लागू होती थी। लूई ने इसका बड़ा इस्तेमाल किया। स्पेन के शासक की पहली पत्नी से हुई लड़की उसकी पत्नी थी। इसलिए जब वह मरा तो अपनी पत्नी की ओर से उसने पूरे स्पेनी नीदरलैंड्स पर अपना हक बताया। अगर किसी से न्याय करने को कहा जाए तो वह लूई की दलील को हास्यास्पद मानेगा। लेकिन उसकी दलील के पीछे सैनिक शक्ति थी। उसने हमला कर शक्ति के बल पर कब्जा करना चाहा। यूरोप के अन्य राज्य अपनी समस्याओं में उलझे हुए थे। हालैंड, स्वीडन और अन्य कई प्रोटेस्टेंट राज्यों को उसने कूटनीति से तटस्थ बना लिया था। पतनोन्मुख स्पेन में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह लूई की विजयिनी सेनाओं को रोक सके। लूई की सेना जीतती चली गई।

उसकी जीत से उत्तर के राज्यों के कान खड़े हुए। उन्हें अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई पड़ी और एक अप्रत्याशित बात हो गई। हालैंड और इंग्लैंड ने, जो परस्पर लड़ रहे थे, आपस में समझौता कर लिया। स्वीडन, हालैंड और इंग्लैंड तीन प्रोटेस्टेंट देशों ने मिलकर अब तक के अपने शत्रु कैथोलिक स्पेन की मदद करने के लिए त्रिगुट बना लिया। लूई समझ गया कि अब युद्ध रोक देना चाहिए। उसने 1668 में ऐक्स ला शापेल की संधि कर ली। संधि के द्वारा उसे फ्रांसकोंते का क्षेत्र लौटा देना पड़ा लेकिन उत्तरी सीमा पर एक बहुत बड़ा भूभाग फ्रांस को मिल गया। आज के फ्रांस के औद्योगिक नगर लील्ल, तूर्ने और शार्लरुआ इसी संधि की उपलब्धि हैं।

हालैंड से युद्ध : लूई को लगा था कि एक बहुत बड़ी विजय से उसे वंचित कर दिया गया। उसकी भूख बढ़ गई। उसने हालैंड को ही जिम्मेदार ठहराया क्योंकि यदि हालैंड ने पहल करके उसके विरुद्ध संगठन न बनाया होता तो उसका विश्वास था कि उसकी जीत पूरी होती। इसके अलावा वैसे भी हालैंड की प्रगति से सभी पड़ोसी ईर्ष्यालु थे। हालैंड का व्यापार तेजी से बढ़ रहा था और अन्य देशों के लोग भी, जैसे फ्रांस के सताए हुए यूगनों, वहां आकर बसने लगे थे। ऐसी स्थिति में हालैंड को नीचा दिखाना लूई ने आवश्यक समझा।

इस बार भी लड़ाई कूटनीति से शुरू हुई। लूई ने पहले त्रिगुट को तोड़ा। इंग्लैंड के कमजोर शासक चार्ल्स को उसने खरीद लिया। स्वीडन भी धन पाकर अलग हो गया। हालैंड में आंतरिक संघर्ष चल रहा था कि वह राजतंत्र हो या गणतंत्र। लूई ने तभी प्रहार किया।

लूई ने स्वयं नेतृत्व किया। कोंदे, त्यूरेन और लक्जेमवर्ग के नेतृत्व में तीन सेनाओं ने हमला किया। फ्रांस की सेनाएं जीतती चली गईं। हताश डच लोगों ने अपने परंपरागत अंतिम अस्त्र का इस्तेमाल किया। बांध काट दिए गए और देश के बहुतेरे क्षेत्र तबाह होने लगे। इसी बीच आरेंज परिवार के विलियम ने भी कूटनीति से काम लिया। उसने आस्ट्रिया, ब्रैंडेनवर्ग और स्पेन से संधि कर ली। इंग्लैंड की प्रोटेस्टेंट पार्लियामेंट ने भी शासक की मर्जी के विरुद्ध हालैंड की मदद करने का निर्णय लिया। अब हालैंड अकेला नहीं था। लूई की जीत भी निर्बाध संभव नहीं थी। त्यूरेन मारा जा चुका था। इसलिए थक कर एक बार फिर संधि का निर्णय लिया गया।

1678 में निजमेगेन की संधि हो गई। फ्रांस की सीमा राइन की ओर कुछ और खिसकी। फ्रांसकोंते उसे मिल गया लेकिन न तो वह डच लोगों को सबक सिखा सका, न वे सारे क्षेत्र ही पा सका जिन पर उसकी नजर थी। वह विजय को जितना आसान समझता था उतनी आसानी से विजय मिल नहीं रही थी। आर्थिक स्थिति खराब होने लगी थी। ऐसी स्थिति में उसने युद्ध तो बंद नहीं किए लेकिन बाद के युद्धों में उसे इतनी भी सफलता नहीं मिली। इसीलिए इस संधि को ही उसकी शक्ति का चरमोत्कर्ष कह सकते हैं। अब तक वह आक्रामक लड़ाइयां लड़ता रहा था, उसकी सेनाएं जीतती रही थीं। बाद में तो उसे रक्षात्मक युद्ध भी करने पड़े और फ्रांस की सेनाएं हारीं भी।

आग्सबर्ग की लीग से युद्ध : दस वर्षों तक वह एक ऐसे युद्ध में फंसा रहा जिसमें सेनाएं नहीं उसकी कुटिल बुद्धि रत थी। वेस्टफेलिया, ऐक्स ला शापेल और निजमेगेन की संधियों से फ्रांस को उत्तरी-पूर्वी और पूर्वी सीमाओं पर कई नगर और क्षेत्र प्राप्त हुए थे। इनके साथ के क्षेत्रों पर भी वह कब्जा करना चाहता था। यह देखने के बहाने कि इन संधियों की शर्तें किस हद तक लागू की गई हैं उसने इस संबंध में निर्णय देने के लिए न्यायालय शांब्र द रेयूनिओं संगठित किए। ये न्यायालय अंतर्राष्ट्रीय या निष्पक्ष न्यायालय नहीं थे। लूई की आज्ञा से लूई के कर्मचारी लूई के राज्य के बारे में फैसला करते थे। फैसला क्या होता यह पहले से तय था। एक के बाद एक क्षेत्र के बारे में फैसला होता गया और इन पर फ्रांसीसी सेनाएं कब्जा करती चली गईं। स्त्रासबुर्ग, लुक्सेमबुर्ग जैसे बीसों नगरों पर फ्रांस का अधिकार हो गया।

सम्राट बनने की लालसा पूरी करने की दिशा में वह लगातार बढ़ रहा था। लेकिन उसके दुर्भाग्य से सम्राट का पद 1705 में खाली हुआ। तब तक वह बूढ़ा और कमजोर हो चुका था। यूरोप के सभी राज्य आतंकित हो गए। लूई अपनी धार्मिक नीतियों के कारण एक तरफ पोप को नाराज कर चुका था दूसरी ओर यूगनों लोगों को समाप्त करने की नीति के कारण प्रोटेस्टेंट देश नाराज थे। ऐसी

स्थिति में हालैंड के विलियम ने जर्मनी के प्रोटेस्टेंट राज्यों, स्वीडन, स्पेन और आस्ट्रिया को आग्सबर्ग की लीग के नाम से संगठित किया। इंग्लैंड के अलावा यूरोप के सभी प्रमुख राज्य इसमें शामिल थे।

युद्ध की शुरुआत पैलेटिनेट और कोलोन के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर हुई। दोनों स्थानों पर लूई ने फ्रांस का दावा प्रस्तुत किया। मामला पोप की मध्यस्थता के लिए सुपुर्द हुआ। फैसला जब लूई के विरुद्ध हुआ तो उसने सम्राट पर आरोप लगाया। इसी बीच 1688 में इंग्लैंड में राजा और पार्लियामेंट के संघर्ष की परिणति यह हुई कि हालैंड के विलिमय को इंग्लैंड का शासक बनने का निमंत्रण दिया गया। लूई चाहता तो ऐसा नहीं होने दे सकता था। लेकिन उसने गलत हिसाब लगाया। वह समझता था कि विलियम इंग्लैंड में सफल नहीं हो सकेगा, हुआ उल्टा। विलियम इंग्लैंड का राजा हो गया और अब लूई का विरोध करने में और समर्थ हो गया।

लूई ने पैलेटिनेट पर हमला किया। उसे आंशिक सफलता भी मिली लेकिन कई मोर्चों पर लड़ना था। जब उसे सेना वापस बुलानी पड़ी तो उसने पूरे क्षेत्र को नष्ट कर देने की आज्ञा दे दी। ऐसा विनाश हुआ कि तीस वर्षीय युद्ध की याद ताजा हो गई। इंग्लैंड से भागे जेम्स की मदद के लिए लूई की सेना आयरलैंड में भी युद्धरत थी। फ्रांस को कई महत्वपूर्ण सफलताएं मिलीं। फ्रांसीसी नौसेना ने इंग्लैंड और हालैंड की मिलीजुली नौसेना को परास्त किया। लेकिन इंग्लैंड पर हमला नहीं हो सका। दक्षिण पूर्व में खूबसूरत नगर नीस पर भी फ्रांस का कब्जा हो गया।

लेकिन इन लाभों को लूई स्थायित्व नहीं प्रदान कर सका। पासा पलटने लगा। इंग्लैंड पर हमले की योजना बनती ही रह गई और इंग्लैंड ने अपनी हार का बदला ले लिया। नीदरलैंड्स में भी उसकी सेनाओं की प्रगति रुक गई। कोल्बेर की मृत्यु के बाद फ्रांस की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी थी। युद्ध के लिए धन जुटाना मुश्किल हो रहा था। युद्ध को बढ़ाने की किसी में क्षमता नहीं बची थी और न कोई जीतने की स्थिति में था। अंत में संधि की तैयारी होने लगी। 1697 में रिजविक नामक स्थान पर एक संधि हो गई। सवाय के जो भी क्षेत्र जीते गए थे वे वापस करने पड़े। अल्सास और स्ट्रासबुर्ग के अलावा सारे जीते हुए क्षेत्र छोड़ने पड़े। विलियम को इंग्लैंड के शासक के रूप में मान्यता मिल गई और लूई ने जेम्स या उसके वंशजों की कोई मदद न करने का वायदा किया।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि इस संधि ने साबित कर दिया कि लूई के अच्छे दिन बीत चुके थे। इतने धन-जन के नुकसान के बाद भी वह अपनी विजयों को कायम न रख सका। उसके लिए सबसे बड़े असम्मान की बात तो यह थी कि उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी विलियम अब इंग्लैंड का शासक था और इसे लूई को

मानना पड़ा था। यह स्पष्ट हो चुका था कि अब लूई की विस्तारवादी नीति सफल नहीं हो सकेगी लेकिन अभी लूई की शक्ति बनी हुई थी। उसकी सेनाओं को अभी हार नहीं खानी पड़ी थी। अभी भी उसकी दुर्दम्य महत्वाकांक्षा शांत या पराजित नहीं हुई थी। मौका आने पर वह फिर एक बार कोशिश करने को तत्पर था। शीघ्र ही घटनाओं ने एक और मौका दे दिया।

स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध : स्पेन के उत्तराधिकार का प्रश्न एक बीमार और निस्संतान धनी के उत्तराधिकार जैसा प्रश्न था। जैसे किसी ऐसे धनी के बहुत से रिश्तेदार निकल आते हैं। बहुतेरे उसके सलाहकार बन जाते हैं। लगातार उनकी गीध दृष्टि उसकी जायदाद पर लगी रहती है। इंतजार होता है कि वह कब मरे। उसी प्रकार स्पेन जैसे राज्य के, जिसके उपनिवेश दूर-दराज तक फैले हुए थे, शासक चार्ल्स द्वितीय के मरने से पहले ही सारे यूरोप के दरबारों में उत्तराधिकार की चर्चा होने लगी थी।

स्पेन का शासक तो निस्संतान था लेकिन इसकी दो बहनों का विवाह लूई और बवेरिया के शासक मैक्सीमिलियन से हुआ था। इन दोनों ने अलग अलग कारणों से विवाह के समय ही उत्तराधिकार का हक छोड़ने की बात मान ली थी। लेकिन अब लूई का पौत्र आंजू और मैक्सीमिलियन का पुत्र फर्डिनेंड स्पेन के नजदीक के और सीधे उत्तराधिकारी थे। रिश्ता एक पुश्त और पीछे से जोड़ा जाता तो सम्राट लेओपोल्ड के पुत्र का भी हक बनता था। इस प्रकार स्पेन के राज्य के दो बड़े, लूई और सम्राट लेओपोल्ड तथा एक छोटा बवेरिया का शासक दावेदार थे। लेकिन लूई ने ही जिसने हमेशा स्पेन के विरुद्ध लड़ाई की थी अपनी कूटनीतिक प्रतिभा के कारण स्पेन के शासक और प्रजा का स्नेह जीता था।

प्रश्न परिवार या रिश्तेदारों तक ही सीमित नहीं था। सारा पश्चिमी यूरोप अंतिम निर्णय में दिलचस्पी रखता था। लूई या लेओपोल्ड के परिवार में यदि स्पेन जैसा विशाल राज्य चला जाता तो सारा शक्ति संतुलन बिगड़ जाता। इनमें से जिसे भी इतने साधन मिल जाते सारे यूरोप पर उसका हावी हो जाना निश्चित था। इसे यूरोप के छोटे लेकिन उन्नतिशील देश जैसे इंग्लैंड और हालैंड कभी पसंद नहीं करते। स्पेन के उपनिवेशों से आए धन की भी खूब लूट मचती थी। स्पेन का शासन ठीक हो जाने पर यह संभावना भी कम हो जाती। स्पेनी उपनिवेशों से व्यापार की निस्सीम संभावना के कारण भी इसमें दिलचस्पी थी। इसलिए भी ज्यादार देश यह चाहते थे कि स्पेन बवेरिया के परिवार में चला जाए। लेकिन दो बड़े और शक्तिशाली दावेदार दूसरों का या पूरे यूरोप का हित ध्यान में रखकर क्यों अपना हक मारते ? नतीजा यह हुआ कि स्पेन के बीमार शासक को मरने से पहले ही अपनी मृत्यु स्वीकार करके बाद में इंतजाम के बारे में सोचना पड़ता था।

यह तय था कि जो भी होगा वह शांतिपूर्ण ढंग से नहीं हो सकेगा। लूई को पूर्वाभास था। उसने पहले सम्राट से स्पेन के राज्य का विभाजन करने की योजना बनाई फिर इंग्लैंड के शासक से अपनी पुरानी दुश्मनी ताक पर रख कर इस विषय में समझौता वार्ता शुरू कर दी। इसी बीच तीसरा दावेदार फर्डिनेंड मर चुका था। अब तो सीधे दो बड़ी ताकतों के बीच का सवाल था। जिसका राज्य था उसे पता ही नहीं था और दूसरे अपनी अपनी रिश्तेदारी के बल पर उसका राज्य आपस में बांट खाने की संधियां कर रहे थे। जब उसे इस षड्यंत्र का आभास मिला तो वह बहुत खिन्न हुआ। उसने वसीयत कर दी कि पूरा राज्य लूई के पौत्र आंजू को मिले। यदि वह किन्हीं कारणों से न पा सके तो पूरा का पूरा राज्य आर्चड्यूक चार्ल्स को मिल जाए। वसीयत के कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई।

लूई ने राज्य के विभाजन की विभिन्न योजनाएं बनाई थीं क्योंकि उसे विश्वास नहीं था कि पूरा राज्य उसे मिल सकेगा। अब उसे वैधानिक रूप से पूरा राज्य मिल गया था। लेकिन उन समझौतों का क्या हो जो उसने स्वयं यूरोप के अन्य राज्यों के साथ किए थे? लूई जैसे व्यक्ति के लिए किसी नैतिक बंधन का कोई महत्व नहीं था। स्पेन का एक दूत वसीयत की खबर लेकर फ्रांस आया और लूई ने आंजू को फौरन स्पेन की राजधानी भेज दिया और घोषित कर दिया कि 'पिरेनीज का अब कोई अस्तित्व नहीं रहा' (दि पिरेनीज नो लांगर एक्जिस्ट)। उसका मतलब था कि पिरेनीज पहाड़ों के दोनों ओर उसी के परिवार का राज्य होने से अब सीमा के रूप में उनका कोई महत्व नहीं रहा।

वैधानिकता लूई के पक्ष में थी और संभव था कि वसीयत के कारण यूरोप के राज्य चाह कर भी कोई विरोध न कर पाते। लेकिन लूई का मन बढ़ गया था। उसने बढ़ बढ़ कर बातें करनी शुरू कीं, पुराने समझौते तोड़ने शुरू किए और ऐसा आभास देने लगा कि फ्रांस और स्पेन का सम्मिलित राज्य यूरोप में सर्वशक्तिशाली होकर रहेगा। उसने ऐसी योजना बनाई कि उसके बाद आंजू भी फ्रांस का राजा हो सके, इस प्रकार दोनों राज्य एक हो जाएं। रिजविक की संधि में उसने विलियम को इंग्लैंड का राजा मान कर स्टुअर्ट वंश को कोई समर्थन न देने की बात स्वीकार कर ली थी। लेकिन पदच्युत जेम्स के मरते ही उसके पुत्र को लूई ने इंग्लैंड का वास्तविक राजा मान लिया। सीमाओं पर भी उसने संधि विरोधी कार्य करने शुरू किए। यूरोप भर में यह बात स्पष्ट हो गई कि लूई अंतिम बार फ्रांस को सबसे शक्तिशाली बनाने के लिए पुराने सारे समझौतों का उल्लंघन करेगा।

इंग्लैंड में हर दल लूई की नीतियों के विरोध में अपने राजा के साथ था। जैसे ही इस आकस्मिक परिवर्तन के आघात से राहत मिली, कूटनीति के गतिविधि बढ़ गई। विलियम ने सम्राट से मिलकर 1701 में एक महासंघ बनाया। जिसमें

नीदरलैंड्स, इंग्लैंड और प्रमुख जर्मन शासक शामिल थे। बाद में पुर्तगाल और सवाय भी इसमें सम्मिलित हो गए। इस संघ ने निश्चित किया कि हो सके तो इटली और नीदरलैंड्स के स्पेनी राज्य सम्राट को और उपनिवेशों से व्यापार करने का अधिकार सारे सामुद्रिक देशों को दिलाने का प्रयास होगा, संभव हुआ तो समझौते द्वारा नहीं तो युद्ध के माध्यम से भी। युद्ध शुरू होने के पहले ही इंग्लैंड का शासक विलियम और लूई का सबसे प्रमुख और पुराना प्रतिद्वंद्वी मर गया लेकिन इससे संघ की योजनाओं पर कोई असर नहीं हुआ।

युद्ध 1702 में शुरू हुआ और बारह वर्षों तक चलता रहा। इस बार यद्यपि लूई की व्यक्तिगत क्षमता ह्रासोन्मुख थी, साधनों की दृष्टि से वह अधिक संपन्न था। यद्यपि अब त्यूरेन और कोंदे जैसे विजेता नहीं बचे थे फिर भी फ्रांससी सैनिकों की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण थी। वह स्पेन और फ्रांस के साधनों का एक साथ सुनियोजित ढंग से इस्तेमाल कर सकता था। दूसरी ओर संघ के सदस्य एकमत नहीं थे। सभी के अलग अलग स्वार्थ थे। स्पेन का राज्य अकेले लूई हड़प जाए इससे उनका विरोध था लेकिन उससे छीनकर कौन कितना हड़पे इसमें सहमति नहीं थी। इस तरह वे एक होकर मुकाबला नहीं कर सकते थे। लेकिन कुछ बातें उनके पक्ष में भी थीं। इनकी नाविक शक्ति बेहतर थी। साधनों के क्षेत्र में भी इनका मिला-जुला सहयोग भारी पड़ सकता था। जहां फ्रांस में सेनापतियों की कमी थी, संघ को इंग्लैंड के मार्लबरो और सवाय के इउजीन जैसे प्रतिभाशाली सेनापति मिल गए थे। इन दोनों सेनापतियों ने परस्पर ईर्ष्या के स्थान पर परस्पर सहयोग और समन्वय से काम लेकर निर्णायक भूमिका अदा की।

तीस वर्षीय युद्ध भी इतना भयानक नहीं साबित हुआ था। इस युद्ध ने तो विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया क्योंकि जहां जहां युद्ध में सम्मिलित देशों के उपनिवेश थे वहां वहां इसका प्रभाव पड़ा। इस युद्ध के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। पहली महत्वपूर्ण लड़ाई 'ब्लेनहाइम' में हुई जब फ्रांसीसियों से वियेना की रक्षा करने के लिए मार्लबरो ने अद्भुत शौर्य का परिचय दिया। जर्मनी को चीरता हुआ वह समय पर पहुंच गया। उसने और इउजीन ने फ्रांस की सेना को काट फेंका। कुछ ही दिनों बाद मार्लबरो ने नीदरलैंड्स में और इउजीन ने इटली में फ्रांसीसी सेना को पराजित किया। संघ की सेनाएं स्पेन में घुसकर मैड्रिड पर कब्जा करने में सफल हो गईं। लूई समझौते के लिए तैयार हो गया। फ्रांस और स्पेन की जनता भी उसके पक्ष में पूरा समर्थन करने लगी। संघ की सेनाएं सीधे फ्रांस की ओर बढ़ सकती थीं लेकिन कुछ अप्रत्याशित घटनाओं ने हवा का रुख बदल दिया।

इंग्लैंड में मंत्रिमंडल बदल गया। टोरी दल के मंत्री हर कीमत पर शांति के पक्ष में थे। इसलिए मार्लबरो के हाथ कट गए। दूसरी घटना और महत्वपूर्ण

थी। संघ चार्ल्स को नीदरलैंड्स और इटली के राज्य दिलाने के पक्ष में था। 1711 में सम्राट जोसेफ के मरने पर चार्ल्स ही सम्राट चुन लिया। अब यदि उसे स्पेन के कुछ राज्य भी मिल जाते तो उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती और यूरोप में शक्ति का संतुलन फिर बिगड़ जाता। अब लूई बहुत शक्तिशाली हो गया था। बाद में चार्ल्स की वही स्थित हो जाती। इसलिए संघ में फूट पड़ गई। इंग्लैंड और हालैंड का उत्साह कम हो गया और वे अब एक समझौते के पक्ष में हो गए। लूई भी बूढ़ा हो चला था। उसकी शक्ति क्षीण हो चली थी। फ्रांस की लगातार हार ने उसके मंसूबे तोड़ दिए थे। अंत में संधि वार्ता शुरू हुई और 1713 में यूटरेक्ट की संधि हो गई। आस्ट्रिया इसमें सम्मिलित नहीं था लेकिन साल भर बाद उसने भी यूटरेक्ट की शर्तें मान लीं।

यूटरेक्ट की संधि : जैसे लूट का बंटवारा हो रहा हो, सभी अपने लिए कुछ पाना चाहते थे।

—स्पेन के राज्य का विभाजन कर दिया गया। आंजू को स्पेन का राजा स्वीकार कर लिया गया लेकिन इस शर्त पर कि फ्रांस और स्पेन के राज्य हमेशा अलग रहेंगे।

—सम्राट को नेपल्स और मिलान, सार्डीनिया तथा नीदरलैंड्स दे दिए गए।

—हालैंड को सीमा के कुछ क्षेत्र मिले ताकि वह फ्रांस के विरुद्ध मजबूत हो सके। स्केल्ट नदी के व्यापार पर उसका एकाधिकार स्वीकार किया गया।

—इंग्लैंड ने हालैंड की सुरक्षा का वचन दिया।

—इंग्लैंड की कभी यूरोप में राज्य विस्तार में रुचि नहीं रही। उसे केवल भूमध्यसागर के द्वार पर स्थित छोटा सा टापू जिब्राल्टर और मिनोरका दे दिया गया। अमरीका में उसे नोवा स्कोशिया और हडसन की खाड़ी के क्षेत्र प्राप्त हुए।

—सवाय के ड्यूक की पदवी 'राजा' स्वीकार कर ली गई और उसे सिसली का टापू भी मिला।

—इंग्लैंड में स्टुअर्ट वंश के बाद जो परिवर्तन हुए थे वे मान्य करार दिए गए।

स्टुअर्ट वंश के लोगों को फ्रांस छोड़ देने की आज्ञा दे दी गई ताकि वे इंग्लैंड का सिंहासन पाने के लिए षड्यंत्र न करें।

—इंग्लैंड को हब्शियों का व्यापार करने की तीस वर्षों के लिए छूट दी गई और साल में एक व्यापारी जहाज अमरीका के स्पेनी उपनिवेशों में भेजने की स्वीकृति मिल गई।

ब्रेंडेनबर्ग की रियासत को एक राज्य प्रशा के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

—फ्रांस की सीमाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया।

इस संधि की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि इस संधि ने शक्ति

का संतुलन बनाए रखने का ही प्रयास किया। यद्यपि फ्रांस का शासक लूई इस उत्तराधिकार के युद्ध में हताश हो गया था, उसकी शक्ति जर्जर हो गई थी, और उसे कोई लाभ नहीं बल्कि नुकसान ही हुआ था, फ्रांस के सम्मान में कमी नहीं आई। लूई भले ही कमजोर हुआ हो बूर्बों परिवार का प्रभाव बढ़ा ही था। संधि की शर्तों के बावजूद स्पेन और फ्रांस के शासक एक ही परिवार के होने के कारण एक जैसी नीति अपनाकर सहयोग करते रहे।

हैप्सबर्ग परिवार के हाथ से स्पेन अवश्य निकल गया लेकिन उसकी शक्ति बनी रही। सवाय और ब्रेंडेनबर्ग अवसर पा राज्य बन गए। दोनों ने बाद में ऐतिहासिक कार्य किए। उन्नीसवीं शताब्दी में सवाय के नेतृत्व में इटली और प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण संपन्न हुआ।

सबसे अधिक लाभ इंग्लैंड को हुआ। क्षेत्रीय दृष्टि से कम दिखने वाला लाभ सामरिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण साबित हुआ। अमरीका में मिले क्षेत्रों का विस्तार हुआ और अधिकांश उत्तरी-पूर्वी अमरीका पर इंग्लैंड का कब्जा हो गया। जिब्राल्टर पर कब्जा होने के कारण इंग्लैंड का पूरे भूमध्यसागर पर नियंत्रण हो गया। अब तक हालैंड से प्रतिद्वंद्विता थी लेकिन अब निर्विवाद रूप से इंग्लैंड की नाविक शक्ति सबसे अधिक हो गई। हब्शियों के व्यापार में इंग्लैंड को बहुत लाभ पहुंचा।

इस संधि में कुछ विचित्र बातें भी हुईं। संघ ने चार्ल्स का पक्ष लेकर युद्ध शुरू किया था, पर संधि में उन्होंने आंजू को मान्यता दे दी। युद्ध लड़ा था इंग्लैंड की ह्विग पार्टी ने लेकिन संधि में इंग्लैंड के हितों की रक्षा करने का श्रेय टोरी दल को मिला। स्पेन में काटालन प्रदेश के लोगों ने चार्ल्स का समर्थन किया था लेकिन उन्हें आंजू को सौंप दिया गया जिसने उनसे खुलकर बदला लिया।

अंत में यही कहा जा सकता है कि स्पेन के उत्तराधिकार ने यूरोप में जो शक्ति की समस्या पैदा कर दी थी उसका यथासंभव ठीक हल निकाला गया। आने वाली शताब्दी में यूरोप की व्यवस्था का आधार यूटरेक्ट की संधि रही। लूई की महत्वाकांक्षाओं की असफलता और इंग्लैंड की सफलता की भी यह संधि साक्षी थी। एक युग जैसे इसके साथ बीत गया। संबंधों का आयाम विस्तृत हो गया। अब सारी दुनिया की बात सोची जाने लगी और यूरोप के उपनिवेश अमरीका से एशिया तक बनने लगे।

लूई का मूल्यांकन : यूटरेक्ट की संधि के दो वर्षों के बाद ही लूई की मृत्यु हो गई। उसने आधी शताब्दी से अधिक समय तक राज्य किया और फ्रांस के ही नहीं सारे यूरोप के जीवन को पूरी तरह झकझोर डाला। लेकिन शायद उसकी प्रजा निश्चित न कर पाई हो कि वह अपने सूरज जैसे राजा के अस्त होने पर खुश हो या उदास। उसने फ्रांस को गौरव दिया था, उसकी सीमाओं का विस्तार

किया था और यह फ्रांसीसी चरित्र को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त था, किंतु उसने देश को जर्जर कर दिया था। ऊपरी चमक-दमक के नीचे खोखली अर्थ-व्यवस्था लड़खड़ा रही थी। मध्यवर्ग, जिसने वूर्बों वंश का बराबर साथ दिया था, असंतुष्ट हो चला था। ऐसी गंभीर अवस्था में देश कैसे खुश रहता ?

लूई स्वयं केवल एक दो वातों में असाधारण था। कूटनीति का वह पारंगत था। उसकी चालों से सारा यूरोप चकित रह जाता था और कभी कभी उसने शब्दों से वह कर लिया जो सेनाएं भी नहीं कर पातीं। स्पेन से जीवन भर की दुश्मनी के वाद भी उसने जिस प्रकार वहां अपना प्रभाव बनाए रखा वह साधारण शासक नहीं कर सकता था। दूसरे जितना उसने सिंहासन का सम्मान बढ़ाया उतना शायद ही किसी राजा ने किया हो। उसने वर्साई को सारे यूरोपीय दर्शकों के लिए एक मंच बना दिया। जहां के हर अभिनय का उसके जीवन पर असर पड़ता था। हर शासक अपनी सीमाओं में अपने लिए एक वर्साई का निर्माण करने लगा। उसके समय में वर्साई उस मंदिर की तरह था जिसका वह स्वयं देवता हो। मंदिर की ही तरह दरबार की हर बात नियमित और नियंत्रित थी। आचार-व्यवहार से लोग अधिक संभ्रांत और सुसभ्य हो गए, भले ही इससे कृत्रिमता ही बढ़ी।

वह श्रम करने से नहीं घबड़ाता था और दूसरों से भी मेहनत करवाता था। योग्य व्यक्तियों पर उसकी नजर आसानी से पड़ती थी लेकिन उसके अहम के आगे अन्य किसी प्रतिभा को पूरा अवसर ही नहीं मिलता था। उसके दरबार का जो चित्र सैंसीमों ने प्रस्तुत किया है उससे वहां की भ्रष्टता, षड्यंत्र, चापलूसी और विलासीपन का पता चलता है। यह सच है कि साहित्य और कला को संरक्षण देकर उसने सांस्कृतिक वातावरण को वेहतर बनाया, लेकिन सब कुछ दरबार और एक वर्ग विशेष तक सीमित था।

उसकी नीतियां पूरी तरह जनविरोधी थीं। कोल्बेर के जीवन में किसी हद तक साधारण लोगों का भी भला हुआ लेकिन बाद में तो कृषि और उद्योग पूरी तरह उपेक्षित रहे। राज्य के खर्चों में कोई कमी नहीं आई और सही आमदनी न होने से कर्जे बढ़ते गए। लूई का जीवन वर्साई तक सीमित हो गया। उसे पता भी नहीं रहता था कि उसके राज्य में क्या हो रहा है। उसकी स्वेच्छाचारिता इतनी बढ़ गई कि राज्य की सारी राजनीतिक कार्यवाही का केंद्र वह स्वयं बन गया। नगरों और प्रांतों की प्रतिनिधि सभा को कौन कहे, स्टेट्स जनरल तक का कभी इस्तेमाल नहीं हुआ। राजनीतिक जिम्मेदारी समाप्त सी हो गई और प्रशासन भ्रष्ट होता चला गया।

उसकी धार्मिक नीति तो पूरी तरह इतिहास क्रम की विरोधी थी। वेस्टफेलिया की संधि के बाद ज्यादातर देशों में शासक सहिष्णु हो गए थे। इस संदर्भ में फ्रांस का शासक हेनरी वेस्टफेलिया के पहले ही नांत के आदेश द्वारा एक

पहलकदमी कर चुका था। लेकिन लूई ने पोप और प्रोटेस्टेंट दोनों से झगड़ा मोल लिया और धर्म के नाम पर जो दमन उसने किया वह उस समय बेमिसाल था। इससे न केवल देश में अशांति फैली, फ्रांस का दीर्घकालीन नुकसान हुआ। फ्रांस में यूगनो समाज के सबसे प्रगतिशील और अध्यवसायी लोग थे। उद्योग, व्यवसाय और नौकरियों में उन्होंने कीर्तिमान स्थापित किया था। हजारों की संख्या में उनके बाहर चले जाने से फ्रांस की अर्थव्यवस्था को बहुत क्षति पहुंची।

वह कर्मचारियों से तो काम ले लेता था लेकिन किसी वर्ग का सही इस्तेमाल करना उसे नहीं आया। न तो वह पादरियों का इस्तेमाल कर सका, न सामंतों का। सामंत समाज के लोग उसी की तरह खर्चीले बोझ बन गए। वह स्वयं तो कुछ करता भी था, सामंत तो पूरी तरह अकर्मण्य हो गए। मध्यवर्ग से समझौता करके ही सल्ली से कोल्बेर तक के प्रशासकों ने फ्रांस के हितों को आगे बढ़ाया था। लेकिन लूई इस दिशा में असफल रहा।

अपनी महिमा के अनुकूल ही उसने जो आक्रामक नीति अपनाई थी वह बहुत महंगी साबित हुई। यह सच है कि फ्रांस की सीमाएं बढ़ीं लेकिन बहुत बड़ी कीमत चुका कर। उसने उपनिवेशों का महत्व नहीं समझा। इस क्षेत्र में फ्रांस को इंग्लैंड के मुकाबले में बराबर नुकसान उठाना पड़ा और कोल्बेर की दूरदर्शिता ने जो योजना शुरू की थी वह न केवल अधूरी रह गई, उस पर विशेष ध्यान ही नहीं दिया गया।

इस प्रकार अंत में हम यह कह सकते हैं कि उसने भले ही अपने को राज्य की प्रतिमूर्ति करार दिया हो, भले ही उसके पादरी उसे 'धरती पर ईश्वर का स्वरूप' कहते हों, उसके कार्यों और उसके आचरण में कुछ भी ऐसा नहीं था जो उसे इतिहास पुरुष बनाता। पुनर्जागरण के बाद जो राष्ट्रीय प्रतिभा उद्वेलित हुई थी उसका उसे लाभ अवश्य पहुंचा। लेकिन इंग्लैंड की एलिजाबेथ की तरह फ्रांस के स्थाई हितों पर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। मरने से पहले उसने अपने उत्तराधिकारी से कहा था : 'मेरी गलतियां न दुहराना। प्रजा के हित में काम करना। ईश्वर को ध्यान में रखना और पड़ोसियों से युद्ध की नीति न अपनाना। हमेशा ऐसे लोगों की सलाह मानना जो बुद्धिमान और समझदार हों।' यह एक प्रकार से अपनी सारी नीतियों और कार्यों को नकार देना था। इससे कठोर आत्मालोचना की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। लेकिन मौत के पहले आने वाली समझदारी निरर्थक होती है। कुछ इतिहासकारों का मत है : 'लूई महान व्यक्ति हो या न हो महान राजा अवश्य था।' यह बात भी एक सीमा तक ही स्वीकार की जा सकती है। राज्य की शोभा ही राजा की महानता का कारण नहीं बन सकती। लेकिन राजा राज्य की शोभा ही नहीं बढ़ाता उस शोभा का स्थाई आधार भी तैयार करता है। इसीलिए कहा गया है : 'अपनी ही दुनिया का सूरज

लूई उन कृषकाय, क्षुब्ध और नाराज चेहरों से अपरिचित था जो नीचे के उस अंधेरे से उसे देख रहे थे जहां उसकी रोशनी कभी पहुंच ही नहीं पाती थी।' (ग्रेट लूई, द सन आफ हिज वर्ल्ड, वाज अन अवेयर आफ द मीगर, सल्की ऐंड विटर फेसेज दैट वाच्ड हिम फ्राम दोज लोअर डार्कनेसेज टु व्हिच हिज सन शाइन डिड नाट पेनेट्रेट)

इसीलिए जब वह मरा और उसे शाही कब्रगाह में ले जाया जा रहा था तो क्षुब्ध जनता ने रास्ते के शराब घंटों में बैठकर रोज से ज्यादा शराब पी। नशे में वह आक्रोश उमड़ा जो सामान्य स्थिति में संभव नहीं था। यह थी सूर्य जैसे प्रताप राजा की परिणति।

लूई चतुर्दश की मृत्यु के बाद फ्रांस दशकों तक पतन की ओर बढ़ता रहा— राजा की शक्ति की दृष्टि से। इस बीच आर्थिक और बौद्धिक जगत में ऐसे परिवर्तन हो रहे थे जो फ्रांस को दूसरी दृष्टि से महान बनाने वाले थे। अठारहवीं शताब्दी के अंत में फ्रांस ने पहले क्रांति और फिर नेपोलियन की उपलब्धियों के साथ उत्कर्ष के दूसरे दौर में प्रवेश किया।

7

इंग्लैंड में शक्ति परीक्षण : स्टुअर्ट काल

सोलहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय शक्तियों के प्रादुर्भाव और विकास काल में सबसे अधिक और स्पष्ट सफलता इंग्लैंड के ट्यूडर वंश को मिली थी। इस वंश ने देश को एक शक्तिशाली और गरिमामय परंपरा दी थी। विशेष रूप से एलिजाबेथ ने ऐसा शासन दिया जिसने इंग्लैंड के भावी गौरव की स्थाई नींव रख दी। तभी तो इतिहासकारों ने उसके शासनकाल को 'एलिजाबेथन एज' की संज्ञा दी है। इस स्वर्णकाल कहे जाने वाले शासन में बहुमुखी उन्नति हुई। देश सामरिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से उन्नति के शिखर पर पहुंच गया। उस समय का अमर लेखक शेक्सपियर अकेले किसी देश-काल को अमर बनाने में सक्षम है।

एलिजाबेथ से सभी इतने आश्वस्त थे कि अन्य शक्तियों का समुचित विकास नहीं हुआ। पार्लियामेंट के उसकी इच्छा के विरुद्ध जाने का प्रश्न ही नहीं था। फिर भी वह इतनी दूरदर्शी थी कि संसद के सदस्यों को संबोधित करते हुए उसने कहा था : 'यद्यपि ईश्वर ने मुझे इतना ऊंचा उठाया है फिर भी मैं इसे अपना गौरव मानती हूं कि मैंने आपके स्नेह के सहारे शासन किया है। इसीलिए मैं इस बात से इतनी खुश नहीं हूं कि मुझे ईश्वर ने रानी बनाया है। मुझे तो इसकी खुशी है कि मैं एक कृतज्ञ प्रजा की रानी हूं (दिस मेक्स मी दैट आई डू नाट सो मच रिज्वायस दैट गाड हैथ मेड मी टु बी ए क्वीन ऐज टु बी ए क्वीन ओवर सो थैंकफुल ए पिपुल)। यही उसकी सफलता का रहस्य था। उसने अपने दैवी अधिकार की बात बिना छोड़े ही जनता और संसद को पुचकारते रहने में ही अपना भला समझा था। शासन की ही तरह धर्म के क्षेत्र में भी 'राज्य निर्मित चर्च' (स्टेट मेड चर्च) मध्य मार्ग का अनुसरण करता व्यवस्थित हो रहा था।

इसी रास्ते पर संभल कर चलते शासक अपने को दृढ़ बनाए रख सकते थे। लेकिन बाद के शासकों ने अतिशयवादिता से काम लिया और उसकी कीमत चुकाई।

यूरोप के देशों में संसदीय परंपरा इंग्लैंड में ही सबसे अधिक सशक्त थी। ट्यूडर काल में पार्लियामेंट ने राष्ट्रीय समस्याओं और शासकों के प्रभाव के

कारण ही उनकी सर्वोच्चता को सहर्ष स्वीकार किया था। इसी प्रकार धार्मिक समस्याओं का समाधान भी तात्कालिक रूप से ही हुआ था। स्थाई समाधान के लिए समय और दूरदर्शिता की आवश्यकता थी। इस समय ऐसा ही शासक सफल हो सकता था जो इंग्लैंड और समय की ऐतिहासिक शक्तियों और तात्कालिक समस्माओं को समझकर एक ऐसी दृढ़ लेकिन समन्वयवादी नीति अपनाए ताकि देश निरंतर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सके। स्टुअर्ट वंश एक भी ऐसा शासक नहीं दे सका। इसीलिए इस वंश का शासनकाल इंग्लैंड के इतिहास में सबसे संघर्षमय और संकटग्रस्त सिद्ध हुआ।

पार्लियामेंट और राजा का संघर्ष

एलिजाबेथ ने विवाह को आवश्यक नहीं समझा था और निस्संतान मर गई थी। उसका निकटतम उत्तराधिकारी स्काटलैंड का शासक जेम्स था। जब वह इंग्लैंड का भी शासक घोषित हुआ तो जेम्स स्टुअर्ट के वंश ने इंग्लैंड और स्काटलैंड के भावी एकीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। लेकिन साथ ही देश की उन समस्याओं को उभरने का भी मौका मिला जो अब तक भीतर ही भीतर उमड़-घुमड़ रही थीं।

धर्म और राजनीति का संगम दोनों को संकटग्रस्त कर देता है। और जब राजा अपने को 'ईश्वर की अपरिवर्तनीय इच्छा का प्रवक्ता' (माउथपीस आफ द अनआलटरेबुल विल आफ गाड) समझे तो समझौता और समन्वय संभव नहीं रह जाता। इंग्लैंड में फिलिप द्वितीय के कैथोलिक झंडे के नीचे हुए आक्रमण और परम लोकप्रिय एलिजाबेथ की कैथोलिकों द्वारा जान लेने की कोशिशों की याद ताजा थी। स्टुअर्ट वंश का शासन प्रारंभ होने के कुछ ही दिनों बाद एक कैथोलिक गीफाक्स द्वारा संसद भवन उड़ा देने के प्रयत्न ने कैथोलिकों के प्रति शंका और अविश्वास को बढ़ा दिया था। इसके विपरीत फ्रांस और नीदरलैंड्स के प्रोटेस्टेंटों का अनवरत संघर्ष और तीस वर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेंट लोगों की स्थिति इंग्लैंड में उनके प्रति सहानुभूति और संवेदना पैदा कर रही थी। ऐसी स्थिति में स्टुअर्ट वंश का प्रारंभ अनुकूल परिस्थितियों में नहीं हुआ।

जेम्स प्रथम : अब तक एक द्वीप पर स्थित दो राज्य, इंग्लैंड और स्काटलैंड अलग अलग परंपराओं के सहारे दो भिन्न देशों की तरह विकसित हुए थे। एक ही व्यक्ति के दोनों देशों का राजा होने के नाते फौरन दोनों का विलयन नहीं हुआ पर इस निकटता ने कई समस्याएं खड़ी कर दीं। जेम्स बहुत गलत समय पर इंग्लैंड का शासक हुआ। वैसे भी किसी महान व्यक्ति का उत्तराधिकारी होना एक कठिन कार्य होता है। एलिजाबेथ के बाद जेम्स बिल्कुल बौना साबित हुआ।

वह शरीर से प्रभावहीन था। उसमें शासक के कोई गुण नहीं थे। उसे यह

भी नहीं पता था कि इंग्लैंड की परिस्थितियां स्काटलैंड से थोड़ी भिन्न हैं। उसने इन परिस्थितियों को समझने और तदनुकूल अपने को बदलने की कोशिश नहीं की। उसे विश्वास था कि राजा ईश्वर प्रदत्त अधिकार के आधार पर शासन करता है। राजत्व के इस दैवी सिद्धांत के अनुसार वह कोई विरोध बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं था। प्रतिनिधि सभाओं के अस्तित्व और उनकी उपयोगिता पर उसे विश्वास नहीं था। इंग्लैंड की धार्मिक समस्याओं के बारे में भी वह दूरदर्शिता से काम लेने की स्थिति में नहीं था।

सबसे पहली समस्या विश्वासों को लेकर खड़ी हुई। इंग्लैंड के राष्ट्रीय चर्च का स्वरूप प्रोटेस्टेंट हो गया था। इससे कैथोलिक तो अप्रसन्न थे ही कुछ प्रोटेस्टेंट भी असंतुष्ट थे क्योंकि चर्च शुद्ध रूप से प्रोटेस्टेंट नहीं हुआ था। ये लोग 'प्युरिटन' कहलाते थे। बीच का रास्ता अपनाने के कारण दोनों तरह के उग्रवादी असंतुष्ट थे। जेम्स ने पहले प्युरिटन लोगों को नाराज किया। उसने उन्हें आंग्ल चर्च का विरोधी करार दिया और वह उनकी प्राप्त सुविधाएं छीनने लगा।

दूसरी ओर कैथोलिक लोग, जो वंश परिवर्तन से बेहतर स्थिति की आशा लगाए हुए थे, जेम्स से निराश ही हुए। कुछ हताश कैथोलिक उग्रवादियों ने हिंसात्मक कार्यवाही करने का निर्णय किया। उन्होंने एक ही साथ राजा और पार्लियामेंट को नष्ट कर देने की योजना बनाई। परंपरानुसार हर साल शासक पार्लियामेंट को एक बार संबोधित करता है। 5 नवंबर, 1605 को जेम्स पार्लियामेंट में भाषण देने वाला था। संसद भवन के नीचे बारूद लगा दिया गया, लेकिन षड्यंत्र का पता चला गया और षड्यंत्रकारियों का नेता गी फाक्स अपने कुछ साथियों के साथ रंगे हाथों पकड़ लिया गया। उन्हें फांसी दे दी गई। स्तब्ध राष्ट्र एक बार फिर कैथोलिक लोगों को देशद्रोही मानने पर मजबूर हो गया। अब तक इस षड्यंत्र (गन पाउडर प्लाट) की याद में हर साल फाक्स दिवस मनाकर इंग्लैंडवासी अपना विरोध प्रकट करते हैं।

इंग्लैंड में कोई लिखित संविधान आज तक नहीं है, लेकिन परंपराओं का विकास होता रहा है और सारा शासन उन्हीं से निर्देशित होता रहा है। 1215 में कुछ सामंतों के मांग-पत्र (मैग्ना कार्टा) को इंग्लैंड के शासक ने स्वीकार किया था और संसद की नींव पड़ी थी। तबसे राजा और पार्लियामेंट के अधिकार पूरी तरह परिभाषित नहीं हो सके थे। विभिन्न राजाओं ने अपनी तरह से पार्लियामेंट से संबंध स्थापित करके शासन किया था। जेम्स ने इंग्लैंड की शासकीय परंपराओं की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारी ढंग से अपनी आज्ञाएं थोपनी शुरू कीं। जब आर्थिक संकट उपस्थित हुआ तो पार्लियामेंट से संपर्क किए बिना उसने अध्यादेश द्वारा नए कर लगा दिए। उसने सोचा था कि पार्लियामेंट थोड़े विरोध के बाद अंत में अपनी स्वीकृति दे ही देगी। परिणाम उल्टा ही निकला। वह पार्लियामेंट

को प्रस्ताव भेजता था और वह उसे अस्वीकार कर देती थी। राजा संसद को भंग कर देता था। फिर से नई पार्लियामेंट बुलाई जाती थी जो प्रस्ताव फिर अस्वीकार कर देती थी। धीरे धीरे यह प्रश्न उभरने लगा कि राज्य के धन पर किसका नियंत्रण है (हू कन्ट्रोल्स द नेशन्स पर्स)। इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ना स्टुअर्ट वंश की प्रमुख समस्या थी।

उसकी विदेश नीति ने भी आंतरिक समस्या को उलझाया ही। एलिजाबेथ के समय स्पेन का विरोध और प्रोटेस्टेंट लोगों की मदद इंग्लैंड की विदेश नीति का आधार था। जेम्स ने इसे उलट दिया। उसने सोचा कि प्रमुख कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट देशों की मित्रता से शांति स्थापित होगी। उसने दोस्ती का हाथ स्पेन की ओर बढ़ाया। स्पेन की पराजय के लिए जिम्मेदार प्रमुख लोगों में से एक सर वाल्टर रैले को उसने स्पेन विरोधी कार्य करने के लिए फांसी दे दी। स्पेन ने जेम्स की नीति की खिल्ली उड़ाई। दूसरी ओर तीस वर्षीय युद्ध में प्रोटेस्टेंट लोगों का नेतृत्व उसका अपना दामाद फ्रेडरिक कर रहा था। जेम्स ने मदद करने के बजाय तटस्थ रहने का निर्णय किया। उसकी नीति से सभी असंतुष्ट थे। फिर भी वह स्पेन के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार नहीं था।

जब 1625 में जेम्स मरा तो उसके पक्ष में केवल एक बात कही जा सकती थी कि उसने आयरलैंड और अमरीका में इंग्लैंड के उपनिवेशों की नींव रख दी थी और भारत से व्यापार को बढ़ावा दिया था। इसके अलावा सारी समस्याएं और जटिल छोड़ कर वह मरा था। उसके उत्तराधिकारियों के लिए इंग्लैंड पर शासन करना और मुश्किल हो गया था।

चार्ल्स प्रथम : जेम्स का पुत्र चार्ल्स योग्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व का शासक था। वह सही निर्णय लेने और उसे लागू करने की क्षमता रखता था लेकिन वह पार्लियामेंट से किसी समझौते के लिए तैयार नहीं था। उसने भी प्युरिटनों और पार्लियामेंट के दमन की नीति अपनाई। पार्लियामेंट जो विरोध करते समय भी जेम्स से असम्मानजनक व्यवहार नहीं करती थी अब स्पष्ट रूप से आधारभूत प्रश्न करने लगी : इग्लैंड में अब सार्वभौम कौन है ? राजा या पार्लियामेंट ?

चार्ल्स के शासन का पहला कार्य ही बहुमत के विरुद्ध था। उसने फ्रांस की कैथोलिक राजकुमारी से विवाह कर लिया और कैथोलिक समर्थन की नीति अपनाई। वह प्रोटेस्टेंट विरोधी नहीं था लेकिन उसकी धार्मिक उदारता इतने गलत ढंग से अभिव्यक्त होती थी कि पार्लियामेंट सशंकित हो गई। उसने कट्टर प्रोटेस्टेंट दृष्टिकोण अपना लिया। अब राजा और पार्लियामेंट के संघर्ष का स्वरूप राजनीतिक होने के साथ साथ धार्मिक भी हो गया।

स्पेन के साथ हो रहा युद्ध लोकप्रिय था और उसके लिए धन स्वीकृत करने में पार्लियामेंट का विरोध नहीं था। लेकिन वह युद्ध का संचालन योग्य व्यक्तियों

द्वारा चाहती थी। चार्ल्स ने यह काम बकिंघम नामक सेनापति को सौंपा था जिसके कारण इंगलैंड की सेनाओं को पराजय सहनी पड़ रही थी। ऐसे में पार्लियामेंट ने और धन देना अस्वीकार कर दिया। चार्ल्स उसे भंग करके अपने अनुकूल पार्लियामेंट का चुनाव करवा कर अपनी नीतियां मनवाना चाहता था लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। इसी बीच उसने रिशलिउ द्वारा ला रोशेल में घेरे गए फ्रेंच प्रोटेस्टेंट लोगों की मदद करने का निर्णय किया। इस कार्य में उसे देश का सहयोग मिल सकता था। लेकिन इस बार भी उसने जबरदस्ती की नीति अपनाई। उसने धनिकों से उधार लेकर मदद भेजी। कोई फायद नहीं हुआ और ला रोशेल का पतन हो गया। एक बार फिर बदनामी उठानी पड़ी।

1628 में पार्लियामेंट ने अपने अधिकारों का मांगपत्र (पेटिशन आफ राइट्स) रखा और स्पष्ट कर दिया कि जब तक वह स्वीकार नहीं होगा राजा से तनिक भी सहयोग असंभव है। हर तरफ से उलझा चार्ल्स अपनी स्वीकृति देने पर मजबूर हो गया। पार्लियामेंट की यह पहली जीत थी। चार्ल्स ने ऐसा मजबूरियों में किया था। उसकी नीतियों में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं आया। इसलिए संघर्ष की स्थिति बनी रही।

राजकोष की आमदनी का एक बहुत बड़ा जरिया चुंगीकर था। परंपरा के अनुसार हर शासन के शुरू में ही पार्लियामेंट इस कर (टनेज ऐंड पाउंडेज) को शासक के जीवनकाल के लिए स्वीकृत कर देती थी। चार्ल्स के शासन के प्रारंभ में यह औपचारिकता पूरी नहीं हो सकी थी। पार्लियामेंट के लिए यह एक सुनहरा मौका था। उसने बिना राजा का आश्वासन पाए स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। चार्ल्स के क्रोध की सीमा न रही। उसने पार्लियामेंट भंग करने का निर्णय किया। सदस्यों को सुराग मिल गया। उन्होंने बहुत से प्रस्ताव पास कर दिए और 'टनेज और पाउंडेज' को अनियमित घोषित कर दिया।

पार्लियामेंट भंग करने के पश्चात ग्यारह वर्षों तक चार्ल्स ने निरंकुश शासन किया। वह नए कर नहीं लगा सकता था लेकिन जो आमदनी थी उसका इस्तेमाल मनमाने ढंग से कर सकता था। इसके लिए खर्चों को नियंत्रित करके शासन को सुचारु रूप से चलाने की आवश्यकता थी जो उसके बस की बात नहीं थी। उसने धार्मिक मामलों के लिए लाड और प्रशासनिक कार्यों के लिए वेंटवर्थ नामक व्यक्तियों को सलाहकार नियुक्त किया और वह अपने ढंग से शासन करता रहा। उसने नौसेना को शक्तिशाली करने की योजना बनाई। परंपरा थी कि समुद्र तट के इलाकों से राजा मांग करता था कि वे राज्य को जहाज दें। पहले के छोटे जहाज उन इलाकों में तैयार करके राज्य को भेंट कर दिए जाते थे। चार्ल्स ने घोषित किया कि वे चाहें तो जहाज के स्थान पर धन (शिप मनी) दे सकते हैं। यह पार्लियामेंट के बिना कर लगाने की चाल थी। उसने शीघ्र ही सभी क्षेत्रों

पर यह अनियमित कर लगा दिया। इसका विरोध शुरू हुआ। गांव के साधारण से व्यक्ति हैंपडन ने कर देने से इन्कार कर दिया ओर उसे गिरफ्तार कर लिया गया। इसका इतना विरोध हुआ कि हैंपडन जनता में अत्यंत लोकप्रिय हो गया। उसे 'राष्ट्रीय हीरो' वना दिया गया। यहां तक कि मिल्टन जैसे कवि ने उसकी प्रशंसा की।

इसी बीच चार्ल्स ने स्काटलैंड में वे ही नियम लागू करने चाहे जो इंग्लैंड में स्वीकृत थे। वहां विरोध हुआ और युद्ध छिड़ गया। अव वह दो मोर्चों पर एक साथ नहीं लड़ सकता था। मजवूरन उसने पार्लियामेंट से समझौता करने का निश्चय किया। पार्लियामेंट (शार्ट पार्लियामेंट) बुलाई गई। उसने फिर पुरानी नीति दुहराई और वह भंग कर दी गई लेकिन कोई और समाधान नहीं था। फिर नई (पार्लियमेंट लांग पार्लियामेंट) बुलाई गई जो वहुत दिनों तक ऐतिहासिक भूमिका अदा करती रही।

सवसे पहले चार्ल्स के दोनों सलाहकारों को फांसी दी गई। राजा की उपेक्षा करके सारे निर्णय पार्लियामेंट स्वयं लेने लगी। मजवूर चार्ल्स अपमान वर्दाश्त करता रहा। वह मौके की तलाश में था। पार्लियामेंट राजा के विरोध में तो एकजुट थी लेकिन धार्मिक प्रश्न पर उसमें मतभेद था। इस मतभेद के सहारे उसने पार्लियामेंट के पांच प्रमुख नेताओं पिम जो संसद का सर्वमान्य नेता था, हैंपडन जिसने शिपमनी का खुला विरोध किया था, हैजलरिग और हालस स्ट्रोड भरी सभा में गिरफ्तार करना चाहा। सफलता नहीं मिली। चार्ल्स डर गया। राजधानी लंदन जहां धन, धर्म, सेना और संसद की शक्ति केंद्रित थी, में विद्रोह हो गया। चार्ल्स राजधानी छोड़कर नांटिघम भाग गया और अपने समर्थकों का आह्वान करने लगा। संघर्ष ने अव दूसरा रूप ले लिया था। दोनों ओर से सैनिक तैयारी होने लगी।

राजा के समर्थक 'कैवेलियर्स' कहलाते थे और पश्चिम में संगठित हो रहे थे। दूसरी ओर पार्लियामेंट के समर्थक 'राउंडहेड्स' एक प्रतिभाशाली नेता आलिवर क्रामवेल के नेतृत्व में लंदन में संगठित होने लगे। राजा को विशेष रूप से सामंतों का समर्थन प्राप्त था और पार्लियामेंट के साथ विशेष रूप से मध्यवर्ग के लोग थे। शुरू के युद्धों में राजा सफल होता दिखाई पड़ा लेकिन क्रामवेल ने पासा उलट दिया। कट्टर अनुशासन प्रेमी और अध्यवसायी क्रामवेल ने अपने अनुयायियों को एक जुझारू सेना में परिवर्तित कर दिया। उन्हें 'आयरनसाइड्स' कहा जाने लगा। उसकी सेनओं को पहली महत्वपूर्ण विजय मार्सटनमूर नामक स्थान पर मिली। कुछ ही दिनों वाद नेजवी की लड़ाई में चार्ल्स वुरी तरह हार गया। उसने स्काटलैंड में आत्मसमर्पण कर दिया। स्काटलैंड के लोग चार्ल्स से पहले से ही नराज थे। उन्होंने पार्लियामेंट से समझौता कर लिया और राजा को उन्हें सौंप दिया।

राजा ने सोचा था कि धार्मिक समस्या को लेकर स्काटलैंड और इंग्लैंड में पट नहीं सकेगी और उसकी जान बच जाएगी। उसका विश्लेषण अंशत: सही भी था। दोनों देशों में संघर्ष शुरू हो गया लेकिन विद्रोही शीघ्र ही दबा दिए गए और चार्ल्स बच नहीं सका।

इस दौरान सेना पार्लियामेंट पर हावी हो गई थी। उसने राजा पर मुकदमा चलाने का निर्णय लिया। पार्लियामेंट ने एक न्यायालय संगठित किया जिसने चार्ल्स को मौत की सजा दे दी। इंग्लैंड के इतिहास में पहली और अंतिम बार राजा को फांसी दे दी गई। ऐसे देश में जहां अब भी स्वतंत्रता कायम है जिद्दी और अदूरदर्शी राजा ने वक्त के खिलाफ चल कर स्वयं अपनी मौत को निमंत्रण दिया था। राजा मर चुका था। हाउस आफ लार्ड्स भंग किया जा चुका था। कामंस अस्त व्यस्त था। समस्या थी कि राज्य का शासन किस आधार पर हो।

क्रामवेल और कामनवेल्थ : सेना ने पार्लियामेंट के विरोधी सदस्यों को बर्खास्त कर दिया था। अब बची खुची 'रंप' पार्लियामेंट ने इंग्लैंड को एक कामनवेल्थ घोषित कर दिया। स्थिति अभी साफ नहीं हुई थी। आयरलैंड और स्काटलैंड में चार्ल्स द्वितीय को राजा घोषित कर दिया गया था। क्रामवेल ने धैर्य से काम लिया। सारे विरोधी परास्त हो गए और चार्ल्स जान बचा कर यूरोप में भटकने को बाध्य हो गया।

चार्ल्स पर विजय का श्रेय एक ओर क्रामवेल को मिलना चाहिए जिसने एक नई उत्साही सेना का संगठन किया था और दूसरी ओर पार्लियामेंट को जिसने इस सेना का आर्थिक भार वहन किया था। फिशर के अनुसार चार्ल्स, सेना और संसद तीनों कुछ ऐसे सिद्धांतों के प्रतिनिधि थे जिनकी देश को आवश्यकता थी। चार्ल्स राजतंत्र और आंग्ल चार्च, संसद सामान्य कानून और उत्तरदायी सरकार और सेना धार्मिक सहिष्णुता का प्रतिनिधित्व करते थे। तीनों के समन्वय से ही व्यवस्था संभव थी। चार्ल्स प्रथम मारा जा चुका था। क्रामवेल निर्विवाद रूप से उस सेना का नेता था जिसकी प्रशंसा फ्रांस के विख्यात और अनुभवी सेनापति ट्यूरेन्न ने कहा था : 'मैंने उसे देखा है। अंगरेजों की सेना से बेहतर फौज संभव नहीं है।' लेकिन विडंबना यह थी कि क्रामवेल स्वभाव से सेना नहीं प्रजतांत्रिक और सांविधानिक प्रशासन के निकट था और फिर भी असाधारण परिस्थितियों में उसे एक सैनिक शासन चलाना पड़ रहा था। 'वह न तो पार्लियमेंट के साथ शासन कर सकता था न उसके बिना'।

पार्लियामेंट के सदस्यों को इस असाधारण विजय का नशा सवार था। उनका ढुलमुल और बकवासपूर्ण आचरण अनुशासन प्रिय क्रामवेल को असह्य था। अंत में उसने मजबूरन संसद भवन पर एक टुकड़ी लेकर हमला बोल दिया। उसने क्षोभ से भरे शब्दों में सदस्यों को संबोधित करते हुए कहा : 'बहुत हो गया आप

वाहर चलें आप लोगों के यहां रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।' (कम! कम! वी हैव हैड एनफ आफ दिस. इट इज़ नाट फिट यू शुड सिट एनी लांगर.)।

नई पार्लियामेंट सेना का निर्णय मानेगी या राजतंत्र का पक्ष लेगी इस विषय में क्रामवेल आश्वत नहीं था। इसलिए एक तरह का संविधान बनाया गया (इन्स्ट्रूमेंट आफ गवर्नमेंट) जिसके द्वारा क्रामवेल को कार्यपालिका का अधिकार दिया गया। 'लार्ड प्रोटेक्टर' की हैसियत से एक 'काउन्सिल आफ स्टेट' की मदद से उसे शासन करने का अधिकार दिया गया। कानून बनाने का अधिकार एक सदनवाली पार्लियामेंट को दिया गया। उसमें किसी राजतंत्र समर्थक सदस्य के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी गई।

यह नई व्यवस्था केवल क्रामवेल की योग्यता पर निर्भर थी। क्रामवेल पार्लियामेंट जैसी संस्था से कभी पूरी तरह सहयोग नहीं कर सका। उसके विरुद्ध तरह तरह के षड्यंत्र होते रहे लेकिन वह एकचित्त होकर अपने ढंग से शासन करता रहा। एक नई पार्लियामेंट निर्वाचित हुई जो उसे ही राजा बनाने को तैयार थी लेकिन उसने स्वीकार नहीं किया। मतभेद बढ़ा और उसे भी भंग कर दिया गया। वह स्वयं कट्टर विश्वासों का आदमी था। लेकिन शासन में सभी तरह के प्रोटेस्टेंट लोगों के प्रति सहिष्णुता की नीति बरतना चाहता था। इससे न उसके समर्थक संतुष्ट थे न विरोधी। सारा इंग्लैंड धार्मिक विषयों पर बुरी तरह विभाजित था। इस दिशा में क्रामवेल को कोई सफलता नहीं मिली। जितने दिन वह जीवित रहा केवल अपने दृढ़ निश्चय की बदौलत शासन करता रहा। उसे कहीं से कोई सहयोग नहीं मिला। देश में बुरी तरह असफल क्रामवेल को विदेशों में अवश्य सफलता मिली। उसने हालैंड और स्पेन को परास्त किया। इंग्लैंड के उपनिवेश बढ़ाए और समुद्रों पर इंग्लैंड की तूती बोलती रही।

अंत में उसका शरीर इतने सारे संघर्ष बर्दाश्त नहीं कर सका। वह टूट चुका था। 1659 में उसकी मृत्यु हो गई। चारों तरफ अराजकता फैलने लगी। गणतंत्र ढहने लगा। साल भर तक क्रामवेल के लड़के रिचर्ड ने किसी तरह संभाला लेकिन यह स्पष्ट हो चला था कि सदियों से राजतंत्र की परंपरा से जुड़े इंग्लैंड में कोई विकल्प सफल नहीं हो सकता था। लोग स्टुअर्ट वंश की पुनस्थापना की बात करने लगे। क्रामवेल के ही सहयोगी जनरल मांक ने इस दिशा में पहल की। उसने प्रस्ताव रखा कि किसी को कुसूरवार न ठहराया जाए। सबको माफ करने की नीति के आधार पर पुरानी व्यवस्था को फिर से स्थापित किया जाए। चार्ल्स मान गया और जब वह इंग्लैंड लौटा तो जनता ने खुशियां मनाईं। पर परंपरागत सिद्धांत फिर से स्वीकार हुआ कि सरकार राजा, लार्डस और कामंस के माध्यम से ही चलनी चाहिए (दि गर्नवमेंट इज ऐंड आर्ट टु बी बाइ किंग, लार्ड्स ऐंड कामंस) तब से आज तक यह व्यवस्था निरंतर मानी जाती रही है।

चार्ल्स द्वितीय : राजतंत्र की पुनःस्थापना (रेस्टोरेशन) के बाद हवा ही बदल गई। पिछले दस वर्षों के कठोर अनुशासन और नियंत्रण से जनता ऊब गई थी। जीवन इतना नीरस हो गया था कि पुनःस्थापना के बाद लोगों ने अपनी खुशियां पूरी करने में सारे नियम तोड़ दिए। कुछ दिनों के लिए सारी मर्यादाओं को तोड़ लोग रंगरेलियां मनाते रहे, जैसे सारी कमियां पूरी करने पर आमादा हों। चार्ल्स स्वयं एक आमोदप्रिय शासक था। इसलिए वह बहुत लोकप्रिय हुआ।

कुछ दिनों तक पुराने प्रश्नों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। नई पार्लियामेंट, जिसे 'कैवेलियर पार्लियामेंट' कहते हैं, राजा से सहयोग करती थी। इस बीच ऐसे कानून पास हुए जो कामनवेल्थ के पहले संभव ही नहीं थे। राजा के विरुद्ध हथियार उठाना अपराध करार दिया गया। 'कारपोरेशन ऐक्ट' ने स्थिति स्पष्ट कर दी। किसी भी म्युनिसिपल कारपोरेशन के कर्मचारी को शपथ लेनी पड़ती थी कि वह राजा और आंग्ल-चर्च के प्रति अपने को समर्पित करता है। एकरूपता के लिए फिर एक कानून पास किया गया कि केवल आंग्लचर्च के धर्माधिकारियों को मान्यता है। शेष सभी प्रोटेस्टेंट संप्रदायों को 'डिसेंटर' कहा जाने लगा। डिसेंटर लोगों के विरुद्ध इतनी सख्ती इसलिए बरती गई क्योंकि पार्लियामेंट को यह शंका थी कि उसी बहाने कैथोलिक लोगों के प्रति सहानुभूति दिखाई जा सकती है। शंका निर्मूल नहीं थी क्योंकि चार्ल्स ने चुपके से कैथोलिक धर्म स्वीकार कर लिया था।

चार्ल्स वैदेशिक नीति में इंलैंड का सम्मान नहीं बचा सका। वह लूई चतुर्दश के प्रभाव में फंस चुका था, और कितनी ही बार एक पिछलग्गू की तरह व्यवहार करता था। लूई के युद्धों के दौरान उसने कभी कोई स्पष्ट नीति नहीं अपनाई।

उसके शासनकाल में पहली बार राजनीतिक दलों का सूत्रपात हुआ। दलों का आधार धार्मिक सहिष्णुता थी। वे लोग ही 'डिसेंटर्स' के कट्टर विरोधी टोरी कहलाए और जो इस विषय में सहिष्णु थे ह्विग टोरी और ह्विग दोनों व्यंग्यात्मक संबोधन थे। आयरिश भाषा में टोरी डाकू को कहते थे और स्काटलैंड में घोड़ों से काम लेते समय ह्विग्गम ह्विग्गम कह कर चिल्लाते थे। धीरे धीरे ये नाम दो राजनीतिक पार्टियों के पड़ गए। अनुदार दल 'टोरी' और उदार दल 'ह्विग'पार्टी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

जेम्स द्वितीय : पच्चीस वर्षों के शासन के बाद चार्ल्स की मृत्यु हो गई। 1685 में उसका भाई जेम्स गद्दी पर बैठा, चार्ल्स छुप कर कैथोलिक बना था और मृत्यु-शय्या पर ही उसने खुले आम अपने को कैथोलिक स्वीकार किया था। जेम्स कैथोलिक था, यह सर्वविदित था। कैथोलिक होने के साथ वह राजत्व के दैविक सिद्धांत में विश्वास रखता था। उसके शासक होते ही स्थिति वहीं लौट गई जहां

स्टुअर्ट वंश की स्थापना के समय थी। फिर धार्मिक और राजनीतिक आधार पर राजा और पार्लियामेंट में ठन गई। वह स्वेच्छाचारी न होता तो शायद निभ पाती, लेकिन उसने अपने धार्मिक और राजनीतिक विचारों के आधार पर शासन करना शुरू किया। विरोधी दंडित होने लगे।

इंलैंड में एक बार फिर असंतोष फैल गया। लेकिन सब सोचते थे कि जेम्स का उत्तराधिकारी उसकी पुत्री थी जो स्वयं भी प्रोटेस्टेंट थी और हालैंड के प्रोटेस्टेंट शासक विलियम से ब्याही थी। लेकिन 1688 में जेम्स की दूसरी पत्नी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। अब यह निश्चित हो गया कि उसका पालन पोषण एक कैथोलिक की तरह होगा और जेम्स के मत उसके पुत्र के माध्यम से स्थाई हो जाएंगे। इस संभावना से लोग आतंकित हो गए। कुछ देशभक्तों से जेम्स की पुत्री मेरी और उसके पति विलियम को इग्लैंड को इस संकट से बचाने के लिए संदेश भेज दिया।

रक्तहीन क्रांति : सब कुछ बहुत आकस्मिक ढंग से घोषित हुआ। जेम्स के पुत्र होने के पहले लोग उसकी मृत्यु का धैर्यपूर्वक इंतजार कर रहे थे। पुत्र उत्पन्न होने की खबर मिलते ही एक बिजली सी दौड़ गई। और कोई चारा न देखकर हालैंड से मेरी और विलियम को निमंत्रित किया गया। निमंत्रित करने वालों को आशा नहीं रही होगी कि निमंत्रण स्वीकार होगा और सब कुछ इतनी सरलता से घट जाएगा। लूई चतुर्दश हालैंड का पक्का दुश्मन था। और सभी जानते थे कि वह विलियम को इंग्लैंड नहीं जाने देगा। लेकिन वह जर्मनी में फंसा रह गया और विलियम तथा मेरी कुछ साथियों के साथ इंलैंड आ पहुंचे। उनके पहुंचते ही उत्साह की एक लहर दौड़ गई। हर तरफ से हर तरह के लोग उनके स्वागत के लिए उमड़ने लगे। जेम्स हवा का रुख पहचान गया और बिना कोई विरोध किए अपने परिवार के साथ भाग खड़ा हुआ। इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना घट गई। बिना एक बूंद खून बहाए एक ऐतिहासिक परिवर्तन हो गया। इसीलिए इस घटना को रक्तहीन या शानदार क्रांति (ब्लडलेस या ग्लोरिअस रिवोल्यूशन) कहते हैं।

पार्लियामेंट ने इंग्लैंड का सिंहासन मेरी और विलियम को अर्पित कर दिया। इस प्रकार बिना बहस के यह बात स्थापित हो गई कि राजा पार्लियामेंट की मर्जी से ही राजा रह सकता है। राजत्व का दैवी सिद्धांत स्वयं ही समाप्त हो गया। 1689 में पार्लियामेंट ने 'बिल आफ राइट्स' के द्वारा अपने अधिकारों को वैधानिक रूप दे दिया। ह्विग लोगों के प्रस्ताव पर सहिष्णुता का कानून (टालरेशन ऐक्ट) भी पास हो गया। इसके द्वारा कैथोलिक लोगों को छोड़ कर शेष सभी संप्रदायों को धार्मिक स्वतंत्रता दे दी गई। इस प्रकार राजनीतिक और धार्मिक दोनों समस्याओं का समाधान हो गया। इंग्लैंड के इतिहास का नया दौर शुरू हुआ।

इस घटना को क्रांति होने का सम्मान इसलिए मिला है कि इतिहास में जब से राजतंत्र की स्थापना हुई, राजाओं ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि कहकर हमेशा स्वेच्छाचारी शासन किया। जिस समय यह घटना घटी उस समय फ्रांस का शासक लूई अपनी निरंकुशता के लिए कुख्यात था। जबकि सारा यूरोप निरंकुश शासकों की चपेट में था, इंग्लैंड की पार्लियामेंट ने राजा बनाने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया। कोई भी शासक पार्लियामेंट के बनाए हुए कानूनों को रद्द नहीं कर सकता था। न तो वह कर लगा सकता था, न सेना भरती कर सकता था। संसद सदस्यों की किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबंध लगाने का उसे अधिकार नहीं था। जनता को अपनी मांग रखने का अधिकार मिल गया। पार्लियामेंट के विना शासन अनियमित घोषित हो गया। नियंत्रण को नियमित बनाने के लिए हर साल के लिए करों और खर्चों को पास करने का नियम बन गया। इस तरह साल में एक बार पार्लियामेंट का अधिवेशन होना अनिवार्य हो गया।

एकतंत्र और स्वेच्छाचारी शासन पर यह पहला आघात था। राजा का धर्म निश्चित हो गया, वह प्रोटेस्टेंट ही हो सकता था। उसके खर्चे नियंत्रित हो गए। यह हमेशा के लिए निश्चित हो गया कि सार्वभौमिकता का स्रोत राजा नहीं पार्लियामेंट है। तब से पार्लियामेंट के अधिकार बढ़ते ही गए और अब तो राजपरिवार में पार्लियामेंट की राय के विरुद्ध विवाह तक नहीं संभव हो सकते। पार्लियामेंट की इसी सत्ता ने इंग्लैंड को उदार प्रजातंत्र का गढ़ बना दिया।

एकतंत्र के विरुद्ध हो रहे हर संघर्ष को इस क्रांति ने प्रेरित किया है। अमरीका के स्वतंत्रता संग्राम और फ्रांस की क्रांति पर इसका प्रभाव स्पष्ट था। इस तरह इंग्लैंड में प्रजातंत्र का जो रूप मैग्ना कार्टा के साथ तेरहवीं शताब्दी में शुरू हुआ था चार सौ वर्षों के संघर्ष के बाद वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया। आज भी इग्लैंड के विधान में तब से कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

कैबिनेट व्यवस्था

आज दुनिया के ऐसे प्रजातांत्रिक देशों में, जहां संसदीय प्रणाली है, शासन एक मंत्रिमंडल (कैबिनेट) चलाता है जो संसद के प्रति जिम्मेदार होता है। इस व्यवस्था में राज्याध्यक्ष, राष्ट्रपति, गवर्नर जनरल या राजा प्रधान होता है लेकिन वास्तविक सत्ता संसद के हाथ में होती है। इस संसद में जिस दल का बहुमत हो या जिसे राज्याध्यक्ष सरकार बनाने का उत्तरदायित्व सौंपे उस दल का नेता प्रधानमंत्री बन जाता है। वह अपने दल से कुछ सहयोगी चुन लेता है जो एक मंत्रिमंडल बनाते हैं। इनके पास विभिन्न विभागों का प्रशासन होता है। ये अपने अपने विभाग के लिए और समवेत रूप से भी संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

इस प्रकार राज्य में कार्यपालिका की पूरी जिम्मेदारी इन्हीं पर होती है। ये संसद के सदस्य होते हैं इसलिए कानून बनाने में भी इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार वे इनकी व्यवस्थापिका के भी अंग होते हैं। इसीलिए केवल संसदीय प्रणाली है जिसमें मंत्रिमंडल व्यवस्थापिका और कार्यपालिका—कानून बनाना और उसे लागू करने का—कार्य एक साथ करता है। यही व्यवस्था आज भारत जैसे बहुत से देशों में लागू है। इसकी शुरुआत इंग्लैंड में हुई थी।

इंग्लैंड में दलों का निर्माण चार्ल्स द्वितीय के समय में ही हो गया था लेकिन वे दल केवल धार्मिक समस्या को लेकर बंटे हुए थे। मंत्री राजा की इच्छा से बनाए जाते थे और उसी की इच्छा से हटा दिए जाते थे। न तो उनका कार्य अच्छी तरह परिभाषित था न उनके अधिकार। वे केवल राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे और उसी के कर्मचारी की तरह कार्य करते थे। लेकिन राजा की प्रिवी काउंसिल का बहुत महत्व था। उसकी समितियां निश्चित कार्य करती थीं। इस काउंसिल में भी अंशत: भावी कैबिनेट व्यवस्था के बीज मौजूद थे।

1688 की क्रांति के बाद जब विलियम इंग्लैंड का शासक हुआ तो वह अपने देश हालैंड में अधिक दिलचस्पी लेता था। हालैंड लूई चतुर्दश की नीतियों से आक्रांत था और विलियम निरंतर हालैंड की रक्षा और लूई को नीचा दिखाने की चिंता में रहता था। उसे इंग्लैंड पर विशेष ध्यान देने की फुरसत नहीं थी। वह इंग्लैंड की पार्लियामेंट का ऋणी था और उससे बहुत सौहार्दपूर्ण संबंध बनाए रखने में निरंतर सचेष्ट था। इस समय इंग्लैंड की पार्लियामेंट में 'ह्विग, पार्टी का बहुमत था। उसने अपने मंत्री इसी पार्टी से चुन लिए और शासन का अधिकांश भार उन्हीं के ऊपर छोड़ कर निश्चिंत हो गया। जब ह्विग पार्टी हार गई और टोरी पार्टी का बहुमत हुआ तो उसने मंत्री उस पार्टी से चुन लिए ताकि प्रशासन में सुविधा हो। यहीं से कैबिनेट व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। कैबिनेट का अर्थ होता है एक छोटा सा कमरा। ऐसे ही एक कमरे में स्टुअर्ट राजाओं के सलाहकार बैठ कर राय देते थे और उन्हें 'कैबिनेट' भी कहा जाता था। तब ये लोग पार्लियामेंट विरोधी समझे जाते थे। अब विलियम के समय इसी कैबिनेट का पार्लियामेंट से बहुत निकट का संबंध स्थापित हो गया।

1714 में इंग्लैंड में फिर वंश परिवर्तन हुआ क्योंकि विलियम के बाद इंग्लैंड का राज्य महारानी ऐन को मिला था और उसने भी कोई उत्तराधिकारी नहीं दिया था। उत्तराधिकार अब जर्मन राज्य हैनोवर के राजवंश में चला गया था जहां का शासक जार्ज अब इंग्लैंड में जार्ज प्रथम के नाम से हैनोव्रियन वंश के संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। जार्ज प्रथम और उसका उत्तराधिकारी जार्ज द्वितीय पूरी तरह इंग्लैंड को अपना नहीं सके। वे आचार-व्यवहार में जर्मन बने रहे। उन्हें अंगरेजी भाषा भी पूरी तरह नहीं आई। उन्हें जर्मनी और हैनोवर की याद आती

रही। इसलिए वे पूरी तरह इंग्लैंड के न बन सके। उन्होंने ज्यादातर जिम्मेदारी कैबिनेट के हाथों में दे दी क्योंकि वे इंग्लैंड की जटिल राजनीतिक व्यवस्था को न समझते थे न समझना चाहते थे। जब उन्हें भाषा ही नहीं आती थी तो वे किसी को आज्ञा क्या देते और शासन में क्या दखल देते ? वे इतने बुद्धिमान और दूरदर्शी भी नहीं थे कि हैनोवर जैसे छोटे से राज्य के स्थान पर इंग्लैंड जैसे महत्वपूर्ण राज्य का शासक होने पर प्रसन्न हों और अपनी शक्ति तथा महिमा के लिए कुछ करें। ऐसी स्थिति में स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति के होते हुए भी पार्लियामेंट और मंत्रिमंडल द्वारा ही नाममात्र का शासन करते रहे। प्रायः वे कैबिनेट की मीटिंग में उपस्थित भी नहीं होते थे।

ये लोग ह्विग पार्टी को अपना समर्थक समझते थे क्योंकि टोरी लोगों ने स्टुअर्ट वंश की पुनःस्थापना के छुटपुट प्रयास किए थे। इस समय ह्विग पार्टी का महत्व बढ़ा और उनका एक नेता वालपोल धीरे धीरे हर सही गलत कार्य करके ह्विग लोगों और कैबिनेट का 'प्रमुख' मंत्री बना रहा। वह इतना शक्तिशाली हो गया था कि उसे हर तरह से 'प्रमुख'—प्राइम इन इंपार्टेंस ऐंड प्राइम इन पावर अर्थात 'प्राइम मिनिस्टर' कहा जाने लगा। तभी से यह परंपरा बन गई कि राजा पार्लियामेंट के बहुमतवाले दल से प्रधानमंत्री नियुक्त करेगा और फिर उसकी राय से कैबिनेट के अन्य मंत्री नियुक्त होंगे।

परंपराओं पर ही आधारित इंग्लैंड के संविधान में इस प्रकार यह व्ययस्था हो गई कि शासन हो शासक के नाम में लेकिन वास्तविक शासन कैबिनेट और प्रधानमंत्री चलाएं। धीरे धीरे यह स्पष्ट हो गया कि इंग्लैंड में शासक का प्रभुत्व रहेगा लेकिन हुकूमत वह नहीं मंत्रिमंडल करेगा (दि मोनार्क रेन्स, ही डज नाट रूल) परंपराओं ने निश्चित कर दिया कि राजा शासन संबंधी कोई भी कार्य व्यक्तिगत रूप से नहीं कर सकता। राज्य के तीनों महत्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका, वह स्वयं नहीं विभिन्न संस्थाएं करने लगीं। राजकोष पर भी उसका नियंत्रण नहीं रह गया। यहां तक कि व्यक्तिगत और परिवार के खर्चे के लिए भी पार्लियामेंट एक निश्चित रकम (सिविल लिस्ट) निर्धारित करने लगी। इस तरह वालपोल के 'प्रधान' मंत्रित्व काल में ऐसी परंपरा बन गई जिसका उल्लंघन संभव नहीं हो सका।

जार्ज तृतीय ने लूई चतुर्दश की नकल करना चाहा। उसने किसी प्रधान मंत्री की आवश्यकता नहीं समझी। लेकिन वह अपनी अर्धविक्षिप्तता और अदूरदर्शिता के कारण एक के बाद दूसरा गलत निर्णय लेता गया। उसकी नीतियों ने ही अमरीकी उपनिवेश में अशांति फैला दी और अमरीकी लोगों ने वाशिंगटन के नेतृत्व में अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी और जीत गए। अमरीकी स्वतंत्रता ने जार्ज बहुत कमजोर बना दिया। इसी समय पिट के रूप में एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति का

प्रादुर्भाव हुआ। उसने प्रधानमंत्री का पद ग्रहण किया। उसने ऐसा देश को नेतृत्व दिया जिसमें इंग्लैंड न केवल भारी राष्ट्रीय संकटों से, जैसे फ्रांस की क्रांति और नेपोलियन के आक्रमण से उभरा बल्कि उसने अपनी धाक सारे विश्व में जमा ली। उसने कैबिनेट और प्रधानमंत्री की स्थाई और सबसे महत्वपूर्ण संस्था बनाने में सफलता पाई।

तबसे संसदीय प्रजातंत्र निरंतर शक्तिशाली होता गया है। कैबिनेट व्यवस्था इंग्लैंड में तो सुदृढ़ हुई ही है, उसने दुनिया के अनेक देशों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है। शुरू में कैबिनेट में इंग्लैंड के धनिकों और सामंतों को स्थान मिलता था लेकिन समय के साथ जनतंत्र का ज्यों ज्यों विस्तार हुआ कैबिनेट अन्य वर्गों की पहुंच में भी आता गया। आज इंग्लैंड की कैबिनेट को दुनिया की सबसे शक्तिशाली, व्यवस्थित और अनुशासित संस्थाओं में गिना जाता है।

8
स्वीडन : अस्थाई उत्थान

भारतवर्ष के लिए स्वीडन प्राय: अज्ञात सा देश है जबकि आज उसकी गिनती पश्चिम के 'आदर्श समाज और सरकार के रूप में की जाती है। आज वहां प्रति व्यक्ति औसत आमदनी शीर्षस्थ देशों से भी ज्यादा है। वहां गरीबी, निरक्षरता और असहायता समाप्तप्राय समझी जाती हैं। वहां की फिल्में, निबंध समाज और इस्पात दुनिया भर में चर्चा और आकर्षण का केंद्र है। जन कल्याणकारी राज्य (वेलफेयर स्टेट) की स्थापना की दिशा में वहां नए नए प्रयोग हो रहे हैं। अभूतपूर्व समृद्धि के बावजूद वहां आत्महत्या का प्रतिशत दुनिया में शायद सबसे अधिक है। इस अंतर्विरोध के कारण वहां की पूरी व्यवस्था पर प्रश्न उठाए जा रहे हैं। कुल मिलाकर स्वीडन दुनिया में एक चर्चित देश समझा जाता है और विभिन्न क्षेत्रों में उसकी भूमिका का महत्व रहता है। साल में कम से कम एक बार तो स्वीडन की राजधानी स्टाक होम पर सबका ध्यान केंद्रित हो ही जाता है जब वहां नोबेल पुरस्कार दिए जाते हैं।

यूरोप के उत्तर-पश्चिम में स्थित स्कैंडेनेविया प्रायद्वीप के अधिकांश पर स्वीडन का राज्य है। झीलों, पहाड़ों और जंगलों से भरपूर इस देश का सोलहवीं शताब्दी में एक उल्का की तरह उत्थान हुआ और अठारहवीं शताब्दी आते आते उसकी शक्ति क्षीण हो गई। फिर उसे आधुनिक युग में प्रवेश करने के लिए दो शताब्दियों तक इंतजार करना पड़ा।

प्रकृति की अतिशयता का शिकार यह क्षेत्र जांबाज और जुझारू नाविक और लड़ाके पैदा करने के लिए प्रसिद्ध था। यहां के लोगों ने दक्षिण में इंग्लैंड और फ्रांस तक अपनी शक्ति का लोहा मनवाया था। लेकिन जैसे भारत में आने वाली विजेता जातियां—हूण, शक आदि, विजय के बाद सांस्कृतिक रूप से पराजित होकर यहीं आत्मसात हो गईं उसी प्रकार के विजेता उत्तर दक्षिण में खो से गए। उन्होंने विजय के बाद लौट कर अपने देश को समृद्ध और सभ्य नहीं बनाया। इसीलिए इस विस्तृत क्षेत्र पर अपेक्षतया बहुत छोटे लेकिन अधिक उन्नत डेनमार्क का कब्जा पंद्रहवीं शताब्दी तक बना रहा।

राष्ट्रवाद के उत्थान की शताब्दी में स्वीडन में भी लहर आई और राष्ट्रवादी सामंतों ने मिलकर डेनमार्क से मुक्ति ले ली और अपने में सबसे योग्य और शक्तिशाली गसटवस वासा (1523-1560) को अपना राजा मान लिया। यह स्वीडन के नवयुग का प्रारंभ था।

इस राष्ट्रीय राजतंत्र के प्रारंभिक काल में धार्मिक स्तर पर भी राष्ट्रवाद ने रंग दिखाया। स्वीडन भी एक कैथोलिक देश था और पादरियों का समाज ही नहीं राजनीति पर भी बहुत असर था। वासा के राजा होने पर बहुत से पादरी असंतुष्ट हुए और व्यवधान उपस्थित करना शुरू किया। रोम से अनुरोध किया गया कि ऐसे बिशपों को हटाकर राष्ट्रवादी लोगों की नियुक्ति की जाए। यह इस बात का स्पष्ट संकेत था कि नवोदित राजतंत्र कैथोलिक चर्च का हस्तक्षेप पसंद नहीं कर रहा है। लेकिन लूथर के विरोध के बावजूद चर्च सबक लेने को तैयार नहीं था और स्वीडन की प्रार्थना ठुकरा दी गई। यहीं से रोम से संबंध विच्छेद का प्रारंभ हो गया।

ऐसे ही वातावरण में स्वीडन में लूथर के विचारों का प्रचार बढ़ने लगा। इंग्लैंड की तरह पहले केवल मोनास्ट्री की संपत्ति छीनी गई और उनका दमन शुरू हुआ। बाइबिल का स्वीडी भाषा में अनुवाद किया गया। रोम का रवैया देखकर कैथोलिक चर्च की संपत्ति 1527 में जब्त कर ली गई। कैथोलिक पादरियों ने जब विद्रोह किया तो उनका दमन किया गया। बहुत से बिशपों की हत्या कर दी गई। 1531 में सांस्कृतिक नगर अप्सला का बिशप प्रोटेस्टेंट हो गया और इंग्लैंड में जैसे कैंटरबरी का बिशप मुख्य धर्माधिकारी बना दिया गया था अप्सला के बिशप की स्थिति कुछ वैसी ही हो गई। सत्रहवीं शताब्दी प्रारंभ होते-होते कैथोलिक लोगों को पदमुक्त कर दिया गया। बहुत से लोग निर्वासित कर दिए गए और स्वीडन न केवल पूरी तरह प्रोटेस्टेंट हो गया बल्कि भावी नेतृत्व के लिए भी तैयार होने लगा।

गस्टवस एडलफस (1611-1632) : स्वीडन को यूरोप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर एडालफस के शासन काल में ही प्राप्त हुआ। उसने वासा का पौत्र होने का पूरी तरह सुबूत दिया। उसने स्वीडन की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएं पूरी करने के लिए जिस सुदृढ़ आंतरिक प्रशासन, सैन्य शक्ति और आक्रामक प्रवृत्ति की आवश्यकता थी उसका असाधारण परिचय दिया।

जब वह गद्दी पर बैठा तो प्रोटेस्टेंट होने की प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी। स्वीडन की राष्ट्रीय अस्मिता निखरने लगी थी। लेकिन उसे मान्यता की आवश्यकता थी। यूरोप के राज्यों में उसका कोई महत्व नहीं था। प्रोटेस्टेंट के नाते भी जर्मनी के राज्यों, नीदरलैंड्स और इंग्लैंड को प्रमुखता मिल रही थी। दूसरी ओर भौगोलिक दृष्टि से भी स्वीडन उत्तर में सीमित एक कटा हुआ प्रदेश था

जहां एक भी ऐसा बंदरगाह नहीं था जहां से साल भर व्यापार हो सके। नवोदित मध्यवर्ग के व्यावसायिक हित इससे सीमित हो जाते थे। इसके लिए एकमात्र तरीका यह था कि स्वीडन का दक्षिण में बाल्टिक सागर के उस पार विस्तार हो। एडालफस इसीलिए बाल्टिक को 'स्वीडी झील' बनाने का इच्छुक था। कुल मिला कर एक आक्रामक रवैया अपना कर अपनी धाक जमाने की आवश्यकता थी।

स्वीडन बहादुर लोगों का तो देश था ही। संगठन और निर्देशन की आवश्यकता थी। उसने आंतरिक प्रशासन ठीक किया। प्रगतिशील शक्तियों को प्रोत्साहित किया। सैनिकतंत्र का ठीक से गठन किया। असाधारण शौर्य के नाते सैनिकों में अनुशासन और आस्था करने में उसे कठिनाई नहीं हुई। वह जानता था कि स्वीडन का भविष्य एक शक्तिशाली नाविक शक्ति से जुड़ा हुआ है। इसलिए नौसेना भी नए ढंग से संगठित हुई। उसने यूरोप की प्रोटेस्टेंट शक्तियों से मेल-जोल बढ़ाना शुरू किया। कैथोलिकों के विरुद्ध संघर्ष में उन्हें प्रोत्साहित भी करना शुरू किया। धीरे धीरे कमजोर और असंगठित प्रोटेस्टेंट लोग उसकी ओर नेतृत्व की इच्छा से देखने लगे। तीस वर्षीय युद्ध के प्रथम दोनों दौरों में प्रोटेस्टेंट लोग पराजित हो चुके थे और स्थिति संकटपूर्ण हो गई थी।

डेनमार्क की पराजय के बाद तीस वर्षीय युद्ध की स्थिति ऐसी हो गई थी कि लगता था कि यूरोप से प्रोटेस्टेंट लोग समाप्त कर दिए जाएंगे। लेकिन यह धर्म की ही बात नहीं थी। कैथोलिक लीग और पवित्र रोमन साम्राज्य की सेनाएं डेनमार्क तक पहुंच गई थीं। अब न केवल स्वीडन के विस्तार की संभावना समाप्त हो गई थी स्वयं स्वीडन खतरे में पड़ गया था। ऐसी ही स्थिति में उसने स्वयं युद्ध में कूदने का निर्णय लिया। अपने स्वभाव के अनुसार ही उसने रक्षात्मक नीति अपनाने के स्थान पर तेजी से हमला करने का निर्णय लिया। उसकी गति और नेतृत्व तथा उसकी सेना का अनुशासन और क्षमता देखकर यूरोप स्तब्ध रह गया। उसने साम्राज्य की सेनाओं को मूली-गाजर की तरह काट डाला और सारे जर्मन क्षेत्र को रौंद डाला। लेकिन वह जितना बहादुर था उतना विवेकशील नहीं। इसलिए दुस्साहस की कीमत चुकानी पड़ी और वह युद्ध में मारा गया। (विस्तार के लिए देखें 'तीस वर्षीय युद्ध' स्वीडी काल।)

एडालफस अपने समय का शायद सबसे योग्य शासक था। शासन की योग्यता में उसकी तुलना में कोई शासक नहीं केवल प्रशासक रिशलिउ ही खड़ा हो सकता था। उसके जैसी विलक्षण और विविध प्रतिभा मुश्किल ही से मिलती है। उसका सबसे बड़ा गुण यह था कि स्वीडन के शासकों की परंपरा के विपरीत वह एक सुसंस्कृत शासक था और साहित्य तथा कला की उसे अच्छी समझ थी। सबसे बड़ी बात तो यह कि उसने राष्ट्र की नियति को समझा था और उसके अनुसार ही अपनी नीतियां निर्धारित की थीं। उसे निश्चित ही एलिजाबेथ और हेनरी

चतुर्थ की कोटि में रखा जा सकता था क्योंकि वह किसी से कम प्रतिभाशाली नहीं था। लेकिन उसमें अपेक्षित और आवश्यक संतुलन तथा दूरदर्शिता नहीं थी। इसीलिए न केवल उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। वह देश के हित में भी पूरी तरह सफल नहीं हो सका।

उसकी मृत्यु के वाद लगता था कि स्वीडन का उल्कापात हो गया। लेकिन उसमें अभी देर थी। उसकी पुत्री क्रिस्टीना ने कम उम्र के बावजूद अपनी जिम्मेदारी पूरी तरह निभाई और तीस वर्षीय युद्ध जारी रखा। रिशलिउ ने स्वीडन से जो मित्रता की नीति अपनाई थी उसे दोनों ने अपने अपने हित में अच्छी तरह निर्वाह किया। अंत में फ्रांसिसी हस्तक्षेप के कारण साम्राज्य की शक्ति जब लड़खड़ा गई और 1648 में वेस्टफेलिया की संधि हुई तो स्वीडन को नजर अंदाज नहीं किया जा सका। उसे वाल्टिक के दक्षिणी तट पर न केवल क्षेत्र मिले उसे जर्मन साम्राज्य में महत्वपूर्ण स्थान मिल गया। (विस्तार के लिए देखिए वेस्टफेलिया की संधि) अव स्वीडन मध्य यूरोप तक पहुंच चुका था और उसकी भूमिका केवल उत्तर तक सीमित नहीं रह गई थी।

वेस्टफेलिया की संधि के वाद स्वीडन का विकास तेजी से हुआ। व्यावसायिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से स्वीडन तेजी से आगे वढ़ने लगा। रीगा न केवल स्वीडन वल्कि रूस और पोलैंड का भी वन्दरगाह वन गया। जनसंख्या के अनुपात में उसका व्यवसाय वहुत वढ़ गया। पुनर्जागरण के प्रभाव स्वीडी जीवन में पूरी तरह परिलक्षित होने लगे। इतिहासकार हेज के अनुसार स्वीडन को राजनीति, धर्म और व्यवसाय के क्षेत्र में भय और सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा (इन पालिटिक्स, इन रिलिजन ऐंड इन ट्रेड स्वीडन वाज फीयर्ड ऐंड रेस्पेक्टेड।)

लेकिन इस वैभव और शक्ति के स्थायित्व की संभावना सीमित थी। एक तो राज्य में फिन (फिनलैंड के निवासी), लैट जाति के लोग, जर्मन, पील आदि कई अल्पमत के लोग विखरे हुए थे और राज्य का संगठन इसीलिए पुष्ट नहीं था। इतने बड़े राज्य का भार संभालने के लिए जनसंख्या वहुत कम थी। किसान गरीब थे क्योंकि कृषि की स्थिति न ठीक थी न भौगोलिक कारणों से आसानी से ठीक हो सकती थी। पड़ोसियों का ऐसे में ईर्ष्यालु होना स्वाभाविक था। विशेष रूप से ब्रैंडेन वर्ग (वाद में प्रशा) और डेनमार्क स्वीडन का वाल्टिक सागर में एकाधिकार तोड़ने पर आमादा थे।

क्रिस्टीना के वाद चार्ल्स दशम और चार्ल्स एकादश के शासनकाल में स्वीडन यूरोप की कूटनीति और युद्धों में उलझता रहा। कभी डेनमार्क, कभी पोलैंड और कभी लूई चतुर्दश के विरुद्ध युद्धों में स्वीडन ने अपनी भूमिका निभाई। यद्यपि लोहे और जहाजरानी के उद्योगों के विकास के कारण स्वीडन का आर्थिक विकास हो रहा था लेकिन अभी ऐसी आर्थिक दृढ़ता नहीं आई थी कि पूरी शताब्दी

लगातार युद्धों को झेला जा सके। इन युद्धों में स्वीडन जर्जर होता जा रहा था। दूसरे उसके अंतर्राष्ट्रीय वैभव का प्रारंभ फ्रांस से मित्रता के साथ ही हुआ था। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक फ्रांस अपने उत्कर्ष पर पहुंच कर अवनति की ओर उन्मुख हो चला था। दूसरी ओर प्रशा के उत्थान का प्रारंभ हो रहा था जो मध्य यूरोप और बाल्टिक तट पर सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए कृतसंकल्प था और उसे सफलता भी मिली। इसलिए भी फ्रांस के साथ स्वीडन की अवनति स्वाभाविक थी। तीसरी ओर अठारहवीं शताब्दी में पूरब में रूस का पीटर के नेतृत्व में उद्भव शुरू हुआ और स्वीडन दबता चला गया। ऐसे में उसके शासक लड़ाकू अधिक शासक कम थे। ऐसे शासक देश का स्थाई लाभ नहीं कर सकते। इस प्रकार समस्याएं और दुश्मन बढ़ते चले गए।

चार्ल्स द्वादश : जब 1697 में 15 वर्ष का किशोर चार्ल्स गद्दी पर बैठा तो किसी को विश्वास तक नहीं था कि वह यूरोप में चमत्कारी भूमिका अदा करेगा। वह अभी पंद्रह वर्षों का अनुभवविहीन शासक था और उसका पड़ोसी रूस का शासक पीटर एक बहुत योग्य और दूरदर्शी शासक था। उसकी भी वही महत्त्वाकाक्षाएं थीं जो स्वीडन की थीं। पीटर ने पश्चिमी यूरोप की यात्रा की, वहां के तौर तरीके, उनकी प्रगति का रहस्य, समझने के लिए। रास्ते में उसने स्वीडन के अन्य पड़ोसियों से चर्चा की कि स्वीडन का विभाजन करने का यही उपयुक्त अवसर था। सारा दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध में व्यस्त था। स्वीडन के किशोर शासक चार्ल्स से आशा नहीं थी कि वह अपनी रक्षा कर सकेगा। अत: 1699 में स्वीडन के दुश्मन पड़ोसियों, डेनमार्क और रूस ने उसके विरुद्ध एक संधि कर ली। जर्मनी के कुछ राज्य इसमें शामिल होना चाहते थे लेकिन मौके पर मुकर गए। स्वीडन के दुश्मनों ने उसके शासक की संभावनाओं को नहीं समझा था।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों में उत्तर का महायुद्ध (द ग्रेट नार्दर्न वार) लड़ा गया। इसके पहले कि उसके दुश्मन उस पर संगठित हमला करें चार्ल्स जान पर खेलता उन पर टूट पड़ा। डेनमार्क के राजा ने घबड़ा कर उससे संधि कर ली। वह बाल्टिक के पूर्वी तट पर पहुंचा और उसने पीटर की सेना को नार्वा के युद्ध में पराजित ही नहीं किया उसका विनाश कर दिया। दक्षिण की ओर मुड़ कर उसने पोलैंड, रूस और सैक्सनी की सेनाओं को पीछे भागने पर मजबूर कर दिया। पोलैंड में उसने अपनी इच्छा से स्टैनिसलास को शासक बनवाया। उसकी सेनाओं ने सारे क्षेत्र को रक्तरंजित कर दिया। उसे उत्तर का 'विक्षिप्त' (मैडमैन आफ नार्थ) कहा जाने लगा। उसने घोषणा कर दी कि 'भले ही मासूम लोगों को कष्ट हो पर अपराधी बचने न पाएं (बेटर दैट

द इन्नोसेन्ट सफर दैन दैट द गिल्टी एस्केप) । ऐसी नीति का परिणाम होता है 'प्रतिहिंसा'।

वह बहादुर चाहे जितना हो परिपक्व नहीं था। वह पोलैंड में आवश्यकता से अधिक उलझता गया। उधर पीटर ने नए सिरे से तैयारी की। उससे सेना का पुनःसंगठन किया। चार्ल्स को हराना रूस के जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। अब चार्ल्स रूस की ओर मुड़ा। इधर वह पोलैंड से हटा उधर स्टैनिसलास को पदच्युत कर दिया गया। चार्ल्स अंधाधुंध हमले की नीति का प्रेमी था। उसने रूस पर अचानक हमला किया लेकिन वह राजधानी मास्को तक नहीं पहुंच सका। दक्षिण की ओर मुड़ते ही उसकी पीटर से पोल्तावा नामक स्थान पर मुठभेड़ हो गई। नार्वा का एक एक कर बदला लिया गया। स्वीडी सेना काट कर फेंक दी गई। चार्ल्स कुछ अनुयायियों के साथ जान बचा कर दक्षिण की ओर भागने पर मजबूर हो गया। उसने तुर्की में जाकर शरण ली। उसने तुर्क सम्राट को रूस के विरुद्ध भड़काया। रूस और तुर्की की दुश्मनी बढ़ चली थी लेकिन पीटर ने तुर्की से समझौता कर लिया। अब चार्ल्स का तुर्की में रहना असंभव हो गया। उसका साहस दुर्दम्य था। वह बिना किसी सैनिक सहयोग के अकेले स्वीडन लौटा। अपने चकित देशवासियों को उसने फिर संगठित किया। लेकिन उसके दुश्मन चौकन्ने थे। उसके दुश्मनों की संख्या बढ़ गई थी। यूटरेक्ट की संधि हो चुकी थी। लूई मर चुका था। अब सबको फुरसत थी इधर ध्यान देने की। इंग्लैंड और प्रशा भी अब स्वीडन के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गए। इतने सारे दुश्मनों से एक साथ लड़ने के लिए चार्ल्स कृतसंकल्प था। वह समझौता कर ही नहीं सकता था। वह तो 'पूरा या कुछ नहीं' की नीति का समर्थक था। लेकिन यह जिद और दुस्साहस उसे ले डूबा। 1718 में वह केवल छत्तीस वर्ष की उम्र में सारे यूरोप को चकाचौंध करता हुआ एक पुच्छलतारे की तरह अस्त हो गया।

उसके मरते ही स्टाकहोम की संधि द्वारा स्वीडन को पीछे ढकेल दिया गया। उसके बाल्टिक पार के सारे क्षेत्र उसके दुश्मनों ने बांट लिए। जर्मनी में केवल पोमेरैनिया का एक हिस्सा छोड़ कर उसने सब कुछ खो दिया। अब वह एक सामुद्रिक शक्ति भी नहीं रहा। पीटर ने स्वीडन के विध्वंस और पतन की नींव पर उत्तरी यूरोप में रूस के उत्कर्ष की नींव रखी।

चार्ल्स का उत्थान और पतन वास्तव में एक उल्का की तरह हुआ। व्यक्तिगत शौर्य में उसका स्थान अद्वितीय है। लेकिन व्यक्तिगत शौर्य का वृहत्तर संदर्भों में कोई महत्व नहीं होता। वह एक बेमिसाल सैनिक और सेनापति था लेकिन एक शासक के गुण उसमें नहीं थे। प्रारंभिक सफलताओं ने उसका सिर फिरा दिया था। वह सारी राजनीति केवल युद्ध के संदर्भ में करता था। युद्ध राजनीति की एक अभिव्यक्ति हो सकता है, स्वयं में पूर्ण राजनीति नहीं हो सकता, इसलिए

चार्ल्स एक चमत्कार बन कर रहा गया। उसकी उपलब्धि वास्तविक न बन सकी। यह भी कहा जाने लगा कि वह तो गद्दी पर बैठा डान क्विक्ज़ोट था। 'ए डान क्विक्जोट प्रोमोटेड टु थ्रोन'।

स्वीडन ने सत्रहवीं शताब्दी में जितनी तेजी के साथ उन्नति की थी, अठारहवीं में उससे भी तेज गति से वह अवनति के गर्त में खो गया। बीसवीं शताब्दी में एक नए स्वीडन का जन्म हुआ है जिसके लिए और ही परिस्थितियां जिम्मेदार थीं। स्वीडन के उत्थान का तब कोई आधार नहीं बन पाया था। वहां के योद्धा शासक देश की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था को संगठित नहीं कर पाए थे। चारों ओर महत्वाकांक्षी पड़ोसियों से घिरे स्वीडन के शासक कूटनीति से काम लेना नहीं जानते थे। एक साथ आखिर कितने दुश्मनों से लड़ते ? उनके दुर्भाग्य से उसी समय पीटर जैसा प्रतिभाशाली, यथार्थवादी और दूरदर्शी शासक उनका प्रतिद्वंद्वी हो गया। रूस स्वीडन से और रूस के शासक स्वीडन के शासकों से अधिक समर्थ थे। इसलिए रूस ने ही स्वीडन को परास्त कर उसे पतनोन्मुख बनाया। यह एक विडंबना ही है कि एडालफस और चार्ल्स जैसे प्रतिभाशाली नाम स्वीडन के उत्थान और पतन से एक साथ जुड़ जाते हैं। उन्होंने जो उत्थान किया वह सतही और क्षणिक था। पतन के कारण उन्होंने दूर नहीं किए, उल्टे उन्हें बढ़ाया ही। यही कारण है कि स्वीडन का सत्रहवीं शताब्दी का इतिहासमहत्वपूर्ण घटनाओं और व्यक्तियों से भले ही भरपूर हो, महत्वपूर्ण उपलब्धियों से शून्य है।

फ्रांस की क्रांति तक स्वीडन विशेष महत्व नहीं पा सका। लेकिन नेपोलियन के शासनकाल में एक संयोग ने स्वीडन का मार्ग प्रशस्त किया। जब वहां का शासक चार्ल्स त्रयोदश निस्संतान मर गया तो स्वीडन के प्रमुख लोगों ने वंश परिवर्तन के लिए तलाश शुरू की। स्वीडन का कोई व्यक्ति सर्वसम्मति से स्वीकार्य नहीं था। बाहर कई उम्मीदवार हो सकते थे। जमाना नेपोलियन के उत्कर्ष का था। नेपोलियन के एक प्रख्यात सेनापति बर्नदात पर नजर पड़ी और उसे ही स्वीडन का ताज सौंप दिया गया। पिछले पौने दो सौ वर्षों से यही फ्रांसीसी वंश स्वीडन पर राज्य कर रहा है। बर्नदात नेपोलियन के लिए विभीषण सिद्ध हुआ। उसने बाद के दिनों में नेपोलियन विरोधी षड्यंत्रों और युद्धों में हिस्सा लिया। परिणामस्वरूप वियेना में जब पुरस्कार बंटे तो स्वीडन को नार्वे का राज्य मिल गया। यह विस्तार स्थाई नहीं सिद्ध हो सका लेकिन नार्वे की स्वतंत्रता के बाद भी दोनों देशों में अच्छें पड़ोसी के रिश्ते बने रह गए।

धीरे धीरे स्वीडन का आधुनिकीकरण हुआ और जब देश में उत्कृष्ट इस्पात का निर्माण होने लगा तो स्वीडन की शक्ति स्थाई होने लगी। दोनों महायुद्धों में तटस्थता की नीति अपना कर स्वीडन ने दोनों तरफ से धन कमाया और आज दुनिया के समृद्धतम देशों में गिना जाता है।

9

प्रबुद्ध निरंकुशता ?

लूई चतुर्दश ने सत्रहवीं शताब्दी में राजतंत्र की निरंकुशता को एक नई दिशा दी थी। उसे इंग्लैंड को छोड़कर यूरोप के सभी देशों के राजपरिवार अनुकरणीय समझते थे। राजतंत्र में निरंकुशता की प्रवृत्ति तो होती ही है। अब उसे एक ऐसा आदर्श मिल गया था, जिसकी नकल करके सभी राजा उतने ही महिमामय बनने को लोलुप थे। लेकिन इसी बीच एक और बात हुई थी। अठारहवीं शताब्दी में ऐसी स्वेच्छाचारिता की आलोचना भी होने लगी थी। विचारकों ने उदारता और सुधार की बातें करनी शुरू कर दी थीं। समाज का एक वर्ग प्रबुद्ध होने लगा था। ऐसा साहित्य, इतिहास और दर्शन लिखा जा रहा था जो तत्कालीन समाज में परिवर्तन का इच्छुक था। आज इतिहास में उस काल को 'ज्ञानोदय' का काल कहते हैं। इस वैचारिक परिवर्तन का असर कुछ शासकों पर भी पड़ा। वे अपनी निरंकुशता छोड़ने को तैयार नहीं थे लेकिन उनके दृष्टिकोण में यह परिवर्तन अवश्य आया कि अब वे जिन पर शासन करते थे उनके प्रति भी सहानुभूति रखने लगे, उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व की बात करने लगे। इस परिवर्तित दृष्टिकोण का सबसे स्पष्ट प्रमाण इस बात में मिलता है कि जहां लूई कहा करता था: 'मैं ही राज्य हूं', वहां प्रशा का शासक कहने लगा: 'मैं राज्य का प्रथम और प्रमुख कर्मचारी हूं।'

यह कोई नवीन बात नहीं थी। चीन में कन्फ्यूशस और यूनान में अफलातून (प्लेटो) ने बहुत पहले कवि-राजा और दार्शनिक-राजा (पोएट आर फिलासफर किंग) की कल्पना की थी। उनका विचार था कि यदि राजा कवि की तरह संवेदनशील हो या दार्शनिक की तरह विचारवान हो तो वह सबके हित में उदारतापूर्वक राज्य करेगा। इस आदर्श के उदाहरण इतिहास में बहुत कम मिलते हैं। ऐसे शासक कम तो हुए ही हैं, जब हुए भी हैं तो उन्हें बहुत सफलता नहीं मिली। लेकिन ऐसे शासक अवश्य हुए हैं जो प्रजाहित के प्रति जागरूक थे। भारतवर्ष में अशोक से शेरशाह तक ऐसे कई उदाहरण मिल जाएंगे। यूरोप में भी पहले कई जागरूक शासक हुए थे। पर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक साथ कई ऐसे

शासक हुए और पहले की स्वेच्छाचारिता के मुकाबले में उसे प्रबुद्ध निरंकुशता का काल कहा जाने लगा।

इस काल में सबसे प्रमुख बात यह थी कि शासक सिद्धांततः यह स्वीकार करने लगे कि शासन शासित लोगों के हित में होना चाहिए। लेकिन यह हित क्या है इसका निर्णय जनता या उसके प्रतिनिधि नहीं कर सकते थे। यह राजा की अपनी इच्छा पर निर्भर था। हम लार्ड ऐक्टन की तरह यह कह सकते हैं कि यह प्रबुद्धता 'राजतंत्र के प्रायश्चित' (रिपेंटेंस आफ मानर्की) का परिणाम थी। पूरी व्यवस्था ऐसी थी जिसकी तुलना उस परिवार से की जा सकती है जिसमें पिता अपने पुत्रों के हित की बात सोचे, जो मुनासिब समझे करे लेकिन यदि पुत्र स्वयं कोई बात उठाए, कुछ करना चाहे तो पिता नाराज हो जाए और सजा दे। इस तरह इस काल में सुधार तो हुए पर वे सतही साबित हुए।

इस व्यवस्था की प्रमुख आलोचना यह होती है इस समय किए गए सुधार अस्थाई हुए क्योंकि उनका कोई वैचारिक आधार नहीं था। इन सुधारों के लिए वातावरण नहीं तैयार किया गया था। ये ऊपर से थोप दिए गए थे, इसलिए इन्हें जबरदस्ती बनाए रखना पड़ता था। एक शासक उदार हुआ तो वह सुधार करता था और उसका अनुदार उत्तराधिकारी उसे फौरन बदल सकता था। किसी भी परिवर्तन के लिए आवश्यक वातावरण बनाने और तदनुकूल कानून और संस्थाएं बनाने की आवश्यकता होती है। परिवर्तन के लिए शासनतंत्र में परिवर्तन करने पड़ते हैं। इस काल में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इस व्यवस्था के संदर्भ में आस्ट्रिया में मारिया थेरेसा और जोसेफ द्वितीय, स्पेन में चार्ल्स तृतीय, पुर्तगाल में पोंबाल, रूस में पीटर और कैथरिन तथा इनमें सबसे प्रख्यात फ्रेडरिक महान को याद किया जाता है। इनमें से कुछ शासकों का विस्तार से अध्ययन करने पर ही प्रबुद्ध निरंकुशता का मूल्यांकन हो सकता है।

जोसेफ द्वितीय

आस्ट्रिया की महारानी मारिया थेरेसा ने पहले पति और बाद में अपने पुत्र जोसेफ के शासनकाल में थोड़े उदार परिवर्तन किए थे। साहित्य और कला को संरक्षण दिया था। लेकिन वास्तविक कार्य उसकी मृत्यु के बाद सम्राट जोसेफ द्वितीय ने ही किए। 1780 से दस वर्षों तक उसने अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। वह अपने समय के विचारकों विशेषकर वोल्तेयर और रूसो का प्रशंसक था। आदर्शवादिता के प्रवाह में उसने यह भी कहना शुरू कर दिया था कि 'मैंने दर्शनको ही अपने राज्य का विधायक बना दिया है।' आई हैव मेड फ़िलासाफ़ी द लेजिसलेटर आफ माई इंपायर) लेकिन कार्य तो दर्शन को नहीं उससे प्रेरित लोगों को ही करने थे। व्यावहारिकता की कमी के कारण उसके आदर्श सफल नहीं हो सके।

उद्देश्य : जोसेफ अपने साम्राज्य को एकरूपता देना चाहता था। उसका आधार वह शासन और भाषा को बनाना चाहता था। इसके लिए वह प्रांतीय स्वायत्तता और प्रतिनिधि सभाओं का अंत करके केंद्रीकरण करना चाहता था और राज्य में जर्मन भाषा को अनिवार्य करके भाषागत एकता स्थापित करना चाहता था। धार्मिक कट्टरता के स्थान पर वह सहिष्णुता की नीति के पक्ष में था। सामंतों का दमन करके वह साधारण जनता के हितों में कार्य करना चाहता था। सिद्धांततः ये नीतियां ठीक थीं। लेकिन कोई भी सुधार देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार ही हो सकता है और जोसेफ ने अपने राज्य की वास्तविकताओं की उपेक्षा की।

सुधार : सबसे पहले उसने पूरे साम्राज्य को एकरूपता देने का प्रयास किया। आस्ट्रिया के अधीन सारे राज्यों को एक राज्य बना कर उसे तेरह प्रांतों में बांट दिया गया जहां केंद्रीय प्रशासक नियुक्त किए गए। राज्य में किसी भी प्रतिनिधि सभा को मान्यता नहीं दी गई। स्थानीय संस्थाओं जैसे म्युनिसिपल बोर्ड तक का कोई अधिकार नहीं रह गया। सारे देश में जर्मन को राजभाषा घोषित कर दिया गया। राष्ट्रीय सेना के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई। किसानों को भी एक निश्चित समय के लिए सेना में कार्य करना पड़ता था। इन सुधारों के द्वारा वह एक संगठित तंत्र बनाना चाहता था जिसके सहारे वह पूरे साम्राज्य पर अपनी निरंकुशता के साथ शासन कर सके।

जनहित के सुधारों के क्षेत्र में उसने अर्धदासों (सर्फ) को स्वतंत्र करने का आदेश दिया। वे अब जमीन रखने और अपनी इच्छा के अनुसार पारिवारिक जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र हो गए। उसने दीवानी और फौजदारी के कानून संकलित करवाए। न्याय व्यवस्था कम खर्चीली और सरल बनाई गई। सजा के नाम पर उत्पीड़न की परंपरा समाप्त कर दी गई और मृत्युदंड भी बहुत कम दिए जाने लगे। न्यायालयों का पुनःसंगठन किया गया। कानूनी विवाह अनिवार्य हो गया।

धार्मिक क्षेत्र में भी उसने साहसपूर्ण सुधार किए। आस्ट्रिया कैथोलिक देश था। सम्राट लोग परंपरागत रूप से पोप और चर्च के समर्थक होते थे। जोसेफ ने रोम के हस्तक्षेप का अधिकार कम कर दिया। हर वर्ष रोम जाने वाली रकम भी बंद कर दी गई। धार्मिक मठों के विदेश धन भेजने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। बहुत सारे मठ समाप्त कर दिए गए। कुछ को जनहित के कार्यों में लगा दिया गया। पादरी वर्ग के लिए विशेष शिक्षा का प्रबंध किया गया। सभी धर्मों के अनुयायियों को धार्मिक स्वतंत्रता दे दी गई। यूरोप में पहली बार यहूदियों को भी सारे अधिकार दे दिए गए। धर्म के नाम पर दिए जाने वाले दंड समाप्त कर दिए गए।

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र भी अछूते नहीं रहे। कर मुक्त लोगों पर कर लगाया गया। औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दिया गया। त्रियेस्त और फिउमे नामक बंदरगाहों को विकसित किया गया ताकि भूमध्यसागर में व्यापार हो सके। रूस और तुर्की से व्यापारिक संधियां की गईं।

जब उसकी किसी नीति को उचित समर्थन नहीं मिला, उल्टे विरोध होने लगा तो उसे बहुत क्षोभ हुआ। उसका विचार था कि उसने तर्कसंगत कार्य किए थे और वे जनहित में थे लेकिन जब प्रशंसा के स्थान पर उसे आलोचना सुननी पड़ती थी तो वह अकृतज्ञ लोगों को सजा देने पर भी आमादा हो जाता था। उसका ख्याल था कि विरोध करने वाले लोग सामंत, चर्च, मध्यवर्ग या किसान, किसी कुटिल उद्देश्य के कारण ही उचित नीतियों का विरोध करते हैं। लेकिन यह तो उसकी मासूमियत थी या भोलापन था कि वह जो भी सुधार करेगा वह बिना एक पृष्ठभूमि बने स्वीकार कर लिया जाएगा।

पवित्र रोमन साम्राज्य में बहुत सी जातियां रहती थीं जो अनेक भाषाएं बोलती थीं। साम्राज्य पूरे यूरोप का एक छोटा रूप था। यह सर्वविदित है कि व्यक्ति का अपनी जाति और भाषा से आधारभूत लगाव रहा है। सोलहवीं शताब्दी से भाषा और राष्ट्रीयता और भी महत्वपूर्ण बंधन बन गए थे। जोसेफ ने जब ये सारी विभिन्नताएं समाप्त करनी चाहीं तो स्वाभाविक था कि उसका विरोध होता। इस प्रकार पूरे साम्राज्य को एक राष्ट्र बनाने का कृत्रिम प्रयोग असफल हो गया।

अपने साम्राज्य में रहने वालों की धार्मिक विभिन्नता के कारण उसने सहिष्णुता की नीति अपनाई थी लेकिन वह तो कट्टरता का युग था। उसके राज्य में बहुमत कैथोलिक लोगों का था और वे जोसेफ की नीति को ढुलमुल और कैथोलिक विरोधी समझने लगे। पोप स्वयं वियेना आया लेकिन पोप और जोसेफ के संबंध सामान्य नहीं हो सके।

वैदेशिक नीति में वह पश्चिम से हट कर पूरब और दक्षिण-पूर्व में रुचि लेना चाहता था। वह नीदरलैंड्स छोड़कर बाल्कन प्रायद्वीप की ओर बढ़ना चाहता था। इस नीति का भी जर्मन राज्यों में विरोध हुआ। नीदरलैंड्स का यह दक्षिणी हिस्सा हालैंड की स्वतंत्रता के बाद अपने को परतंत्र समझने लगा था। जब अमरीका की स्वतंत्रता की घोषणा हो गई तो यहां भी आग भड़की। जब फ्रांस की क्रांति हुई तो उन्हें और बल मिला। जोसेफ ने इन्हें दबाना चाहा। लेकिन अमरीका की तरह इन्होंने भी स्वतंत्रता की एकतरफा घोषणा कर दी।

मूल्यांकन : इतिहास में प्रायः यह हुआ है कि शासक प्रतिक्रियावादी रहे हैं और जनता ने जब सुधारों की मांग की है तो उसका दमन हुआ है। जोसेफ के समय बात उलट गई थी। वह स्वयं प्रगतिशील था लेकिन उसकी प्रजा तैयार नहीं थी।

उसने प्रतिक्रियावादी रुख अख्तियार कर लिया था। ऐसा इतिहास में कई बार हुआ है। भारतीय इतिहास में इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण मुहम्मद तुगलक प्रस्तुत करता है। उसकी नीतियां तर्क की कसौटी पर खरी उतरती हैं। वे काम कितने ही शासकों ने किए हैं और ख्याति पाई है। लेकिन जब मुहम्मद तुगलक ने ये सुधार करने चाहे थे तो देश उनके लिए तैयार नहीं था। उसके पास वह प्रशासकीय तंत्र भी नहीं था जिसके सहारे वह अपनी नीतियों को कार्यान्वित करता। नतीजा यह निकला कि उसके कर्मचारियों, सामंतों और कहीं कहीं जनता ने भी उसका विरोध किया और कुछ इतिहासकार गैरजिम्मेदार ढंग से उसे 'पागल' तक कहने लगे। वास्तविकता यह थी कि उसने वक्त से पहले बिना किसी तैयारी के ऐसे सुधार करने चाहे थे, जिन्हें स्वीकार करने के लिए मानसिक स्तर पर समाज तैयार नहीं था। ऐसी स्थिति में असफलता अनिवार्य थी। एक और उदाहरण से बात स्पष्ट हो सकती है। भारत में सती दाह प्रथा बहुत पुरानी थी। अल्बुकर्क, अकबर और कई अन्य शासकों ने नारियों के जलने-जलाने वाली इस प्रथा का अंत करना चाहा था लेकिन वे असफल हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी में जब राजा राममोहन राय और विलियम बेंटिक ने इसका अंत करना चाहा तब भी विरोध हुआ। लेकिन इस समय मानसिक परिवर्तन हो रहा था और सरकार के पास ऐसा तंत्र था कि कानून बनते ही उसे लागू करवाया जा सका। यह छोटा कार्य था और इसके लिए सरकार पर्याप्त थी। लेकिन जब एक बड़ा सुधार करना हुआ तो कानून बना और असफल हो गया। बाल विवाह के विरुद्ध अंगरेजों के जमाने में ही 'शारदा ऐक्ट' पास हो गया था लेकिन आज भी नन्हे-मुन्ने दूल्हे सरेआम बाजे-गाजे के साथ शादी करने जाते हैं और सरकार कुछ नहीं करती। कारण स्पष्ट है। गांवों की जनता इसके विरुद्ध नहीं हो पाई है और कानून सख्ती से लागू नहीं किया जाता।

इस संदर्भ में जोसेफ को देखें तो उसे समझना आसान होगा। साम्राज्य के विभिन्न राष्ट्रों और भाषाओं के स्थान पर एकरूपता स्थापित होने के कार्य हुए हैं और हो रहे हैं। रूस में आज बहुत सारी भाषाओं और राष्ट्रीयताओं के लोग एक ही राज्य और राजभाषा के अंतर्गत रहते हैं। भारतवर्ष में भी अंशतः प्रयोग हो रहा है। धार्मिक सहिष्णुता आज सर्वमान्य नीति है। वैदेशिक संबंधों में भी जोसेफ का विश्लेषण ठीक था। पश्चिम में कई प्रतिद्वंद्वी थे। बाल्कन प्रायद्वीप में तुर्की साम्राज्य के पतन से एक शून्य पैदा हो रहा था जिसे आस्ट्रिया भर सकता था। और यही हुआ भी। जब नेपोलियन ने आस्ट्रिया को पराजित किया तो उसने उसे दक्षिण-पूर्व की ओर मोड़ दिया ताकि पश्चिम में फ्रांस निर्द्वंद्व हो सके।

लेकिन किसान सैनिक सेवा से नाराज थे। सामंत अपने अधिकारों में कमी के कारण क्षुब्ध थे। मध्यवर्ग के लोग उद्योग और व्यवसाय में राज्य का हस्तक्षेप नापसंद करते थे। पादरी लोग उसकी धार्मिक नीति से असंतुष्ट थे। ऐसे में

समाज के किसी वर्ग से उसे समर्थन नहीं मिला। उसके कर्मचारियों के लिए उसके विचार 'यूटोपियन' थे। फिर वह अकेले क्या करता ? किसके बल पर अपनी नीतियों को कार्यान्वित करता ? अपने शासन के अंतिम दिनों में उसने अपने बहुत सारे सुधार वापस ले लिए। फिर भी उसके कुछ कार्य स्थाई साबित हुए। अर्धदासों को मुक्त करके उसने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को सामान्य जीवन जीने का अवसर दिया। धार्मिक सहिष्णुता की नीति भी अंततोगत्वा राज्य की स्थाई नीति बन गई। उसके कुछ आर्थिक सुधार भी स्थाई साबित हुए लेकिन सफलता की दृष्टि से फ्रांस की क्रांति हो जाने पर लोगों की दृष्टि फ्रांस पर अधिक पड़ी, आस्ट्रिया पर नहीं। इस तरह अपनी सारी प्रबुद्धता के बावजूद वह न केवल असफल हुआ, उसे उचित मान और प्रशंसा भी नहीं मिली।

जोसेफ का समकालीन फ्रेडरिक उसकी अपेक्षा अधिक यथार्थवादी था। इसलिए वह सफल भी हुआ और प्रसिद्ध भी। जोसेफ, जो निश्चित ही फ्रेडरिक से अधिक जागरूक और अधिक उत्साही था, जो अपने समय के शासकों में सबसे अधिक आदर्शवादी था, निरंतर इसी चिंता में डूबा रहता था कि इतनी मुसीबतों और परिश्रम के बाद भी उसने जितने लोगों को सुखी बनाया उससे अधिक लोगों को उसने नाराज किया। मरने से पहले निराश जोसेफ ने अपने अधिकांश सुधारों को समाप्त करने की आज्ञा दे दी। और अपनी कब्र पर खुदवाने के लिए एक वाक्य चुना, 'इस आदमी ने अपनी सारी सदाशयता के बावजूद कभी सफलता नहीं पाई' (हीयर लाइज द मैन हू विथ द बेस्ट इंटेंशंस नेवर सकसीडेड इन एनी थिंग)। यह 'समाधिलेख' (एपीटाफ) जोसेफ के जीवन की 'ट्रेजडी' का परिचायक है। उस जैसे अनेक शासकों का, जो समय की यथार्थताओं और अपने आदर्शों का समन्वय नहीं करते और अंतर्विरोधों में जीते हैं, भी यही हाल हुआ है और होगा। एक तरफ प्रजाहित का आदर्श, दूसरी ओर प्रजातंत्र का कट्टर विरोध करके जोसेफ कैसे सफल हो सकता था ?

फ्रेडरिक महान

प्रशा को पराजित करने के बाद नेपोलियन सारे जर्मनी के शासकों द्वारा लाए गए उपहारों के बीच घूम रहा था। सारा हाल सजे सजाए व्यक्तियों और बहुमूल्य उपहारों से जगमगा रहा था। दुनिया की दौलत उसके कदमों पर थी। लेकिन नेपोलियन केवल एक वस्तु के सामने रुका और उसने आदरपूर्वक उसे उठाकर अपनी कमर में बांध लिया। वह थी प्रशा के भूतपूर्व शासक फ्रेडरिक महान की तलवार। नेपोलियन जैसे असाधारण विजेता ने फ्रेडरिक को अकारण यह सम्मान नहीं दिया था। प्रशा जर्मनी का राजपूताना था, जहां के योद्धा सारे यूरोप में विख्यात थे। फ्रांस का राजनेता मिराबो कहा करता था: 'युद्ध तो प्रशा का राष्ट्रीय

उद्योग है।' फ्रेडरिक से पहले कई विजेता शासक हुए थे। लेकिन फ्रेडरिक पहला शासक था जिसने प्रशा को यूरोप की एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया।

सत्रहवीं शताब्दी तक प्रशा ब्रैंडेनवर्ग कहलाता था। तीस वर्षीय युद्ध में जर्मनी में विनाश हुआ था। किंतु जब वेस्टफेलिया की संधि हुई तो ब्रैंडेनवर्ग और शक्तिशाली होकर उभरा। उस समय शासक 'एलेक्टर' कहलाता था। एलेक्टर फ्रेडरिक विलियम ने अपने राज्य की महानता की नींव रखी। उसने सेना और नौसेना को संगठित किया। अपने राज्य की आर्थिक उन्नति पर ध्यान दिया। एक सहिष्णु नीति द्वारा उसने अपनी प्रजा के हर वर्ग को संतुष्ट रक्खा। उसने मरने से पहले ब्रैंडेनबर्ग को जर्मनी के सैकड़ों छोटे-बड़े राज्यों में सबसे महत्वपूर्ण बना दिया था। यूटरेक्ट की संधि में ब्रैंडेनबर्ग के शासक को प्रशा का राजा स्वीकार कर लिया गया और वह अपनी भावी महानता की ओर एक कदम और आगे बढ़ गया।

प्रशा के इसी राजपरिवार में एक ऐसा राजकुमार था जिसे तलवार से अधिक बांसुरी पसंद थी, जो शिकार खेलने की जगह जंगलों और खेतों में प्रकृति के लुभावने रहस्यों में खोया रहता था। इस राजकुमार फ्रेडरिक को कविता, संगीत और दर्शन से प्रेम था। जहां शासक के शिकार, कूटनीति और युद्ध जैसी चीजों से लगाव की परंपरा हो, वहां ऐसे राजकुमार को नालायक करार देना स्वाभाविक था। फ्रेडरिक फ्रेंच भाषा का प्रेमी था और फ्रांस के साहित्य में रमा रहता था। वह स्वयं कविता करता था और बांसुरी बजाता घंटों दीन दुनिया से दूर खोया रहता था। निराश बाप ने उसे जबरदस्ती अनुशासन में रखने की योजना बनाई। उसे घुड़सवारी सिखाई गई। शासन के विभिन्न पहलुओं की उसे शिक्षा दी गई। फ्रेडरिक में लगन तो थी ही। इधर मन लगा तो यहां भी हर क्षेत्र में पटु होता चला गया। लेकिन इस कठोर अनुशासन से वह त्रस्त था। एक ही सांत्वना थी। उसका शिक्षक काट्ट एक उदार व्यक्ति था और फ्रांसीसी विचारों को पढ़ने के लिए उसे प्रोत्साहित करता रहता था। फ्रेडरिक ने ऊब कर भाग जाना चाहा लेकिन पता चल गया और काट्ट को फांसी दे दी गई। फिर तो फ्रेडरिक अपने बाप से घृणा करता और उसी के द्वारा निर्धारित कार्यक्रम का पालन करता, घुटता रहा। 1740 में जब उसका पिता मरा और वह शासक बना तो कोई आश्वस्त नहीं था कि वह क्या करेगा लेकिन करीब आधा शताब्दी शासन करने के बाद जब वह मरा तो सीमा विस्तार के बाद प्रशा न केवल क्षेत्रफल में बल्कि शक्ति में भी बहुत बढ़ गया था। यूरोप की बड़ी शक्तियों में उसकी गणना होने लगी थी।

राजत्व का सिद्धांत : प्रबुद्ध शासकों में फ्रेडरिक का स्थान सर्वोच्च है। उसने अठारहवीं शताब्दी में हुए परिवर्तनों का अध्ययन किया था। विशेषकर फ्रांस के

लेखकों की वह प्रशंसा करता था। वोल्तेयर से उसका पत्रव्यवहार था और शासक होने के बाद वोल्तेयर उसके दरबार में अभिन्न मित्र की तरह कुछ दिन रहा भी। फ्रांस से वह इतना प्रभावित था कि जीवन भर अपनी मातृभाषा जर्मन से अधिक फ्रेंच को महत्व देता रहा। उसने अपने राजनीतिक विचार फ्रेंच भाषा में ही लिख डाले (एसे आन फार्म्स आफ गवर्नमेंट) उसके विचारों का सारांश यही था कि जो स्थान व्यक्ति के शरीर में मस्तिष्क का है, वही स्थान राष्ट्र में राजा का है। (द प्रिंस इज टु द नेशन ही गवर्न्स व्हाट द हेड इज टु द मैन)।

इस प्रकार राजा की सर्वोच्चता और प्रमुखता को उसने स्थापित किया लेकिन लूई चतुर्दश की तरह नहीं। वह उसकी तरह यह नहीं कहता था—L'etat c'est moi (मैं ही राज्य हूं)। वह कहता था Le souverain est le premier serviteur de l'etat' (शासक राज्य का प्रथम कर्मचारी होता है)। वह भी लूई की ही तरह निरंकुश बना रहा और उसने प्रजा को अपनी बात कहने का अधिकार नहीं दिया। लेकिन वह प्रजा के प्रति जिम्मेदार बना रहा। उसने भी कम युद्ध नहीं लड़े। लेकिन उसने देश को एकदम बरवाद नहीं किया। उसमें भी लूई से कम अहम नहीं था लेकिन वह उतना स्वार्थी और आत्मकेंद्रित नहीं था जितना लूई। राज्य के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में वह सारी-शक्ति लगा देता था। दिन-रात परिश्रम करता था। लूई की तरह भोग-विलास और प्रदर्शन में उसकी कोई रुचि नहीं थी। अपव्यय को वह अपराध मानता था। वह जोसेफ की तरह आदर्शवादी भी नहीं था। उसने सिद्धांतों को महत्व दिया लेकिन एक यथार्थवादी की तरह उसने प्रजा के हित के कार्य किए लेकिन वे ही जिन्हें उसने उचित समझा। उन्हें स्वयं अपनी बात कहने या प्रजातांत्रिक संस्थाएं बनाने का अधिकार कभी नहीं मिला। दूसरे वह अपने राज्य में सिद्धांतों की थोड़ी परवाह भी करता था लेकिन प्रशा की सीमाओं के विस्तार के लिए वह किसी भी सिद्धांत का परित्याग कर सकता था। इस प्रकार राजा को वह दैवी अधिकारों से संपन्न नहीं कहता था, लेकिन वह मानता था कि राज्य के ही हित के लिए उसे पूरी तरह निरंकुश होना चाहिए, राजा के अधिकारों या कर्तव्यों के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठा सकता था। यह राजा का कर्तव्य था कि वह राज्य के लिए, प्रजा के लिए कार्य करे लेकिन उसके कर्तव्यों का निर्धारणकर्ता भी वह स्वयं ही था। इसलिए उसका सिद्धांत इंग्लैंड के सांविधानिक राजतंत्र और फ्रांस के स्वेच्छाचारी राजतंत्र के बीच का प्रबुद्ध राजतंत्र था।

आंतरिक नीति : अपने शासन के प्रारंभ से ही फ्रेडरिक युद्धरत हो गया, लेकिन अन्य शासकों की तरह वह युद्ध के समय कृषि और उद्योग को भुला नहीं देता था। युद्धों ने उसके आर्थिक सुधारों को अवरुद्ध नहीं किया। सत्रहवीं शताब्दी से ही कृषि के क्षेत्र में भी पूंजीवादी प्रवृत्तियां बढ़ रही थीं। इंग्लैंड में भारी पैमाने पर

वैज्ञानिक ढंग से खेती हो रही थी जिससे व्यावसायिक लाभ होता था। फ्रेडरिक ने भी इस पद्धति को प्रशा में शुरू किया। दलदल सुखाए गए और किसानों, जमींदारों को वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। पहली बार आलू की खेती बड़े पैमाने पर शुरू हुई और आज भी आलू जर्मन लोगों का मुख्य भोजन है। फलों के वृक्ष लगाए गए। पशुपालन को बढ़ावा दिया गया। उसने अर्धदास जैसे किसानों को मुक्त नहीं किया लेकिन उनकी स्थिति में सुधार हुआ। करों को बोझ कम हुआ। सड़कों और नहरों के कारण गांवों की दशा सुधरी। नए गांव बसाए गए। धार्मिक असहिष्णुता के कारण जहां यूरोप के अन्य देशों से लोग भाग रहे थे फ्रेडरिक ने उनका स्वागत किया। कर वसूली और कर इकट्ठा करने वाले कर्मचारियों पर वह स्वयं नजर रखता था। कर्मचारी सजा से ज्यादा उसकी चुटीली बातों से डरते थे। वह स्वयं एक एक पैसे का हिसाब रखता था चाहे उसका खर्चा हो या राज्य का, इसलिए दूसरे भी अपव्यय करते डरते थे। इसीलिए नियुक्तियां करते समय वह विशेष ध्यान देता था। मध्यवर्ग को एक वर्ग की तरह वह पसंद नहीं करता था लेकिन योग्यता को किसी जाति, धर्म या कुलीनता से जोड़ने का वह पक्षपाती नहीं था।

सामान्यतया वह कोल्वेर की रक्षात्मक नीति का समर्थक था। लेकिन कोल्वेर की तरह मध्यवर्गीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देना चाहता था। इसलिए उसकी आर्थिक नीति को कार्यान्वित करने वाले लोग उससे आवश्यक लगाव नहीं महसूस करते थे। वह देश की आत्मनिर्भरता को आवश्यक समझता था। इसीलिए आयात नियंत्रित था। बाहर से जाने वाली चीजों में सबसे अधिक स्वागत कारीगरों का ही होता था। प्रशा में शहतूत के पेड़ भारी संख्या में बाहर से लाकर लगाए गए ताकि रेशम का उद्योग बढ़े। लिनेन का उद्योग भी इसी समय बढ़ा। चीनी मिट्टी के बर्तनों के निर्माताओं को भी प्रोत्साहित किया गया। अपने देश की सैनिक परंपराओं को आगे बढ़ाकर अपनी आक्रामक वैदेशिक नीति के लिए भी वह तैयारी करता रहा था। उसने दो लाख की सेना तैयार की जिसकी परेड तक का वह स्वयं निरीक्षण करता था। सैनिकों और सैनिक अफसरों की नियुक्ति, ट्रेनिंग और रखरखाव पर वह विशेष ध्यान देता था। अच्छे और आधुनिक हथियार इस्तेमाल होते थे। अनुशासन की घुट्टी तो उसके पिता ने ही उसे पिलाई थी। नतीजा यह निकला कि प्रशा की सेना वास्तव में यूरोप में सर्वश्रेष्ठ सेना कही जाने लगी।

उसके प्रजाप्रेम का उदाहरण न्याय विषयक उसकी तत्परता से प्रकट होता है। वह कानून को बहुत महत्व देता था और कहा करता था कि 'न्याय में कानून को ही मुखर होना चाहिए।' इसीलिए उसने कानून को सरल बनवाया और उन्हें संकलित करवाया ताकि उस विषय में कम से कम विवाद हो। शारीरिक उत्पीड़न

को उसने बंद करवा दिया। न्याय करने में वह जहांगीरी ढंग से रुचि लेता था और यदि उसे पता चल जाए कि किसी के साथ न्याय नहीं हुआ है तो वह उल्टे न्यायाधीश को ही दंड देता था। इस प्रकार कानून को महत्व देकर भी न्याय के क्षेत्र में भी वह अपनी सर्वोच्चता बनाए रखता था। यही कारण है कि अपेक्षतया स्थिति सुधरी लेकिन बहुत सारी कमजोरियां बाकी रह गईं।

प्रबुद्धता का एक मानदंड होता है सहिष्णुता। उसके विचार इस संबंध में बिल्कुल स्पष्ट थे। वह जर्मनी में हुए धार्मिक युद्धों के इतिहास से परिचित था। इसलिए वह प्रजा के बहुमत में प्रोटेस्टेंट होने पर भी प्रोटेस्टेंट चर्च के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं रखता था। उसके विचार से स्वर्ग जाने के रास्ते अलग-अलग हैं। जो जिस रास्ते से चाहे जाए। कट्टर कैथोलिक जेसूट लोगों को भी उसके राज्य में छूट थी। वह तो यहां तक कहता था कि 'यदि उसके देश में तुर्क लोग आ बसें तो मैं मस्जिदें बनवाने के लिए तैयार हूं।' ऐसा विचार रखने पर भी वह यूरोप की यहूदी विरोधी प्रवृत्ति पर विजय नहीं पा सका और उनका विरोध करता रहा। जर्मनी की इसी यहूदी विरोधी प्रवृत्ति का चरमोत्कर्ष था हिटलर, जिसने इतिहास का सबसे जघन्य अपराध करके साठ सत्तर लाख यहूदियों की हत्या करवा दी थी।

सांस्कृतिक विषयों में उसकी सहज रुचि थी। राजा बन जाने के बाद उसे समय नहीं मिलता था, फिर भी यथासंभव वह इस क्षेत्र में सचेष्ट रहता था। उसके अनुरोध पर ही वोल्तेयर उसके दरबार में मित्र की तरह रहने लगा था। लेकिन बाद में दोनों व्यक्तियों में खटपट हो गई क्योंकि दोनों स्वाभिमानी और एक हद तक अक्खड़ थे। जब आपस में प्रतिद्वंद्विता की बात आई तो वोल्तेयर को जाना पड़ा। राजकीय पत्रकों पर भी वह साहित्यिक और विनोदी टिप्पणियां लिख दिया करता था। खाने की मेज पर राजनीति से अधिक साहित्य की चर्चा करना पसंद करता था। राजधानी बर्लिन में अकादमियां स्थापित हुईं और लेखकों, कलाकारों को संरक्षण दिया जाने लगा। स्कूलों में बिना किसी भेदभाव के सबको सुविधा मिलने लगी। विज्ञान में भी उसकी विशेष रुचि थी इसलिए ऐसी परंपराएं डाली गईं जिनका विकास होने पर दुनिया के सबसे वैज्ञानिक देशों में जर्मनी गिना जाने लगा।

इस क्षेत्र में सबसे बड़ी दुखद बात यह थी कि उसे अपनी भाषा जर्मन से कोई प्यार नहीं था। जर्मन एक उन्नत भाषा थी और उसमें गेटे जैसा साहित्यकार, जिसे जर्मन का शेक्सपीयर कहते हैं, मौजूद था। लेकिन फ्रेडरिक गेटे का फ्रेंच अनुवाद तक पढ़ने के लिए नहीं तैयार था। फ्रांस जिससे उसने भयानक युद्ध भी लड़े, उसकी भाषा के प्रति मोह उसकी सांस्कृतिक गुलामी का प्रतीक था। उसकी मानसिकता की तुलना आज के बहुत से भारतीयों से की जा सकती है जो

अंगरेजों को हिंदुस्तान का दुश्मन तो बताते हैं लेकिन समाज में अपनी विशिष्टता जताने के लिए सही गलत अंगरेजी में बोलते हैं। फ्रेडरिक के समय तक फ्रेंच संभ्रांत लोगों की भाषा बन चुकी थी। सारे यूरोप में उसका सम्मान था। फ्रेडरिक जर्मनी की सांस्कृतिक परंपराओं से प्रभावित नहीं था। अपने को प्रबुद्ध प्रचारित करवाने के लिए उसने फ्रेंच से विशेष प्रेम बनाए रखा क्योंकि प्रबुद्धता से संबंधित अधिकांश साहित्य फ्रेंच में ही लिखा गया था। किसी भाषा का सम्मान करना एक बात है और उसके मुकाबले में अपनी मातृभाषा से घृणा करना दूसरी। इसके लिए उसके देश के साहित्यकारों ने उसे कभी माफ नहीं किया होगा।

वैदेशिक नीति : शासक होते ही फ्रेडरिक ने हमलावर होने का परिचय दे दिया, उसके देश की सेना संगठित थी ही। आर्थिक स्थिति बुरी नहीं थी और फ्रेडरिक एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। प्रशा की सीमाओं का विस्तार करना उसका लक्ष्य था उसे तुरंत अवसर भी मिल गया।

आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध : भारतवर्ष में सुल्तान इल्तुतमिश ने अपने अयोग्य पुत्रों के कारण अपनी पुत्री रजिया को सुल्तान बनाना चाहा था। पवित्र रोमन साम्राज्य के सम्राट चार्ल्स षष्ठ के न कोई पुत्र था न भाई। दो कमरों का मकान होने पर भी व्यक्ति चिंतित रहता है कि उसके मरने के बाद वह किसे मिलेगा। ऐसी स्थिति में चार्ल्स की चिंता स्वाभाविक थी कि उसके मरने के बाद उसका साम्राज्य उसकी पुत्री मारिया थेरेसा को मिले। वह जानता था कि उसकी पुत्री को उत्तराधिकारी नहीं माना जाएगा और उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाएगा। इस लिए वह जीते जी एक ऐसी व्यवस्था कर लेना चाहता था जिससे बाद में कठिनाई न हो। उसने इसीलिए उत्तराधिकार के कानून में संशोधन किया और एक घोषणा की (प्रैगमेटिक सैंकशन) जिसके द्वारा वह यूरोप के अन्य शासकों और साम्राज्य में स्थित राज्यों से आश्वासन चाहता था कि राज्य उसकी पुत्री को ही मिलेगा। धीरे धीरे अधिकांश राज्यों ने उसकी बात मान ली और वह एक प्रकार से निश्चित हो गया कि उसके बाद मारिया को ही उसका राज्य मिल जाएगा। उसे यह भी विश्वास हो गया था कि मारिया के पति फ्रांसिस को सम्राट चुन लिया जाएगा। लेकिन मरते ही स्थिति बदल गई। मारिया को इंग्लैंड, नीदरलैंड्स, रूस, प्रशा और पोप ने मान्यता दे दी। फ्रांस और स्पेन ने देर की। आस्ट्रिया की सेना संगठित नहीं थी, आर्थिक स्थिति डांवाडोल थी। मारिया को शासन का अनुभव नहीं था। इस स्थिति में यह लगने लगा कि वह आसानी से शासक नहीं बन पाएगी। फ्रांस जिसकी आस्ट्रिया से पुश्तैनी दुश्मनी थी, इस घात में था कि कोई दूसरा चुनौती दे तो वह भी साथ दे दे। फ्रेडरिक कुछ ही महीने पहले सिंहासन पर बैठा था। प्रशा की समृद्धि के लिए साइलेशिया का प्रदेश बहुत महत्वपूर्ण हो सकता था। उसकी सेना और आर्थिक स्थिति अपेक्षातया बहुत ठीक

थी। महत्वाकांक्षी फ्रेडरिक ने देर करना मुनासिब नहीं समझा। बहाना ढूंढ़ लेना मुश्किल नहीं था। लेकिन आज इतिहासकार को इतिहास में ऐसे कम उदाहरण मिलते हैं जब अकारण, बिना कोई औचित्य बताए, कोई इस तरह दूसरे पर हमला कर दे जिस प्रकार फ्रेडरिक ने कर दिया था।

फ्रेडरिक की सेनाओं को साइलेशिया प्रदेश जीतने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पहल करने की देर थी। फौरन जर्मनी के कुछ राज्यों जैसे सैक्सनी, बवेरिया तथा स्पेन और फ्रांस ने भी आस्ट्रिया पर हमला बोल दिया। फ्रांस और प्रशा में संधि हो गई। फ्रांस ने दक्षिणी साइलेशिया पर प्रशा का अधिकार मानने और सम्राट के पद के लिए बवेरिया के एलेक्टर चार्ल्स अलबर्ट का समर्थन का आश्वासन दिया। फ्रांस ने स्वीडन को भी युद्ध में घसीटने का वायदा किया।

युद्ध का विस्तार हो गया और बेचारी मारिया हर तरफ से आक्रामकों से घिर गई। इसी बीच चार्ल्स एलबर्ट सम्राट चुन लिया गया। युद्ध कभी एक के, कभी दूसरे के पक्ष में जाने लगा। फ्रांस और इंग्लैंड की पुरानी दुश्मनी का परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड भी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़ा। यहीं से युद्ध विश्वव्यापी हो गया। इंग्लैंड और फ्रांस के प्रतिनिधि जहां भी थे, लड़ने लगे। इधर प्रशा और आस्ट्रिया में समझौता हो गया। मारिया ने साइलेशिया और ग्लात्स पर प्रशा का कब्जा मान लिया। लेकिन फ्रांस और इंग्लैंड की लड़ाई जोर पकड रही थी। मारिया ने अपमान का घूंट पी लिया था लेकिन वह साइलेशिया फिर वापस चाहती थी और चार्ल्स को सम्राट के पद से हटाना चाहती थी। वह स्वयं कम महत्वाकांक्षी नहीं थी। उसकी नजर फ्रांस के लोरेन प्रदेश पर थी। फ्रेडरिक ने फ्रांस से फिर समझौता किया और एक बार फिर साइलेशिया में युद्ध शुरू हो गया। इसी बीच सम्राट की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी सम्राट बनने का इच्छुक नहीं था। मारिया ने जर्मनी के अन्य शासकों से संबंध सुधारे और उसका पति सम्राट चुन लिया गया। फ्रेडरिक थोड़ा अकेला पड़ने लगा था। पर वह बराबर युद्ध करता रहा। अंत में 'ड्रेसडेन' की संधि द्वारा आस्ट्रिया ने साइलेशिया पर प्रशा का अधिकार मान लिया और फ्रेडरिक ने मारिया के पति को मान्यता दे दी।

प्रमुख प्रतिद्वंद्वियों में समझौता हो गया था लेकिन उनके समर्थक अपने अपने हित में बराबर लड़ रहे थे। अंत में आठ वर्षों के युद्ध के बाद सब समझौते के लिए तैयार हुए और ऐक्स ला शापेल की संधि हो गई। इसके अनुसार थोड़े से संशोधन के बाद साम्राज्य पर मारिया का अधिकार (प्रैग्मेटिक सैंक्शन) मान लिया गया। साइलेशिया प्रशा को मिल गया। सबने एक दूसरे के जीते हुए प्रदेश लौटा दिए। भारतवर्ष में फ्रांसीसियों ने अंगरेजों से मद्रास जीत लिया था। वह वापस अंगरेजों

को मिल गया। बदले में लूइसबर्ग फ्रांस को मिल गया। फ्रांसिस को सबने सम्राट मान लिया।

इस संधि ने ऊपर से सब ठीक कर दिया था लेकिन आधारभूत प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला था। संघर्ष तो इस बात का था कि जर्मन क्षेत्र में प्रशा को महत्वपूर्ण स्थान मिलेगा या आस्ट्रिया की प्राथमिकता बनी रहेगी। उपनिवेशों के क्षेत्र में भी इंग्लैंड और फ्रांस की प्रतिद्वंद्विता का कोई हल नहीं निकला था। इस लिए संघर्ष की संभावना बराबर बनी हुई थी। इस संधि से इतना हो गया कि मारिया और उसके पति के सम्मान और सुरक्षा की गारंटी हो गई। फ्रेडरिक ने अपनी धाक जमा ली। लेकिन सबसे अधिक नुकसान फ्रांस का हुआ। पतनोन्मुख फ्रांस ने अपने को बर्बाद कर लिया। लूई चतुर्दश के अंतिम दिनों में जो ह्रास शुरू हुआ था वह बढ़ता ही गया।

कूटनीतिक क्रांति : आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध में प्रतिद्वंद्विता का एक परंपरागत पैटर्न था। आस्ट्रिया और प्रशा की दुश्मनी शुरू हुई। फ्रांस और आस्ट्रिया की दुश्मनी भी पुरानी थी। 'दुश्मन का दुश्मन दोस्त होता है। इसलिए फ्रांस ने अपने दुश्मन आस्ट्रिया के दुश्मन की मदद की। इसी पैटर्न पर इंग्लैंड ने अपने दुश्मन फ्रांस के दुश्मन प्रशा आस्ट्रिया की मदद की। इस प्रकार जो गुट संघर्षरत थे उनमें एक तरफ का रूढ़िवादी फार्मूला संबंधों का आधार बन गया था। वास्तविक लाभ की दृष्टि से यह ठीक नहीं था। इसलिए ऐक्स ला शापेल की संधि के बाद हर देश में संदेह उठने लगा। सभी संबंधों को नए परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश करने लगे।

आस्ट्रिया में मारिया ने प्रशासन को व्यवस्थित किया और वह भविष्य की तैयारी में जुट गई। उसने भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की तत्कालीन स्थिति को समझने की कोशिश की। उसके अधिकांश सलाहकार परंपरागत संबंधों को बनाए रखना चाहते थे। लेकिन प्रसिद्ध आस्ट्रियन राजनीतिज्ञ कोनित्स ने एक नया प्रस्ताव रखा कि आस्ट्रिया और फ्रांस अपनी पुरानी दुश्मनी भूलकर मित्र हो जाएं क्योंकि आस्ट्रिया का प्रमुख दुश्मन फ्रांस नहीं प्रशा था, और फ्रांस के अतिरिक्त कोई अन्य विश्वसनीय मित्र नहीं हो सकता था। इंग्लैंड आस्ट्रिया की मित्रता के प्रति शिथिल पड़ रहा था क्योंकि इंग्लैंड के प्रमुख हित औपनिवेशिक थे और उस संदर्भ में आस्ट्रिया से कोई खास मदद नहीं मिल पा रही थी।

फ्रेडरिक मनोवैज्ञानिक और अपनी पारिवारिक परिस्थितियों के कारण नारियों के प्रति सम्मानपूर्वक भावना नहीं रखता था। उसके पिता ने जबरदस्ती उसका विवाह एक मूर्ख और बदसूरत राजकुमारी से करा दिया था जिस कारण फ्रेडरिक का संवेदनशील हृदय हमेशा नारियों से खिन्न रहता था। उसकी कविताएं मारिया थेरेसा पर तो प्रहार करती ही थीं, रूस की जारीना और फ्रांस की

महारानी पर भी व्यंग्य करती थीं। कोनित्स इस बात को जानता था कि ये महिलाएं फ्रेडरिक से अप्रसन्न हैं। कोनित्स वर्साई में आस्ट्रिया का राजदूत था तो उसने फ्रांस के राजा पर अत्यधिक प्रभाव रखने वाली पांपादूर को अपने पक्ष में लेना शुरू किया। मारिया उसके प्रभाव में थी ही। इस बीच फ्रेडरिक ने भी अपने ढंग से परिस्थितियों को समझा था। उसके विश्लेषण के अनुसार इस समय इंग्लैंड से मित्रता करना आवश्यक था। इंग्लैंड आस्ट्रिया की ओर से शिथिल पड़ ही चुका था। अब वह संधि के लिए तैयार हो गया और इंग्लैंड और प्रशा में वेस्टमिंस्टर की संधि हो गई जिसके द्वारा जर्मनी में विदेशी सेनाओं के प्रवेश को रोकने और आत्मरक्षा संबंधी गारंटी देने का निश्चय हुआ। मारिया इससे बहुत नाराज हुई। फ्रांस और प्रशा की संधि की अवधि समाप्त हो गई थी और प्रशा फ्रांस के दुश्मन इंग्लैंड का मित्र हो चुका था। अब फ्रांस और आस्ट्रिया के संबंध सुधर सकते थे। कोनित्स के सतत प्रयासों का परिणाम निकला। 1956 में ही वर्साई की संधि हो गई। फ्रांस ने आस्ट्रिया पर हमला होने पर मदद का और स्वयं आस्ट्रिया पर हमला न करने का वादा किया। इंग्लैंड और फ्रांस के युद्ध में आस्ट्रिया ने तटस्थ रहने का वादा किया। कुछ दिनों बाद रूस की जारीना भी इस संधि में शामिल हो गई। कोनित्स ने इस संधि को सुदृढ़ करने के लिए परंपरागत रूप से दुश्मन दो राजपरिवारों को वैवाहिक बंधन में बांधने की योजना बनाई। यहां भी उसे सफलता मिली। आस्ट्रिया की राजकुमारी मारी आंतुआनेत का विवाह फ्रांस के राजकुमार लूई से संपन्न हो गया। यह विवाह भी फ्रांस के लिए घातक सिद्ध हुआ और अंततोगत्वा दोनों देशों को स्थाई रूप से मित्र न बना सका।

फिलहाल यूरोप के कूटनीतिक संबंधों का नक्शा ही बदल गया था। इसीलिए इसे कूटनीतिक क्रांति (डिप्लोमेटिक रिवोल्यूशन) कहते हैं। गुटों का जो नया रूप सामने आया वह आस्ट्रिया और फ्रांस के हित में नहीं लगता था। बहरहाल युद्ध तो होना ही था क्योंकि शक्ति परीक्षा की घड़ी आ गई थी और यूरोप में नेतृत्व का प्रश्न ज्वलंत हो गया था। अंत में 1756 में सप्तवर्षीय युद्ध शुरू हुआ जिसने सारे विश्व को प्रभावित किया।

सप्तवर्षीय युद्ध : युद्ध के दो ही प्रमुख कारण थे, साइलेशिया को लेकर मध्य यूरोप में सर्वप्रमुखता का प्रश्न, दूसरे उपनिवेशों को लेकर सामुद्रिक शक्ति के क्षेत्र में सर्वोच्चता का प्रश्न। एक संघर्ष मुख्य रूप से प्रशा और आस्ट्रिया के बीच मध्य यूरोप में हुआ। दूसरा युद्ध अमरीका से भारतवर्ष तक इंग्लैंड और फ्रांस के प्रतिनिधियों के बीच लड़ा गया। युद्ध का एक पक्ष स्थल सेना से संबंधित था दूसरा नौसेना से। सात वर्षों तक चलने वाले युद्ध में पलड़ा कभी एक तरफ भारी रहा कभी दूसरी ओर।

युद्ध यूरोप में : हमेशा की तरह फ्रेडरिक ने पहल की और फुर्ती से आस्ट्रिया के

मित्रों पर हमला कर दिया। सैक्सनी और आस्ट्रिया की सेनाओं को परास्त करता वह ड्रेसडेन तक पहुंच गया। फिर उसने प्राग पर घेरा डाल दिया लेकिन उसका उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। पहली बार वह हार गया और उसे घेरा उठा लेना पड़ा। लेकिन आस्ट्रिया इस जीत का पूरा लाभ नहीं उठा सका। इसी बीच आस्ट्रिया के मित्र फ्रांस ने भी कई महत्वपूर्ण विजय हासिल कीं और हैनोवर पर उसका कब्जा हो गया। रूस ने भी प्रशा को पराजित किया। इस तरह फ्रेडरिक के दुश्मनों की तीन तरफ से विजय होती गई लेकिन कुशल नेतृत्व के अभाव में विजय को अंतिम रूप नहीं दिया जा सका।

साल भर के अंदर ही पासा पलटने लगा। फ्रेडरिक ने जान लड़ा कर तैयारी की और रासबाख में फ्रांस की करारी पराजय हुई। यह पराजय इतनी ऐति-हासिक सिद्ध हुई कि फ्रांस संभल नहीं सका। कहा जाता है कि यहीं से क्रांति की पृष्ठभूमि बनने लगी। फ्रांस को राइन नदी के पश्चिम में ढकेल दिया गया। फौरन आस्ट्रिया भी पराजित हुआ और इसे साइलेशिया से पीछे हटना पड़ा। फ्रांस को हैनोवर भी छोड़ना पड़ा। साल भर बाद रूस की सेना भी पराजित हुई और इस तरह फ्रेडरिक ने अपने तीनों प्रमुख प्रतिद्वंद्वियों से बदला ले लिया।

फ्रेडरिक को इंग्लैंड से आर्थिक सहायता मिल रही थी। फ्रांस में लगातार नई योजनाएं बन रही थीं लेकिन कार्यान्वित नहीं हो पा रही थीं। कठिन परिस्थिति में बूर्बों वंश के ही अधीन स्पेन से 'पारिवारिक समझौता' (फेमिली कम्पैक्ट) एक बार फिर हुआ। इंग्लैंड के प्रधानमंत्री पिट को पूर्वाभास हो गया और उसने फौरन स्पेन पर हमला करना चाहा लेकिन शासक जार्ज तृतीय ने सलाह नहीं मानी और पिट का कुछ दिनों के लिए पतन हो गया। जार्ज उल्टी-सीधी नीतियों के लिए कुख्यात है। उसने प्रशा से संबंध तोड़ लिए और प्रशा की मदद करनी बंद कर दी। अब फ्रेडरिक की स्थिति डांवाडोल होने लगी। लेकिन उसके भाग्य से रूस की जारीना की, जो उससे घृणा करती थी, मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी ने फ्रेडरिक से मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित कर लिए। इस प्रकार प्रशा की पूर्वी सीमा सुरक्षित हो गई। अब फ्रेडरिक अंतिम रूप से साइलेशिया पर अधिकार करने में लग गया। जब उसने मिलीजुली सेनाओं से लोहा लिया था और अकेले पड़ जाने पर भी धैर्य नहीं खोया था तो अब तो केवल आस्ट्रिया से निबटना था। उद्देश्य पूरा करने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उसकी सफलता के कई कारण थे। व्यक्तिगत क्षमता में इंग्लैंड के पिट के अतिरिक्त पूरे यूरोप में उसका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था और पिट उसके पक्ष में हो गया था। उसकी तरह कोई श्रम भी नहीं करता था। उसके देश की स्थिति, विशेषकर यातायात, अपेक्षतया बेहतर थी। उसकी नीतियों का संचालन उसके व्यक्तिगत नेतृत्व में होता था। उसके विरोधी सहयोग नहीं कर पाते थे। रूस

पूरब से पूरी तरह प्रशा पर दवाव नहीं डाल सका। इंग्लैंड की सहायता भी उसके लिए निर्णायक सिद्ध हुई। इस प्रकार परिस्थितियों और उसकी व्यक्तिगत योग्यता ने मिलकर उसे सफल बनाया।

औपनिवेशिक युद्ध : यूरोप की तरह इंग्लैंड और फ्रांस के उपनिवेशों में भी प्रतिद्वंद्वी प्रतिनिधियों ने युद्ध छेड़ दिया। पहले फ्रांस का ही पलड़ा भारी पड़ा। उसने मिनोरका पर कब्जा कर लिया। भारत में डूप्ले की दूरदर्शी नीति के कारण फ्रांसीसी प्रभाव बढ़ चला था। लेकिन क्लाइव ने व्यक्तिगत बहादुरी, कूटनीति, छल और दूरदर्शिता से काम लिया और प्लासी की ऐतिहासिक लड़ाई में अंगरेजों की निर्णायक विजय हुई। अंगरेज और फ्रांसीसी मद्रास और बंगाल में भारतीय शासकों की मदद करने के बहाने अपनी शतरंज खेलते रहे। 1760 में वांडेवाश की लड़ाई में फ्रांसीसी सेना बुरी तरह हारी और अंगरेज हमेशा के लिए भारत में सबसे शक्तिशाली यूरोपीय बन गए।

फ्रांस ने इंग्लैंड पर हमला करने की योजना बनाई। लेकिन जैसे फिलिप द्वितीय असफल हुआ था इस बार भी हमला नहीं हो सका। इंग्लैंड की नौसेना ने फ्रांस की भूमध्यसागर और अटलांटिक तटों की नौसेनाओं को बारी बारी से परास्त कर दिया। अंगरेजों ने कनाडा में भी फ्रांसीसियों को पराजित किया। वेस्ट-इंडीज के टापू छीन लिए गए। फ्रांस के सहयोगी स्पेन से एशिया में फिलीपीन्स और अमरीका में क्यूबा स्थित गढ़ क्रमशः मनीला और हवाना भी छीन लिए गए।

फ्रांस के विरुद्ध इंग्लैंड की सफलता के कई कारण थे। औपनिवेशिक युद्ध में सफलता के लिए शक्तिशाली नौसेना की भूमिका निर्णायक थी। इस क्षेत्र में इंग्लैंड की प्रमुखता निर्विवाद थी। यद्यपि इंग्लैंड का राजा जार्ज तृतीय झक्की था, उसका प्रधानमंत्री पिट बहुत योग्य और दूरदर्शी था। दूसरी ओर फ्रांस पतनोन्मुख था और शासक लूई पंचदश कमजोर तथा भ्रष्ट था। राजधानी में षड्यंत्र का वातावरण रहता था। इंग्लैंड के उपनिवेशों में नेतृत्व की दृढ़ता और एकरूपता भी निर्णायक साबित हुई। उदाहरण के लिए भारत को देखें। भारत में फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले पहला व्यक्ति था जिसने उपनिवेशों की कल्पना की और इसमें भारतीय शासकों को मोहरा बनाने की नीति अपनाई। लेकिन उसकी सरकार की ढुलमुल नीति ने उसे कहीं का नहीं छोड़ा। दूसरी ओर क्लाइव को राज्य का पूरा समर्थन मिला और उसने स्थिति अपने पक्ष में कर ली। अंत में युद्ध में निर्णायक बात होती है आर्थिक समृद्धि और स्थायित्व इस दिशा में इंग्लैंड फ्रांस से हर तरह बेहतर था।

पेरिस की संधि : सप्त वर्षीय युद्ध में इंग्लैंड और उसके मित्र प्रशा की निर्णायक जीत हुई थी। यह भी तय हो चुका था कि संघर्ष की शुरुआत भले ही जर्मनी में

आस्ट्रिया और प्रशा की प्रतिद्वंद्विता से हुई हो, वास्तविक प्रतिद्वंद्विता फ्रांस और इंग्लैंड में थी।

संधि की शर्तों के अनुसार भारतवर्ष में कुछ व्यापार केंद्र, जैसे पांडिचेरी को छोड़कर सारे फ्रांसीसी क्षेत्र, अंगरेजों को मिल गए। अमरीका में मिसिसिपी नदी के पूरव के सारे क्षेत्र, न्यू ओरलियंस को छोड़कर इंग्लैंड को मिल गए। वेस्टइंडीज के कई टापू इंग्लैंड को प्राप्त हुए। अफ्रीका में सेनेगल भी इंग्लैंड को मिल गया। मिनोरका इंग्लैंड को, वेल्ल द्वीप फ्रांस को वापस कर दिए गए। डन्कर्क इंग्लैंड पर हमला करने के लिए फ्रांस का एक महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। वहां की किलेवंदी समाप्त करने का निर्णय हुआ। इंग्लैंड और फ्रांस दोनों ही युद्ध से हट गए।

हवाना और मनीला स्पेन को वापस कर दिए गए। बदले में इंग्लैंड को अमरीका में फ्लोरिडा का प्रायद्वीप मिल गया। इस प्रकार अमरीका के पूर्वी किनारे पर इंग्लैंड का प्रभुत्व सर्वोपरि हो गया। स्पेन और फ्रांस ने इंग्लैंड के मित्र पुर्तगाल से अपनी सेनाएं हटा लेने का वायदा किया। सैंट लारेंस की खाड़ी में स्पेन ने अपना मछली मारने का अधिकार छोड़ दिया।

ह्यूबर्टसंबर्ग की संधि : पेरिस की संधि के समानांतर यूरोप में प्रशा और आस्ट्रिया के संघर्षों का समाधान करने के लिए एक और संधि हुई। साइलेशिया और ग्लात्स पर प्रशा का अधिकार मान लिया गया। इस प्रकार प्रशा का इस युद्ध से कोई नुकसान नहीं हुआ। फ्रेडरिक ने मारिया के पुत्र जोजेफ को सम्राट बनवाने में मदद का वायदा किया।

सप्तवर्षीय युद्ध का परिणाम : यूरोप के मध्य में पवित्र रोमन साम्राज्य की प्रभुसत्ता थी। आस्ट्रिया के ही शासक प्रायः सम्राट होते थे। इसलिए जर्मन क्षेत्र में स्थित सैकड़ों राज्यों में आस्ट्रिया की तूती बोलती थी। प्रशा की बढ़ती शक्ति ने एक चुनौती खड़ी कर दी थी जिसे आस्ट्रिया दबा नहीं सका। सप्तवर्षीय युद्ध के बाद यह तय हो गया कि जर्मनी में प्रशा आस्ट्रिया का प्रतिद्वंद्वी है। अंत में प्रशा की ही जीत हुई क्योंकि जर्मनी में राज्यों का एकीकरण उसी के नेतृत्व में संपन्न हुआ। फ्रेडरिक और उसके देश को इस युद्ध से आशातीत सम्मान मिला।

इस युद्ध में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के कारण रूस का भी प्रभाव बढ़ने लगा लेकिन सबसे अधिक क्षति फ्रांस की हुई। पहले ही लूई चतुर्दश के चार युद्धों ने फ्रांस को खोखला कर दिया था लेकिन फ्रांस ने युद्धों की नीति नहीं छोड़ी। उसे युद्धों से सम्मान भी नहीं मिला और आर्थिक रूप से फ्रांस जर्जर हो गया। औपनिवेशिक युद्धों में हुई पराजय ने फ्रांस के बाजार कम कर दिए और उसका महत्व घटने लगा। सबसे अधिक लाभ इंग्लैंड को हुआ। यह निर्विवाद रूप से

स्पष्ट हो गया कि इंग्लैंड का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं बचा है। इस युद्ध के बाद इंग्लैंड की औपनिवेशिक नीति आक्रामक होती चली गई और अमरीका से भारत तक उसके बाजार और उपनिवेश बढ़ते चले गए। उन्नीसवीं शताब्दी शुरू होते होते इंग्लैंड के उपनिवेश दुनिया में सबसे विस्तृत हो गए।

पोलैंड का विभाजन : प्रशा के पश्चिम में स्थित पोलैंड एक बड़ा किंतु असंगठित देश था। उसकी कोई प्राकृतिक सीमा नहीं थी और वही अराजकता बढ़ती जा रही थी। उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि वह तीन महत्वाकांक्षी पड़ोसियों से घिरा हुआ था। फ्रेडरिक, मारिया और रूस की जारीना कैथरिन पोलैंड की कमजोरी से फायदा उठाना चाहते थे। 1772 में इन तीनों ने अपने पहले के कटु संबंध भुलाकर अकारण पोलैंड का आपस में विभाजन कर डाला। फ्रेडरिक को इस विभाजन से पश्चिम पोलैंड का क्षेत्र मिला और प्रशा की सीमाएं पूरब में रूस के करीब पहुंच गई। इस विभाजन ने एक सिलसिला शुरू किया जो फ्रेडरिक के बाद तक चलता रहा।

फ्रेडरिक का मूल्यांकन : यह सत्य है कि फ्रेडरिक दुनिया के कुछ सबसे प्रसिद्ध शासकों में से है। उसने अपने देश में जो सुधार किए उसकी प्रशंसा तो अधिकांश इतिहासकार करते हैं, लेकिन जर्मन इतिहासकार तो उसके हर कार्य की प्रशंसा करते नहीं अघाते। ट्राइट्श्के एक राष्ट्रभक्त इतिहासकार है। वह पोलैंड के विभाजन का भी समर्थन करता है। उसका तर्क है कि इससे रूस का पश्चिम में विस्तार रुक गया। आश्चर्य होता है कि रान्के जैसा निष्पक्ष और तटस्थ इतिहासकार भी फ्रेडरिक की भूरि भूरि प्रशंसा करता है और साइलेशिया पर किए अधिकार को उचित ठहराता है। इस अतिरंजित प्रशंसा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जर्मनी में एक राष्ट्रीय शक्ति विकसित करने के कारण जर्मन लोगों ने उसे बहुत सम्मान दिया है। वास्तविकता यह है कि जर्मन भाषा बोलने वाले करोड़ों लोग बहुत से छोटे बड़े राज्यों में बंटे हुए थे। इन्हें एक सूत्र में बांधना मुश्किल था, क्योंकि इनके शासक अपने स्वार्थों का हनन स्वीकार नहीं करते थे। पवित्र रोमन साम्राज्य में उन पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व थोपा जाता था। फ्रेडरिक ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने यह सिद्ध कर दिया कि जर्मनी में आस्ट्रिया का एकाधिकार नहीं चल सकता। जर्मनी में आस्ट्रिया और प्रशा दो प्रतिद्वंद्वी देश हैं और उनमें भी प्रशा की शक्ति नगण्य नहीं है।

उसके कुछ सुधार स्थाई हुए। जर्मनी को प्रकृति ने समृद्ध बनाया है। प्रशा की कृषि और उद्योग अन्य देशों के मुकाबले में ठीक स्थिति में थे। यही कारण था कि उसके इतने युद्धों के बाद भी प्रशा जर्जर नहीं हुआ। उसकी सहिष्णुता की नीति भी प्रशंसनीय थी लेकिन यहूदियों के प्रति उसका व्यवहार उसके संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक था। उसकी सारी संवेदनशीलता, साहित्य और दर्शन

से प्रेम तथा विज्ञान में रुचि उसे एक यथार्थवादी और महत्वाकांक्षी राजनेता की स्थिति से ऊपर नहीं उठा सके। वह लगातार निरंकुश बना रहा। जर्मनी ने हर क्षेत्र में प्रशंसनीय प्रगति की है। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के पहले यह कहा जाता था कि जर्मन लोग राजनीति नहीं जानते क्योंकि वे बराबर आक्रामक रुख अख्तियार करते हैं और अंततोगत्वा अपने ही देश का नुकसान कर बैठते हैं। यह आलोचना बहुत हद तक ठीक है, क्योंकि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में लगातार जर्मनी की उत्कट राष्ट्रीयता को बढ़ावा दिया गया था। हिटलर इन्हीं नीतियों की परिणति था। फ्रेडरिक ने भी देश में कट्टर निरंकुशता स्थापित करके लोगों की राजनीतिक चेतना को कुंठित किया था। जनता शासन से निकटता नहीं महसूस करती थी। किसी भी राज्य के लिए यह एक घातक स्थिति होती है। इतिहासकारों ने फ्रेडरिक की एक बहुत बड़ी कमजोरी पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। वह सैनिक दृष्टि से अपनी देश की शक्ति पर चाहे जितना भी विश्वास रखता हो, उसे जर्मनी की सांस्कृतिक संभावनाओं में विश्वास नहीं था। वह जिस देश के लिए संघर्षरत था उसे हेय समझता था। वह दुश्मन देश फ्रांस का प्रशंसक और पुजारी था। ऐसा अंतर्विरोध किसी देश में सही मानसिकता नहीं पैदा कर सकता। ऐसी स्थिति में हमेशा अतिशयवादिता बढ़ती है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि फ्रेडरिक ने साबित कर दिया था कि राजा चाहे जितना प्रबुद्ध और योग्य हो निरंकुश राजतंत्र कभी भी देश का वास्तविक कल्याण नहीं कर सकता। फ्रेडरिक एक योग्य शासक था और उसे महान भी कहा गया है, लेकिन उसका सही मूल्यांकन उसके देश की वास्तविकता और स्थाई उपलब्धियों के आधार पर ही किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रबुद्ध राजतंत्र एक गलत नामकरण है क्योंकि जिन शासकों के साथ यह विशेषण जुड़ता है वे किसी भी तरह सही अर्थों में प्रबुद्ध नहीं थे। यह सच है कि उन्होंने समकालीन चेतना को जाना था और सिद्धांतों या प्रजाहित की बातें करते थे लेकिन बस इतना ही। ऐसे शासकों ने प्रशासन को आधुनिक बनाना चाहा ताकि राजतंत्र मजबूत हो और चर्च तथा सामंतों का अधिकार कम हो। इतिहासकार रूदे तो सबसे प्रसिद्ध फ्रेडरिक और कैथरिन को ही सबसे कम प्रबुद्ध मानता है। फ्रेडरिक ने अपने पिता का ही अनुकरण किया था। कैथरिन ने भी वही किया जो पीटर ने सोचा और किया था। बल्कि दूसरे छोटे शासक अधिक जागरूक और कारगर थे।

अंत में 'राजतंत्र के प्रायश्चित' के इस तंत्र को एक असफल प्रयोग ही कह सकते हैं। इसे सफलता वहीं मिली जहां इसके लक्ष्य सीमित थे। जोजेफ जैसे शासक जो अतीत से हटकर भविष्य की ओर उन्मुख नीतियां और योजनाएं बनाते थे न केवल असफल हुए बल्कि उन्होंने ऐसे तंत्र की सीमाओं को भी स्पष्ट कर

दिया। वास्तव में कभी कभी तो लगता है कि यह राजतंत्र का ही एक पैंतरा था अपने को समयानुकूल बनाने का। इसी प्रक्रिया में अपने अंतर्विरोधों को भूलकर राजतंत्र और सामंतों ने मिली भगत की थी और एक नया नारा देकर भटकाने का प्रयत्न किया था। ऐतिहासिक स्थितियों के नाते विभिन्न देशों में इसे कमोवेश सफलता भी मिली लेकिन इस संदर्भ में सब अस्थाई था।

10

रूस का उत्कर्ष

रूस आज दुनिया का सबसे बड़ा देश है। केवल क्षेत्रफल ही नहीं शक्ति में भी वह एक महाशक्ति कहलाता है। आधुनिक काल का प्रारंभ होने से पहले यही रूस मास्कोवी का छोटा सा राज्य था जो प्रायः मंगोलों से त्रस्त रहता था। यूरोप और एशिया को विभाजित करने वाले यूराल पर्वत के पश्चिम में और पश्चिमी यूरोप से कटा हुआ यूरोप के सुदूर उत्तर-पूर्व में स्थित यह राज्य शुरू में यूरोपीय राजनीति और संस्कृति के संदर्भ में नगण्य था।

सोलहवीं शताब्दी के अंत तक एरिक वंश के पांच सौ वर्ष के शासन ने रूस का विस्तार किया और रूस ईसाई हो गया। जर्मनी से आई स्लाव जाति और दक्षिणी यूरोप से आए ईसाई धर्म ने भी रूस को बहुत परिवर्तित नहीं किया। पूर्वी यूरोप के उन्नत बाइजेंटाइन साम्राज्य के प्रभावों से भी रूस एक प्रकार से अछूता रहा। ईवान महान और ईवान 'भयंकर' नामक दो शासकों ने रूस पर आक्रमण करने वाली जातियों को परास्त किया और रूसी सीमाएं पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत हो गईं। लेकिन सोलहवीं शताब्दी में जब पुनर्जागरण की लहरें पश्चिमी यूरोप में नई चेतना प्रवाहित कर रही थीं रूस इन परिवर्तनों से अनभिज्ञ बना रहा। रूस में यातायात के साधन नहीं थे। साल में छः महीने जीवन भयंकर ठंडक के कारण निष्प्राण हो जाता था। यूरोप के अन्य देशों से भी रूस का कोई विशेष संबंध नहीं था। एरिक वंश के शासक भी संबंधों के विस्तार में नहीं, सीमाओं के विस्तार में रुचि रखते थे। इसीलिए ये शासक राष्ट्रीय ,सम्मान भले ही पाएं, यूरोप के इतिहास में इनका बहुत महत्व नहीं समझा जाता।

1598 में एरिक वंश का अंत हो गया। कुछ वर्षों तक अराजकता की स्थिति बनी रही। पोलैंड और स्वीडन रूस को हड़पने की योजनाएं बनाते और कार्यान्वित करते रहे। 1613 में राष्ट्रभक्त सामंतों ने माइकेल रोमनाफ को रूस की गद्दी पर बिठाया। रोमनाफ वंश के शासनकाल में रूस ने अभूतपूर्व उन्नति की। इस वंश के तीन सौ वर्षों के शासन में ही रूस प्रशांत महासागर और कालासागर तक पहुंच कर दुनिया का सबसे बड़ा देश हो गया। वास्तव में रूस इस महानता

की ओर पीटर के शासनकाल में अग्रसर हुआ।

पीटर महान

1682 में पीटर अपने बड़े भाई ईवान के साथ रूस के सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। ये दोनों अभी वयस्क नहीं थे इसलिए शासन बड़ी बहन सोफिया करती थी। लेकिन सत्रह वर्ष का होते ही पीटर ने अपनी बहन को धार्मिक मठ में भेज दिया और बीमार बड़े भाई को निकम्मा समझकर शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथों में ले ली। कुछ ही महीनों बाद जब ईवान की मृत्यु हो गई तो वह निर्द्वंद्व होकर अपने ढंग से रूस का शासन करने के लिए स्वतंत्र हो गया।

पीटर का उद्देश्य : वह जिस रूस की गद्दी पर बैठा था वह केवल भूगोल की दृष्टि से यूरोपीय था। इसके अतिरिक्त रूस का खान-पान, रहन-सहन, सोचने-समझने का तरीका, सब कुछ एशियाई देशों की तरह था। पश्चिमी यूरोप से ईसाई धर्म के नाम पर संबंध तो था लेकिन रूस का ईसाई धर्म (ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च) भी स्थानीय प्रभाव में भिन्न और अधिक संकीर्ण हो चुका था। रूस की सीमाएं विस्तृत थीं लेकिन वह चारों तरफ से बंद जैसा था। उत्तर की सीमाओं पर नौ महीने बर्फ जमी रहती थी। दक्षिण में तुर्की और फारस के कारण मार्ग अवरुद्ध थे। पूरब में भयानक जंगल थे जिनके बीच से उपयोगी रास्ते नहीं निकल सकते थे। पश्चिम में पोलैंड और स्वीडन के महत्वाकांक्षी शासक रूस पर नजर गड़ाए रहते थे। धार्मिक प्रधान जिसे 'पैट्रिआर्क' कहते थे, धर्म में ही नहीं रूसी जीवन के हर क्षेत्र में प्रभाव रखता था। जार के अंगरक्षक 'स्त्रेल्त्सी' और सामंतों की सभा राजनीति के आधारस्तंभ थे। पैट्रिआर्क और स्त्रेल्त्सी जार पर निरंतर अंकुश रखते थे। ऐसी स्थिति में रूस एक पिछड़ा हुआ, अपने में सीमित, दकियानूस और जर्जर संस्थाओं के सहारे घिसटता सा राज्य था।

पीटर जैसा व्यक्ति इन परिस्थितियों को बदलने के लिए आतुर हो गया। उसने निश्चित किया कि रूस का कल्याण उसके यूरोपीकरण में है। उसने यूरोप के देशों के साथ रूस के निकटतम संबंध स्थापित करने का संकल्प किया। रूस की घुटन समाप्त करने के लिए रूस की सीमाओं को पश्चिम में बाल्टिकसागर और दक्षिण में कालासागर तक पहुंचाना उसने आवश्यक समझा। यहीं से उस नीति का प्रारंभ हुआ जिसे 'गर्म पानी की तलाश' (वार्म वाटर पालिसी) कहते हैं। गर्म पानी का अर्थ था ऐसे सामुद्रिक मार्ग जहां बर्फ न जमती हो और वे साल भर इस्तेमाल किए जा सकते हों। अंत में, वह समझता था कि जब तक शक्तिशाली और निरंकुश राजतंत्र की स्थापना नहीं होती ये उद्देश्य पूरे होने संभव नहीं। वह जीवन भर इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहा और उसे सफलता भी मिली।

आंतरिक नीति : जिस यूरोप का पीटर अनुकरण करना चाहता था उससे वह स्वयं अनभिज्ञ था। इसलिए पहले उसने एक प्रकार का शैक्षणिक भ्रमण करने का निश्चय किया। यदि वह जार की तरह जाता तो निश्चित था कि उसका वास्तविकताओं से ठीक परिचय नहीं हो सकता था। जब किसी देश का शासक दूसरे देश में जाता है तो स्वागत समारोहों के बीच उसे सरकारी तंत्र का तो परिचय मिल जाता है लेकिन देश की जनता या देश की वास्तविक स्थिति से वह परिचित नहीं हो पाता। पीटर यह समझता रहा होगा तभी तो उसने छद्म वेश में, सारे कष्ट सहते हुए, यूरोप को पास से देखने का निर्णय किया।

एक साधारण जिज्ञासु यात्री की तरह वह घूम घूमकर पश्चिमी यूरोप का प्रशासनतंत्र, वहां के उद्योग व्यापार, वहां के तौर-तरीके, उनकी सफलता का रहस्य समझने लगा। उसने स्वयं कई स्थानों पर काम भी किया। बंदरगाहों, कारखानों और सरकारी दफ्तरों में जाकर उसने देखा, समझा। हालैंड, फ्रांस, इंग्लैंड जैसे देशों को देखकर वह रूस का पश्चिमीकरण करने के लिए और दृढ़-संकल्प होता गया।

इसी बीच उसके संपर्क सूत्रों ने खबर दी कि राजधानी मास्को में उसकी इतनी लंबी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर उसके अंगरक्षकों ने विद्रोह कर दिया है। उस समय वह आस्ट्रिया की राजधानी वियेना में था। उसने अपनी यात्रा समाप्त कर दी और तूफान की तरह वापस रूस पहुंच गया। विद्रोहियों को आशा नहीं थी कि वह इतनी जल्दी वापस आ सकेगा। आते ही उसने प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। हजारों अंगरक्षक भयानक उत्पीड़न के बाद मार डाले गए। उसने आज्ञा दी ही नहीं स्वयं उसे कार्यान्वित करने लगा। तलवार लिए अंगरक्षकों की गर्दन साफ करते पीटर ने कुछ ही दिनों में आतंक फैला दिया। सारा विद्रोह दब गया। स्त्रेल्त्सी भंग कर दी गई। उसके स्थान पर उसने एक स्थाई यूरोपीय ढंग की सेना संगठित की।

पश्चिमी यूरोप की उसने अंधाधुंध नकल की। रूसी चीजों और परंपराओं का जैसे बहिष्कार शुरू हो गया। पादरी वर्ग ने हवा का रुख देखकर विरोध करना शुरू किया। 1700 में जब पैट्रिआर्क की मृत्यु हुई तो उसने कोई दूसरा पैट्रिआर्क नहीं बनाने दिया। धार्मिक कार्यों के लिए सर्वोच्च समिति (सिनाड) का संगठन हुआ। इस प्रकार इंग्लैंड की तरह रूस में भी शासक धार्मिक मामलों में भी देश का प्रधान हो गया।

वह लूई चतुर्दश के शासनतंत्र से बहुत प्रभावित हुआ था। फ्रांस की तरह का स्वेच्छाचारी निरंकुश तंत्र वह रूस में भी स्थापित करना चाहता था। उसने रूसी सामंतों की पार्लियामेंट ड्यूमा, समाप्त कर दी। किसी तरह की कोई प्रतिनिधि सभा नहीं रह गई। सामंतों पर उसे विश्वास नहीं था। उसने 'नए सामंत'

पैदा किए। स्वामिभक्त लोग जो उसकी नौकरी करते थे उन्हें हर तरह का प्रोत्साहन दिया गया। ये नए सामंत रूस के प्रारंभिक मध्यवर्ग सिद्ध हुए। इन्हीं लोगों की मदद से पीटर रूस को विभिन्न प्रांतों में बांट कर शासन करता था। सेना में भी नए लोगों की भरती करता था। किसानों के हृष्ट-पुष्ट लड़के रूस की स्थाई सेना में भरती किए जाते थे। सैनिकों और अफसरों को यही ट्रेनिंग दी जाती थी कि राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति पर्यायवाची हैं। सेना और नौसेना का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। इस तरह अपने एक उद्देश्य एकतंत्रीकरण में वह पूरी तरह सफल हुआ।

उसका दूसरा उद्देश्य था कि रूस को पश्चिमी यूरोप की तरह का देश बनाना। उसने यूरोप की अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया था। पहली बार किसी रूसी शासक ने आर्थिक क्षेत्र में एक संगठित नीति अपनाई। उसने कृषि का महत्व समझा और उसे प्रोत्साहित किया। रूस में उद्योग व्यवसाय बिल्कुल पिछड़ी हालत में थे। उसके प्रोत्साहन से उद्योगों का विकास हुआ। कुछ सरकारी उद्योग भी शुरू हुए। धीरे धीरे एक मध्यवर्ग पनपने लगा। उसने वेशभूषा का भी पश्चिमीकरण कर दिया। लंबी दाढ़ियां रखने पर रोक लग गई। वह स्वयं ऐसी दाढ़ियां काट देता था। उल्लंघन करने पर जुर्माना देना पड़ता था। वेशभूषा में भी पश्चिम की नकल अनिवार्य कर दी गई। नारियों को घर की दीवारों से बाहर लाया गया। उसने तंबाकू का इस्तेमाल अनिवार्य कर दिया। वर्साई की दरबारी प्रथाएं लागू की गईं। नाच-रंग, मनोरंजन फ्रांसीसी ढर्रे पर शुरू किए गए। अपनी यात्रा के दौरान उसने जिन चीजों को आधुनिकता का प्रतीक समझा था, वे रूस में लागू की जाने लगीं।

वह शिक्षा का भी महत्व समझता था। सर्वसाधारण के लिए तो नहीं लेकिन समाज के उच्च वर्गों के लिए शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। बहुत से सामंत तक अशिक्षित होते थे। अब शिक्षा आवश्यक हो गई। एक विदेशी भाषा जानना भी अनिवार्य हो गया। उसी समय से रूस में फ्रेंच भाषा का प्रभाव बढ़ा और धीरे धीरे समस्त परिवारों में रूसी के स्थान पर फ्रेंच में ही बोलचाल शुरू हो गई। नगरों में भी सरकारी कर्मचारियों के बच्चों के लिए स्कूल खोले गए। डाक्टरों और इंजीनियरों के लिए भी विद्यालय खुले। पहली बार विज्ञान में रुचि ली गई। राजधानी में एक विज्ञान अकादमी की स्थापना हुई। दूसरी भाषाओं की महत्वपूर्ण पुस्तकों का रूसी अनुवाद हुआ। एक संग्रहालय भी स्थापित किया गया। पहली बार रूस में समाचारपत्रों का प्रकाशन शुरू हुआ। सार्वजनिक संस्थाएं, जैसे अस्पताल, खोले गए।

पश्चिम के प्रति उसके मोह के कारण मास्को उसे बहुत कटा हुआ लगता था। पश्चिम से दूरी कम करने के लिए ही उसने बाल्टिक तट पर एकदम पश्चिमी

ढंग की नई राजधानी बसाई। दलदलों के बीच से पीटर्सबर्ग नामक नया नगर उभरने लगा और धीरे धीरे रूस का सबसे उन्नत नगर हो गया। आजकल इसे ही लेनिनग्राद कहते हैं।

इस तरह उसके दो उद्देश्य, एकतंत्र की स्थापना और पाश्चात्यीकरण, काफी हद तक पूरे हो गए थे। तीसरे उद्देश्य पश्चिम और दक्षिण में विस्तार के लिए उसे युद्ध करने पड़े।

वैदेशिक नीति : रूस की सबसे बड़ी समस्या थी स्थाई सामुद्रिक मार्गों की तलाश। यह तब तक संभव नहीं था जब तक रूस की सीमा कालासागर तक न पहुंच जाए। वहां से भूमध्यसागर और फिर वहां से पश्चिम के सारे रास्ते खुले हुए थे। कालासागर के आसपास तुर्कों का प्रभुत्व था। लेकिन वे इस समय पतनोन्मुख थे। उनका रोमन साम्राज्य से युद्ध चल रहा था। पीटर ने इसे उपयुक्त समय समझा और उसने बिना औचित्य ढूंढ़े तुर्कों पर हमला किया और कालासागर के उत्तर में स्थित आजोफ बंदरगाह पर अधिकार कर लिया। रूस को जैसे बाहरी हवा में सांस लेने का अवसर मिल गया।

आजोफ पर्याप्त नहीं था। कालासागर और भूमध्यसागर को जोड़ने वाले संकरे जलमार्गों पर अब भी तुर्कों का अधिकार था। इसलिए रूसी नौसेना आसानी से भूमध्यसागर में नहीं जा सकती थी। इसीलिए उसने पश्चिम में बाल्टिक तट पर ध्यान दिया। यह कार्य मुश्किल था क्योंकि स्वीडन बाल्टिकसागर को स्वीडी झील समझ कर उस पर अधिकार स्थापित करना चाहता था। गस्टवस एडालफस के जमाने से ही स्वीडन एक सैनिक शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। लेकिन स्वीडन की शक्ति, उसकी आर्थिक समृद्धि और संगठन पर नहीं, सेना पर निर्भर थी। इसीलिए स्वीडन की शक्ति में स्थायित्व नहीं था। सारा दारोमदार शासक पर रहता था। स्वीडी शासकों ने अपनी महत्वाकांक्षा के लिए सारे पड़ोसियों को नाराज कर रक्खा था। जब चार्ल्स द्वादश स्वीडन का शासक हुआ तो उसकी बाल्यावस्था का फायदा उठाकर डेनमार्क, पोलैंड और रूस ने स्वीडन के विरुद्ध एक संघ बना लिया। चार्ल्स में असाधारण शौर्य था लेकिन वह अपरिपक्व था। उसने फौरन दुश्मनों पर हमला कर दिया। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में चार्ल्स को मध्य और उत्तरी यूरोप को रौंदते देखा गया। नार्वा के युद्ध में पीटर की भयानक पराजय हुई और उसे पीछे लौट जाना पड़ा।

चार्ल्स अपनी विजय को स्थाई बनाने के स्थान पर इधर-उधर निरंतर युद्धों में उलझा रहा। दूसरी ओर पीटर ने बड़े धैर्य और परिश्रम से रूसी सेना का पुनः संगठन किया और पश्चिम की ओर खिसकता गया। 1703 में उसने पीटर्सबर्ग नामक नगर की नींव रखी। उसे नार्वा का बदला लेना था। पिछले छः वर्षों में चार्ल्स ने अपनी शक्ति का अपव्यय किया था। लेकिन पीटर पूरी तरह तैयार था।

जब पुल्तावा के युद्ध में एक बार फिर दोनों मिले तो उस बार चार्ल्स को भागते ही बना। उसने तुर्की में शरण ली। पुल्तावा ने उत्तरी यूरोप के भाग्य का निर्णय कर दिया। स्वीडन के स्थान पर रूस 'उत्तर की महान शक्ति' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। स्वीडन अपना प्रभाव फिर नहीं स्थापित कर सका और निस्टाड की संधि द्वारा बाल्टिकसागर के पूर्वी तट का अधिकांश रूस को प्राप्त हो गया।

अब रूस को दक्षिण और पश्चिम में रास्ते मिल गए थे। पीटर का तीसरा उद्देश्य भी अंशतः पूरा हो चुका था।

पीटर का मूल्यांकन : पीटर के शासनकाल के अंतिम दिनों की एक घटना उसके चरित्र और कार्यों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। उसके राज्यों से रूस के रूढ़िवादी लोग, जिनकी शक्ति छिनती जा रही थी, बहुत क्षुब्ध थे। इन प्रतिक्रियावादियों ने पीटर के पुत्र अलेक्सिस को सामने रखकर पीटर पर प्रहार करना चाहा। अलेक्सिस ने उनसे सहानुभूति दिखाई। पीटर ने उसे बहुत समझाने का प्रयास किया। लेकिन वह नहीं माना। पीटर के अंतर्द्वंद्व की कल्पना की जा सकती है। उसका उत्तराधिकारी उसके जीवन भर के कार्यों पर पानी डालने के लिए तैयार था, लेकिन वह उसका पुत्र भी था। अंत में उसने अपने सुधारों के पक्ष में निर्णय लिया और एलेक्सिस गिरफ्तार कर लिया गया। उसे इतना सताया गया कि उसकी जेल ही में मृत्यु हो गई। कुछ इतिहासकार उसके उद्देश्य की प्रशंसा करते हैं लेकिन उसकी नृशंसता की निंदा करते हैं। यह उचित नहीं है। वह अपने स्वभाव के अनुसार ही तो आचरण करता। उसने जीवन में हर काम एक उफनती नदी की तरह किया। उसकी ऊर्जा का प्रभाव कभी कभी बाढ़ की तरह विनाशकारी हो जाता था लेकिन यही तो उसकी शक्ति थी। इसीलिए उसे एक 'बर्बर प्रतिभा' (बारबरस जीनियस) कहते हैं।

उसका मूल्यांकन करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि वह जिस परंपरा और वातावरण के बीच जन्मा था, उसके कारण वह वास्तव में पश्चिमी यूरोप के सामने बर्बर ही था। लेकिन यह उसकी प्रतिभा थी कि उसने अपने जीवनकाल ही में रूस को सभ्यता के मार्ग पर प्रशस्त कर दिया था।

पीटर का सबसे बड़ा गुण था उसकी निरंतर सीख कर बेहतर होने की लगन। गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद उसने पश्चिमी देशों की यात्रा की थी। ऐसी यात्रा का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। स्वीडन के मुकाबले में जब वह युद्धरत था तब भी वह कहता था : मैं जानता हूं कि स्वीडी हमें हरा देंगे लेकिन अंत में वे हमें जीतना सिखा देंगे (आई नो दीज स्वीड्स विल बीट अस फोर ए लांग टाइम बट ऐट लास्ट दे विल टीच अस हाउ टु कांकर) और यही हुआ भी। स्वीडन से हार कर भी अंत में वह जीता और जीत कर भी उसने पराजित स्वीडन से बहुत कुछ सीखा। सैनिक संगठन और प्रशासन में उसने बहुत सी बातें स्वीडन से लीं।

उसने एक कट्टर निरंकुशता की स्थापना अठारहवीं शताब्दी में की, जबकि यूरोप में हर कहीं एकतंत्र कमजोर पड़ रहा था। पीटर ने फ्रांस को आदर्श मानकर निरंकुशता की स्थापना की। यह उस समय रूस के लिए आवश्यक था। रूस को संगठित करने और आधुनिक बनाने के लिए विघटनकारी शक्तियों का दमन आवश्यक था। हमें व्यक्ति और घटनाओं को देशकाल के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही देखना चाहिए। इस समय के रूस में इंग्लैंड का संविधान कार्य नहीं कर सकता था।

रूस के पश्चिमीकरण के संबंध में उसके कार्य सतही थे। वेशभूषा या तंबाकू पीने जैसे कार्यों का कोई आधारभूत महत्व नहीं होता लेकिन एक प्रकार की मानसिकता बनाने में इससे मदद मिलती है। आधुनिकतम वस्त्र पहन कर भी कोई रूढ़िवादी हो सकता है। लेकिन ऐसे वस्त्रों में वह दकियानूसी प्रवृत्ति को छिपाने की कोशिश करेगा। धीरे धीरे वातावरण आदतें बदल देता है। पीटर की तरह बीसवीं शताब्दी में तुर्की के पहले राष्ट्रपति मुस्तफा कमाल ने भी तुर्की को मध्ययुग से सीधे बीसवीं शताब्दी में ला खड़ा किया था। नकाब छोड़ कर तुर्क महिलाओं ने स्कर्ट पहनना शुरू कर दिया था। रूस फौरन आधुनिक तो नहीं हो गया लेकिन ऐसी परंपराएं विरोध के बावजूद बनने लगीं जिनके आधार पर आधुनिक रूस खड़ा है।

अपनी वैदेशिक नीति में वह बाल्टिक तक पहुंचने में सफल हो गया। कालासागर के बंदरगाह आजोफ पर उसका स्थाई कब्जा नहीं हो सका। लेकिन उसने उत्तराधिकारियों को रास्ता दिखा दिया। उसने रूस को शक्तिशाली देश के रूप में प्रतिष्ठित किया और अन्य शासकों के विरोध की परवाह किए बिना जार (सम्राट) की पदवी धारण कर ली।

इस तरह हमें उसके कार्यों में विरोधाभास मिलेगा। एक तरफ वह प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध आधुनिक प्रवृत्तियों और संस्थाओं का संस्थापक लगता है, दूसरी ओर एक क्रूर मध्ययुगीन तानाशाह। लेकिन यह विरोधाभास उस समय और उस देश का है जब कि रूस अपने मंगोली और एशियाई स्वरूप को छोड़कर पश्चिमी और आधुनिक देश बनने के लिए मजबूर किया गया था। पीटर को प्रबुद्ध निरंकुशता की प्रवृत्ति वाला शासक कहते हैं। वह पूरी तरह प्रबुद्ध भले ही न रहा हो लेकिन उसके बिना आधुनिक रूस की कल्पना असंभव है।

पीटर और कैथरिन के बीच का अंतराल

पीटर की मृत्यु (1725) के बाद चालीस वर्षों में कभी कभी तो लगता था कि पीटर के अस्थाई कार्य समाप्त हो जाएंगे। रूढ़िवादी शक्तियां बराबर रूस में पुरानी व्यवस्था लागू करने का प्रयास करती थीं। रूस कमजोर होता जा रहा

था। यह एक संयोग ही था कि रूस अभी पूरी तरह पश्चिमी देशों के निकट नहीं पहुंचा था और उनकी नजर उस पर नहीं पड़ी थी। वैसे भी पश्चिम के देश अपनी ही समस्याओं में उलझे हुए थे। कभी कभी रूस इन युद्धों में हिस्सा लेता था। जब पीटर की सुंदरी पुत्री एलिजाबेथ सम्राज्ञी (जारीना) बनी तो रूस ने यूरोपीय राजनीति में और महत्वपूर्ण भूमिका निभानी शुरू की। रूस के हितों को ध्यान में रखकर कभी वह फ्रांस का साथ देती कभी इंग्लैंड का। वह फ्रेडरिक के व्यंग्यों से बहुत क्षुब्ध थी। सप्तवर्षीय युद्ध के बाद रूस की प्रतिष्ठा बढ़ी थी। लेकिन अभी भी रूस का भविष्य निश्चित नहीं था। सुधारों की गति रुक गई थी। रूस का विस्तार भी नहीं हो रहा था। तभी एक अप्रत्याशित परिवर्तन ने कैथरिन को पीटर से जोड़ दिया।

कैथरिन

कैथरिन एक जर्मन रियासत की राजकुमारी थी। जब वह ब्याह कर रूस आई तो वह रूसी भाषा और आचार-व्यवहार से पूरी तरह अपरिचित थी। रूस वास्तव में उसके लिए 'परदेश' था। लेकिन वह साधारण महिला नहीं थी। उसने रूस आकर अपना नाम सोफिया की जगह कैथरिन रख लिया, रूसी भाषा सीखी और अपना रूसीरकण कर लिया। उसने रूसी मित्र भी बनाए और वह रूसी राजनीति में रुचि लेने लगी। लेकिन वह अपने पति से अच्छे संबंध नहीं रख सकी। दोनों एक दूसरे से इतने भिन्न थे कि उनमें कोई संबंध नहीं रहा था। 1762 में कैथरिन का पति पीटर तृतीय के नाम से रूस का जार हो गया। अब कैथरिन की स्थिति नाजुक थी। पीटर से लोग असंतुष्ट थे। कैथरिन की महत्वाकांक्षा ने जोर मारा। उसने षड्यंत्र शुरू किया और पीटर को पदत्याग करने के लिए मजबूर कर दिया गया। कुछ ही दिनों बाद उसकी हत्या हो गई। कहा जाता है कि कैथरिन ने यह हत्या नहीं करवाई थी। लेकिन हत्यारों को जब सजा नहीं मिली तो यह स्पष्ट हो गया कि परोक्ष ही सही उसकी जिम्मेदारी अवश्य थी।

एक निंदनीय षड्यंत्र के बाद शासन की बागडोर उसके हाथ में आ गई। जारीना की तरह तीस वर्षों तक उसने निरंकुश शासन किया। जीवन में किसी नैतिकता की उसने परवाह नहीं की। फिर उसने रूस को इतना बदल दिया कि इतिहासकार उसे महान कहने में नहीं हिचकते।

आंतरिक नीति : कैथरिन ने अपने को अपनी सुसराल रूस के रंग में रंगने का प्रयत्न किया था और वह उसमें सफल भी हुई थी। लेकिन वह जर्मन राजकुमारी थी और पश्चिमी यूरोप की आदतें, आचार-व्यवहार और जीवनक्रम को बेहतर समझती थी। रूस अभी पूरी तरह बदला नहीं था और ऐसे रूस में पश्चिमी यूरोप के किसी व्यक्ति का रहना कष्टप्रद था। अब जबकि शासन स्वयं उसके

हाथ था में उसने पीटर की पाश्चात्यीकरण की नीति को पूरी तरह कार्यान्वित करना शुरू किया।

उसने प्रशासन को इकाइयों में बांट कर गवर्नरों और उपगवर्नरों की नियुक्ति की। उन्हें कोई स्वतंत्रता नहीं थी। वे केवल राजधानी से आई आज्ञाओं का पालन करते थे। राजधानी में सारा शासनसूत्र कैथरिन के हाथ में था। वह अपने कर्मचारी स्वयं नियुक्त करती थी और किसी तरह की प्रतिनिधि सभा का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करती थी। पीटर ने चर्च को कमजोर बनाया था। कैथरिन ने चर्च की संपत्ति राज्य को दे दी। अब धर्म के अधिकारी जीवनयापन के लिए राज्य पर आश्रित हो गए। आर्थिक स्वतंत्रता के कारण ही पादरी लोग हर तरफ हस्तक्षेप करते थे। अब ऐसा संभव नहीं था।

पश्चिमी विचारों से प्रभावित होने के कारण उसने सारे रूस के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई। उनकी राय जान लेने के बाद वह रूस के कानून को आधुनिक रूप देना और संकलित करना चाहती थी। उनसे अपने अपने क्षेत्रों की विशेष आवश्यकताओं की सूची बनाने को कहा गया था। उन्हें तत्कालीन पश्चिमी विचारों के आधार पर एक निर्देश भी दिया गया। विचार-विमर्श के बाद जो रूपरेखा बनी वह कैथरिन के अनुसार तत्कालीन रूस में कार्यान्वित नहीं हो सकती थी। इसके बाद कैथरिन ने इस तरह का प्रयत्न करना छोड़ दिया।

उसका निरंकुश तंत्र नौकरशाही पर आधारित था। सारे निर्णय वह स्वयं लेती थी और मंत्री भी उसके कर्मचारी मात्र होते थे। उसे केंद्रीय और प्रांतीय प्रशासन के लिए जिन कर्मचारियों की जरूरत होती थी उन्हें राजभक्त और चापलूस सामंतों में से चुनती थी। रूस में मध्यवर्ग का विकास नहीं हुआ था। हुआ भी होता तो शायद कैथरीन उनसे सहयोग नहीं लेती। इस प्रकार सामंतों का एक वर्ग उसका समर्थक और सहयोगी था। दूसरा विरोधी तो नहीं था लेकिन उसे कोई काम नहीं दिया जाता था।

वह 'प्रबुद्ध निरंकुशता' का युग था। कैथरिन ने भी युगधारा में बहने का नाटक किया। फ्रेडरिक की तरह उसने भी फ्रांस के लेखकों और दार्शनिकों से अच्छे संबंध रखने का प्रयास किया। वोल्तेयर की प्रशंसा में उसने पत्र लिखे। दिदरो को अपने पुत्र का शिक्षक बनने के लिए आमंत्रित किया। फ्रेंच भाषा को उसने भी अधिक महत्व दिया। परिवार के राजकुमारों को विदेशों में भेजकर पश्चिमी देशों की प्रगति से परिचित करवाया। विद्यालय और अकादमियां स्थापित हुईं। कवियों और कलाकारों को राज्य का संरक्षण दिया गया। दूसरे देशों से भी विद्वान और कलाकार बुलाए जाने लगे। रूसी साहित्य का भी विकास शुरू हुआ। इसमें वह स्वयं रुचि लेती थी। उसे स्वयं भी लिखने का शौक था।

प्रदर्शन उसकी नीति का विशेष अंग था। उसने नगरों का आधुनिकीकरण

किया। दरबार में वर्साई जैसे नाच-तमाशे और उत्सव होने लगे। विदेशियों को खास तौर पर वह दिखाना चाहती थी कि रूस में भी सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में प्रगति हुई है। पश्चिमी देशों से कलाकृतियां मंगाकर महल और संग्रहालय सजाए गए। वह लेखकों को प्रोत्साहित करके अपनी प्रशस्ति में कविताएं लिखवाती थी।

जनहित के भी कुछ कार्य हुए। कृषि में रुचि का युग था। लोग इंगलैंड, विशेष रूप से वहां की वैज्ञानिक कृषि का अध्ययन करने भेजे जाते थे। निर्माण कार्य भी हुए लेकिन विशेषकर नगरों में। अस्पताल बनवाए गए। टीके का आविष्कार हो चुका था। उसने स्वयं चेचक का टीका लिया ताकि राज्य के दूसरे लोग अंधविश्वास छोड़कर टीका लगवाएं। न्याय व्यवस्था को थोड़ा उदार बनाया गया। कठोर सजाएं कम हुईं। उत्पीड़न के लिए विशेष आज्ञा लेना अनिवार्य हो गया।

उसकी आंतरिक नीति का एकमात्र आधार था निरंकुश शासन बनाए रखना। लेकिन वह प्रदर्शन में भी विश्वास रखती थी। इसलिए ऐसे भी कार्य करती थी जो पश्चिम में हो रहे थे। वास्तव में जनहित में उसकी कोई रुचि नहीं थी। सुधार उतने ही करती थी जिससे प्रजा प्रशस्ति भी करे और गुलाम भी बनी रहे। फ्रांस में जब क्रांति हुई तो वह डर गई और शासन के अंतिम दिनों में उसका शासन और अधिक कट्टर हो गया।

विदेश नीति : एक बार कैथरिन ने कहा था : 'मैं निर्धन की तरह रूस आई थी। मुझे रूस ने धन-धान्य देकर सम्मानित किया। मैंने भी रूस को आजोफ, यूक्रेन और क्रीमिया देकर ऋण से मुक्ति पा ली है।' यह सच था कि वह रूस में एक छोटी सी रियासत से ब्याह कर आई थी। जारीना बनकर उसने असाधारण सम्मान प्राप्त किया था। इसी ऋण को रूस की सीमाओं के विस्तार द्वारा उसने चुका दिया था।

रूस के शक्तिशाली पड़ोसियों में पीटर ने स्वीडन को परास्त कर अपने रास्ते से हटा दिया था। अब पोलैंड और तुर्की बचे थे। वैसे भी बाल्टिक तक पहुंच कर रूस का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ था। उसे तो बारह महीने खुले रहने वाले, कालासागर के बंदरगाह चाहिए थे। इसी लक्ष्य की पूर्ति में कैथरिन ने अपनी सारी शक्ति और कूटनीति लगा दी।

रूस के प्रतिद्वंद्वी पड़ोसियों का फ्रांस मित्र था। स्वीडन, पोलैंड और तुर्की तीनों फ्रांस की ओर आंख लगाए रहते थे। कैथरिन पश्चिमी देशों से सीधे लोहा लेने में हिचक रही थी। उसने कूटनीति का सहारा लिया। उसकी सबसे बड़ी जीत थी फ्रेडरिक से मित्रता। दोनों महत्त्वाकांक्षी थे और कई अर्थों में समान थे। इसलिए उनमें मित्रता से अधिक प्रतिद्वंद्विता की संभावना थी। यह

कैथरिन के हक में था कि फ्रेडरिक जीवन भर उसका मित्र बना रहा।

तुर्की से युद्ध : रूस के दक्षिणी विस्तार के मार्ग में तुर्की सबसे बड़ा अवरोध था। वह निरंतर पतन की ओर अग्रसर था लेकिन पश्चिमी यूरोप में उसकी साख थी। फ्रांस उसका मददगार था। कैथरिन जानती थी कि तुर्क साम्राज्य के अधीन बाल्कन प्रायद्वीप में रहने वाले अधिकांश लोग ईसाई थे। उसने उनकी धार्मिक भावना को उभारा। रूस की सेनाएं तेजी से क्रीमिया में घुसीं और उन्होंने आजोफ पर कब्जा कर लिया। सेनाएं डेन्यूब नदी तक बढ़ती चली गईं। डेन्यूब के उत्तर में स्थित वह क्षेत्र जिसे आज रूमानिया कहते हैं रूस के कब्जे में आ गया। अब आस्ट्रिया और प्रशा भी हस्तक्षेप के लिए तैयार हो गए। तुर्की किसी भी तरह तैयार नहीं था और मददगार फ्रांस की हालत स्वयं नाजुक थी। ऐसे में 1774 में कुचुक-कैनार्जी की संधि हो गई। इस संधि द्वारा कालासागर का उत्तरी तट रूस को मिल गया। पश्चिमी तट तुर्की को वापस दे दिया गया। कालासागर में रूसी जहाजों को यातायात की स्वतंत्रता मिल गई। वे अब तुर्क बंदरगाहों का भी इस्तेमाल कर सकते थे। रूस की सबसे बड़ी उपलब्धि थी तुर्की साम्राज्य के ईसाइयों का संरक्षक मान लिया जाना। तुर्की में स्थित कई गिरजाघरों की निगरानी का उत्तरदायित्व रूस को मिल गया। जेरूसलम जो यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों तीनों का पवित्र तीर्थ स्थान है अब रूसी ईसाइयों के लिए खोल दिया गया। यह तुर्की के लिए बहुत घातक साबित हुआ क्योंकि बाद में ईसाइयों का पक्ष लेने के बहाने रूस ने कई बार तुर्की में हस्तक्षेप किया।

कुछ ही दिनों बाद कैथरिन जोसेफ से संधि करके आस्ट्रियाई हस्तक्षेप की ओर से निश्चित हो गई। उसने जोसेफ के साथ ही कालासागर क्षेत्र का दौरा किया और बाल्कन विजय की योजनाएं बनाने लगी।

कमजोर तुर्क बराबर आशंकित रहने लगे थे। उन्हें कैथरिन की योजनाओं का पूर्वाभास हो गया। उन्होंने स्वयं रूस से युद्ध मोल ले लिया। लेकिन यह तो मुसीबत को निमंत्रण देना था। तुर्की फिर पराजित हुआ और पहली संधि के पूरक स्वरूप एक और संधि द्वारा नीस्टर नदी को रूस और तुर्की के बीच की सीमा मान लिया गया। यदि इंग्लैंड और प्रशा ने, जो कैथरिन के बढ़ते प्रभाव से चिंतित थे, हस्तक्षेप न किया होता तो कैथरिन पूरा बाल्कन प्रायद्वीप जीत कर अपने वंश का दूसरा राज्य स्थापित करने का लक्ष्य पूरा कर लेती। फिर भी इतना तो हो ही गया कि कालासागर क्षेत्र में रूस का प्रभाव बढ़ गया और उसे भूमध्यसागर की ओर से दुनिया तक पहुंचने का एक और 'द्वार' मिल गया। पीटर ने रूस को उत्तरी यूरोप में सर्वोपरि बना दिया था। अब वह पूरब की महान शक्ति कहलाने लगा। पूरे बाल्कन प्रायद्वीप का ईसाई बहुल प्रदेश रूस को अपना संरक्षक मानने लगा। तुर्की के पतन का अंतिम अध्याय शुरू हो गया। दक्षिणी-

पूर्वी यूरोप में शक्ति का शून्य पैदा होने लगा। यह प्रश्न पूर्वी समस्या (ईस्टर्न क्वेश्चन) यूरोपीय राजनीति की जटिलतम समस्या बन गया जिससे सबसे अधिक लाभ रूस ने उठाया।

पोलैंड का विभाजन : पहले भी उल्लेख हो चुका है कि पोलैंड तीन महत्त्वाकांक्षी शासकों कैथरिन, मारिया और फ्रेडरिक से घिरा हुआ एक असंगठित राज्य था। आपस में इनके हित टकराते थे। लेकिन लूट का माल बांटने की स्थिति में इन्होंने अद्भुत सहमति दिखाई।

पोलैंड एक समृद्ध खेतिहर देश था। सत्रहवीं शताब्दी में वहां एक संगठित और शक्तिशाली राज्य था। तुर्कों ने जब वियेना पर घेरा डाला था तो पोलैंड के शासक सोब्यस्की ने मदद न पहुंचाई होती तो जर्मनी का नक्शा कुछ और ही होता। लेकिन पोलैंड की आंतरिक कमजोरियां उसे ले डूबीं। वहां निर्वाचित राजतंत्र की परंपरा थी। चुनाव से भ्रष्टाचार कैसे पनपता है यह सर्वज्ञात है। सामंत लोग निरंतर दांवपेच में रत रहते थे। राजा की कोई शक्ति ही नहीं होती थी। मंत्री लोग सामंती संसद के प्रति उत्तरदायी होते थे। फिर वे राजा की परवाह क्यों करते ? पोलैंड में एक विचित्र परंपरा थी। दुनिया के इतिहास में शायद ही किसी संसद के सदस्यों को ऐसे विशेषाधिकार (लिबरम वीटो) प्राप्त हों। एक भी व्यक्ति की असहमति पर कोई प्रस्ताव गिर सकता था। परिणाम स्पष्ट था। कोई भी कानून बन ही नहीं पाता था क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में सर्व-सम्मति असंभव सी चीज होती है। इसलिए अराजकता बढ़ती जा रही थी।

सामंती समाज में धार्मिक एकता थी न भाषागत। बहुमत कैथोलिक और पोलिशभाषी था फिर भी राष्ट्रीयता की भावना पनप नहीं पाई थी। न शासन था, न भावना। ऐसे में पोलैंड एक परंपरागत सीमा में बंधा छोटी छोटी रियासतों और ईर्ष्यालु व्यक्तियों का समूह मात्र था। पोलैंड का अपना कोई जैसे अस्तित्व ही न हो। 1764 में कैथरिन और फ्रेडरिक ने मिलकर कैथरिन के कृपापात्र स्टैनिसलास को पोलैंड का राजा बनाया था। फ्रांस और आस्ट्रिया विरोध करके भी कुछ नहीं कर पाए थे। यह एक विस्फोटक स्थिति थी। अंदर अंदर गुट बनने लगे। उनका स्वरूप धार्मिक था, कैथोलिक लोग एक ओर, अन्य लोग दूसरी ओर। लेकिन इस गुटबंधी में व्यक्तिगत स्वार्थ और राजनीति भी घुस गई थी। यह स्पष्ट था कि एक वर्ग विदेशी हस्तक्षेप से बहुत क्षुब्ध था। अंत में गृहयुद्ध छिड़ गया। कैथोलिक लोगों ने फ्रांस से सहायता मांगी। लेकिन इसके पहले ही दूसरे पक्ष की ओर से कैथरिन, फ्रेडरिक और मारिया ने मिलकर हस्तक्षेप किया। कैथरिन तुर्कों के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त थी। लेकिन उसने फ्रेडरिक को अधिक फायदा नहीं उठाने दिया। 1772 में जब पहला विभाजन हुआ तो ड्यूना और नीपर नदियों के पूरब का सारा क्षेत्र रूस ने ले लिया। डैन्जिग के बाद बंदरगाह के अतिरिक्त सारा

पश्चिमी प्रदेश फ्रेडरिक को मिला और क्राको नगर को छोड़कर सारा गैलीशिया आस्ट्रिया के हिस्से में आ गया। पोलैंड का एक चौथाई क्षेत्रफल और जनसंख्या का पांचवां भाग दूसरों के कब्जे में चला गया।

पोलैंड के सामंतों की अब आंखें खुलीं। उन्होंने आपसी झगड़े भुलाकर देश को ठीक करने की कोशिश की। लेकिन विदेशी षड्यंत्र की नींव पड़ चुकी थी। कैथरिन तो पोलैंड पर घात लगाए बैठी थी। पोलैंड की स्थिति सुधरे, इसके लिए वह तैयार नहीं थी। इसी बीच फ्रेडरिक और मारिया थेरेसा का देहांत हो गया। उनके उत्तराधिकारी कम लालची नहीं थे। फिर भी कैथरिन अब अपेक्षया स्वतंत्र थी। जब फ्रांस की क्रांति हुई तो सारे यूरोप की आंख फ्रांस पर लग गई। कुछ ही दिनों में क्रांति समर्थकों और फ्रांस के राजतंत्र के समर्थक अन्य देशों में युद्ध छिड़ गया। सारा पश्चिमी यूरोप उसी में लिप्त था। कैथरिन ने मौके से फायदा उठाया और 1793 में पोलैंड का दूसरा विभाजन कर डाला। आस्ट्रिया पूरी तरह पश्चिम में व्यस्त था इसलिए उसे भागीदार भी नहीं बनाया गया। प्रशा को डैन्जिग और पोजेन जैसे नगर देकर कैथरिन ने पूरा पूर्वी पोलैंड हड़प लिया। आस्ट्रिया में इस विश्वासघात से बहुत असंतोष फैला। लेविक लूट में जिसने फायदा उठा लिया, उठा लिया।

पोलैंड की जनता का आक्रोश बढ़ने लगा। कोशिउस्को के नेतृत्व में एक प्रकार का जनविद्रोह शुरू हो गया। कैथरिन ने इस बार आस्ट्रिया और प्रशा को पूरी तरह शामिल कर लिया और बड़ी क्रूरता के साथ पोलिश विद्रोही का दमन कर दिया गया। तीसरे विभाजन (1795) में आस्ट्रिया को विश्चुला नदी की घाटी का दक्षिणी भाग और प्रशा को उत्तरी भाग मिल गया। बचा पोलैंड रूस की सीमाओं में विलीन हो गया।

अब यूरोप के नक्शे पर पोलैंड नाम के देश का अस्तित्व मिट चुका था। पोल जनता विभिन्न राज्यों में विभाजित थी। प्रशा का राजनीतिक एकीकरण पूरा हो गया। रूस अब पूरी तरह पश्चिमी यूरोप के करीब आ गया। आस्ट्रिया को लाभ तो हुआ लेकिन वह सरदर्द बन गया। उसे पूर्व के इस क्षेत्र के झगड़ों में बराबर उलझा रहना पड़ा। पोलैंड की जनता कहीं भी रही, विदेशी की तरह। एक के बाद दूसरी पीढ़ी अपनी पितृभूमि की याद संजोए अपनी सीमाओं में संघर्ष करती रही। प्रथम महायुद्ध के बाद जब वर्साई की संधि हुई तो अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन की सहानुभूति से एक सौ पच्चीस वर्षों के बाद एक बार फिर पोलैंड का प्रादुर्भाव हुआ। आज पोलैंड पूर्वी यूरोप का एक उन्नत देश है।

कैथरिन का मूल्यांकन : पोलैंड को कैथरिन पचा नहीं सकी। साल भर बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। उसे उसके देश के सामंतों ने 'महान' कहकर विभूषित किया था। महानता के गुणों से वह भले ही संपन्न न रही हो, उसने अपने देश को स्थाई

महानता प्रदान की। वह कहना उचित ही है कि पीटर ने रूस को यूरोपीय शक्ति बनाया था, कैथरिन ने उसे 'महाशक्ति' बना दिया। (पीटर मेड रसा ए यूरोपियन पावर कैथरिन मेड हर ए ग्रेट पावर)

पीटर ने रूस को यूरोपीय बनाने की कोशिश की थी। लेकिन वह स्वयं पूरी तरह पश्चिमी यूरोप की सभ्यता में दीक्षित नहीं हो सका था। कैथरिन तो स्वयं पश्चिम यूरोपीय थी। इसलिए उसके लिए यह कार्य सहज था। प्रारंभ में जब उसका घर रूस हो गया तो उसने रूस के अनुकूल बनने की कोशिश की थी। लेकिन जैसे ही उसके हाथ में सत्ता आई वह पूरी तरह से रूस को एक यूरोपीय राज्य बनाने में संलग्न हो गई। गद्दी पर बैठने के कुछ ही दिनों बाद उसने घोषणा की थी: 'रूस एक यूरोपीय राज्य है' (रशा इज ए यूरोपीय स्टेट) और इस घोषणा को चरितार्थ करने में उसने कोई कसर नहीं उठा छोड़ी।

अपना लक्ष्य निर्धारित करने के बाद वह कोई साधन इस्तेमाल कर लेती थी। उसका व्यक्तिगत जीवन घोर अनैतिक था। हत्या, उत्पीड़न, षड्यंत्र से वह घिरी रहती थी, लेकिन वह रूस की जनता को समझती थी। इंग्लैंड की एलिजाबेथ की तरह वह राष्ट्रीय मनोकामना पूरी करने के लिए सारे देश का सहयोग प्राप्त कर लेती थी। इस तरह वह उनके हित की सतही बातें करके भी लोकप्रिय बनी रही।

उसने रूस का आर्थिक आधार मजबूत करने के लिए कोई विशेष कार्य नहीं किया। जनहित के कार्य भी केवल बड़े नगरों में हुए। उसके ज्यादातर कार्य प्रदर्शन के लिए होते थे। शिक्षा के क्षेत्र में उसने कभी सर्वसाधारण की शिक्षा का प्रबंध नहीं किया। नगरों में जो प्रबंध था भी वह दिखावे के लिए था। एक बार उसने मास्को के गवर्नर से कहा था: 'मैं स्कूल रूस के लिए नहीं यूरोप के लिए खोलती हूं ताकि वहां जनमत हमारे पक्ष में रहे। जिस दिन हमारे किसान प्रबुद्ध होना चाहेंगे उस दिन तुम रहोगे न मैं।' (इफ आई इंस्टीट्यूट स्कूल्स इट इज नाट फार अस—इट इज फार यूरोप, व्हेयर वी मस्ट कीप आवर पोजीशन इन पब्लिक ओपीनियन बट द डे व्हेन आवर पीसेंट्स शैलविश टु बिकम एनलाइटेंड, बोथ यू ऐंड आइ विल लूज आवर प्लेसेज) यह पाखंड और दूरदर्शिता दोनों का प्रमाण है। यूरोप में उसका सम्मान बना रहे इसके लिए वह कुछ भी कर सकती थी। लेकिन वह यह भी जानती थी कि एक प्रबुद्ध जनता तानाशाहों को बर्दाश्त नहीं कर सकती। जब रूस की जनता वास्तव में जागरूक हुई तो रूस में जारशाही का अंत हो गया।

कैथरिन जन्मजात शासक थी। एक शासक के गुण उसमें कूट कूट कर भरे हुए थे। जब आवश्यक हुआ तब उसने अपना रूसीकरण कर लिया और जब समय आया तो पूरे रूस का यूरोपीकरण करने में लग गई। यह सच है कि उसके सुधारों का प्रभाव नगरों तक सीमित रहा और अधिकांश रूसी जनता अपने पुराने

ढर्रे पर चलती रही, लेकिन यह भी सच है कि उसने गरीव और वेहाल जनता को भी अपना प्रशंसक वनाए रखा। व्यक्तिगत जीवन और राजनीति को अलग रखने के कारण उसके दुश्चरित्र होने की वात से प्रशासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। जहां तक होता था वह ठीक व्यवहार करती थी और लोगों को प्रभावित कर लेती थी। प्रवुद्ध होने का ढोंग करती थी, लेकिन साहित्य और कला में उसकी अभिरुचि के वारे में कोई संदेश नहीं है।

उसका सवसे वड़ा गुण था समय की पहचान, और सवसे वड़ी उपलब्धि थी समय के अनुसार कूटनीति और युद्ध के सहारे रूस का विस्तार। रूस पीटर का ऋणी है लेकिन कैथरिन ने पीटर के कार्यों को पूरा न किया होता तो इसमें संदेह है कि रूस इतनी जल्दी महाशक्ति हो पाता। रही जनता के सुख और देश के हित की वात तो इस कसौटी पर तो कम ही शासक खरे उतरेंगे। इसलिए हमें यही जानना चाहिए कि उसने अपनी नीतियों द्वारा रूस के तात्कालिक नहीं दूरगामी हितों की रक्षा की।

11

फ्रांस क्रांति के कगार पर

कुछ लेखकों ने यूरोप में ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के बाद फ्रांस की क्रांति को इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना बताया है। इस मत से सहमति के बिना भी क्रांति के महत्व को स्वीकारा जा सकता है। यह सच है कि यह क्रांति उन अर्थों में क्रांति नहीं थी जिन अर्थों में रूस या चीन में क्रांतियां हुईं। फ्रांस की क्रांति ने समाज में आमूल परिवर्तन की दिशा में महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाए। परिवर्तन राजनीतिक ढांचे में ही अधिक हुआ जो क्रांतिकारियों का मूल लक्ष्य नहीं था। फिर भी 1789 में सत्ता के संघर्ष में मध्यवर्ग को निश्चित विजय मिली। पतनोन्मुख सामंतवाद की एक प्रकार से अंतिम क्रिया कर दी गई। आर्थिक मूल्यों, सामाजिक ढांचे और राजनीतिक तंत्र में ऐसे परिवर्तन हुए जिनका तात्कालिक ही नहीं दूरगामी परिणाम हुआ और जिन्हें नेपोलियन भी न तो नकार सका न समाप्त कर सका। बाद में यह क्रांति प्रेरणा का स्रोत बनी रही। उसकी उपलब्धियों और असफलताओं दोनों ने मार्गदर्शन किया। इसीलिए एक ही दशक में नेपोलियन द्वारा हत्या के बावजूद फ्रांस की क्रांति फ्रांस ही नहीं मानव मात्र के इतिहास की एक महत्वपूर्ण प्रगति चिह्न के रूप में याद की जाती है।

प्रसिद्ध फ्रांसिसी इतिहासकार आलेक्सी द तोक्विल ने लिखा है कि क्रांति से पहले का यूरोप जर्जर हो चुका था। बस यही स्पष्ट नहीं था कि वह टूट कर गिरेगा कहां से—गिरना तो निश्चित ही था। वह फ्रांस में ही भहरा कर गिरा क्योंकि कड़ियां फ्रांस में ही टूटीं। क्रांति के लिए स्थितियां वहीं सबसे अधिक अनुकूल थीं वरना सारे यूरोप की दशा कमोबेश वैसी ही थी।

यूरोप सामंत शाही की गिरफ्त में था। इंग्लैंड में अवश्य 1688 की रक्तहीन क्रांति के बाद सत्ता पर मध्यवर्ग हावी होता जा रहा था। प्रबुद्ध राजतंत्र थोपी उदारता के बावजूद असफल था। सोरेल के अनुसार यूरोप में हर तरह की सरकारें थीं और सभी स्वीकार्य और न्यायसंगत मानी जाती थीं। लेकिन वास्तव में तनाव बढ़ रहा था। हर देश में शासन अर्थतंत्र पर पूरी तरह नियंत्रण कर पाने में असमर्थ था और विशेष रूप से चीजों के दामों में वृद्धि के कारण विद्रोह होते रहते

थे। 1715 से 1785 के बीच अकेले फ्रांस में करीब 100 किसान विद्रोह हुए थे। इसके अतिरिक्त हड़तालें होती रहती थीं। पेरिस में किताबों की जिल्द बनाने वालों से लेकर बढ़ई और लोहार तक हड़ताल करते थे। लेकिन हमेशा राजा नगर के धनिकों की मदद से विद्रोहों का दमन कर दिया करता था।

समय समय पर होने वाली अशांति और विद्रोहों की परवाह किए बिना परंपरागत व्यवस्था अपने धुन में मस्त थी। समाज कभी स्थाणु नहीं रहता। विकास की गति धीमी हो, अवरुद्ध कर दी गई हो लेकिन समाप्त नहीं होती। सारे यूरोप में परिवर्तन की लालसा बढ़ रही थी। उसकी अभिव्यक्ति भी भिन्न भिन्न तरीकों से होती ही थी लेकिन फ्रांस की स्थिति विशेष थी। इसलिए फ्रांस की क्रांति की पूर्वसंध्या पर स्थिति का विस्तार से अध्ययन आवश्यक है। तभी यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि अपेक्षतया बेहतर स्थिति में होते हुए भी क्रांति फ्रांस में ही क्यों हुई।

फ्रांस की पुरातन व्यवस्था

मरने के समय ही शायद व्यक्ति के सामने इतिहास जीवंत होकर खड़ा होता है। उस समय व्यक्ति को अपने किए-कराए की याद आती है और वह अपनी कमजोरियों के प्रति जागरूक हो जाता है। तब तक देर हो चुकी होती है। उत्तराधिकारी दी गई सलाह को जीवन भर भूला रहता है। मरते वक्त ही उसे भी याद आती है और वह भी अपनी सलाह छोड़कर कूच कर जाता है। यह बात सामान्यतया तो सच है ही, बूर्बों वंश के बारे में विशेष रूप से लागू होती है। इस वंश के शासकों के बारे में कहा गया है कि उन्होंने न कभी कुछ सीखा न कुछ भूले (दे नेवर फारगाट एनीथिंग—दे नेवर लर्न्ट एनीथिंग)

इतिहास उनके सामने रहता बराबर था लेकिन उन्होंने उससे कभी कोई सीख नहीं ली।

लूई चतुर्दश ने मरते वक्त अपने उत्तराधिकारी को 'जनहित के कार्य करने, युद्ध न करने और सही सलाहकार रखने' की राय दी थी। लूई पंचदश ने इनमें से कोई कार्य नहीं किया। जनहित का उसे कभी ध्यान नहीं रहा। सारा जीवन वर्साई में केंद्रित होता गया। युद्ध उसने जीवन भर लड़े। उसके सलाहकारों में एक भी ऐसा नहीं था जो सल्ली, रिशलिउ या कोल्बेर का मुकाबला करता। फ्रांस को और जर्जर करने के बाद मरते समय उसने भी अपने उत्तराधिकारी को वही सब करने की सलाह दी जो वह स्वयं नहीं कर सका था। लूई षोडश ने भी कोई सलाह नहीं मानी और क्रांतिकाल में अपनी जान खो बैठा।

क्रांति जब एक घटना के रूप में घटती है तो आकस्मिक अवश्य लगती है लेकिन उसके बीज वर्षों से पनपते रहते हैं। एक लंबी तैयारी के बिना विद्रोह तो

संभव है लेकिन क्रांति नहीं। फ्रांस की क्रांति के वीज उसी समाज में विखरे हुए थे जो सैकड़ों वर्षों से भ्रष्ट और खोखला होता जा रहा था। क्रांति के पहले वे इस व्यवस्था को 'पुरातन व्यवस्था' (आंसियां रेजीम) कहते हैं। इस आंसिआं रेजीम का अध्ययन करने पर ही स्पष्ट हो सकेगा कि कैसे धीरे धीरे फ्रांस क्रांति के कगार पर आ खड़ा हुआ।

राजनीतिक दशा

'मैं ही राज्य हूं' कहने वाले लूई चतुर्दश की जब मृत्यु हुई तो इतने केंद्रित एकतंत्र को संभालने के लिए मजबूत कंधों की आवश्यकता थी। लूई पंचदश लोकप्रिय तो था। लोग उसे 'परमप्रिय लूई' (वियंनेमे लूई) कह कर संवोधित करते थे लेकिन वह एक आमोदप्रिय और अदूरदर्शी शासक सिद्ध हुआ। इसलिए जब वह मरा तो उसकी प्रजा ने खुशियां मनाईं। वह चापलूसों और रखैलों से घिरा रहता था लेकिन दुस्साहस भी करता रहता था। उसके समय में वर्साई षड्यंत्रों का केंद्र था। उसको उत्तराधिकार में युद्ध और लड़खड़ाता अर्थतंत्र मिला था। युद्ध न करने की सलाह भी मिली थी लेकिन उसने सामर्थ्य न होते हुए भी आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के और फिर सप्तवर्षीय युद्ध में हिस्सा लिया। इन युद्धों का व्यापक परिणाम निकला। यूरोप में फ्रेडरिक महान द्वारा रासवाख में उसकी पराजय ऐतिहासिक थी। फ्रांस को भारतवर्ष में भी मुंह की खानी पड़ी और उसके अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को भारी क्षति पहुंची। उसके राज्य की नीवें तक हिल गईं। लोगों में विरोध भी वढ़ने लगा उसे मरने से पहले लग गया कि स्थिति नाजुक है। इसीलिए तो उसने कहा था: 'मेरे वाद प्रलय होगी' (आफ्टर मी द डिल्यूज)।

प्रलय आने में सोलह साल और लग गए। लूई षोडश एक संभ्रांत और सदाशय व्यक्ति था लेकिन योग्य शासक नहीं। विशेष रूप से संकटपूर्ण स्थितियों में तो वह निकम्मा सावित होता था। वर्साई के महलों में एक गृहस्थ की जिंदगी जीता वह वास्विकताओं से अनभिज्ञ खिड़की पर बैठकर पालतू हिरनों का शिकार करने या विगड़े तालों की मरम्मत करने में व्यस्त रहता था। उसकी पत्नी आस्ट्रिया की राजकुमारी थी और कभी पूरी तरह फ्रांस की नहीं हो पाई। लोगों ने उसे हमेशा दूर और 'विदेशी' समझा। वह न केवल शाहखर्च और फैशन का केंद्र थी, राजनीति में भी हस्तक्षेप करती थी। षड्यंत्रों से बाज नहीं आती थी। मारी आंतुआनेत को उसकी मां और भाई ने वरावर यही सलाह दी कि वह फ्रांस के लोगों में दिलचस्पी ले वहां की राजनीति में नहीं। उसे आगाह किया गया कि उसने अपनी आदत नहीं वदली तो वह अपना हाथ जला लेगी। वह नहीं मानी और अपनी जान गंवा बैठी। जनता से वह कितनी दूर थी और वास्तविकता से भी इसका इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि जब उससे कहा गया कि रोटी अनुपलब्ध हो रही है तो उसने जवाब

दिया : 'यदि रोटी नहीं मिलती तो लोग केक क्यों नहीं खाते।' (इफब्रेड इज नाट अवेलेबुल व्हाई डोंट दे ईट केक) स्पष्ट है कि ऐसी पत्नी और रानी अपने पति तथा देश दोनों के लिए बोझ थी।

ऐसे कमजोर कंधों पर एकतंत्र का बोझ कैसे टिकता ? राजा स्वयं अक्षम था और ऐसे व्यक्ति तथा संस्थाएं थीं नहीं जो भार वहन करतीं। उत्तरदायित्व बांटे भी तो कौन? रिशलिउ और कोल्बेर जैसे योग्य और स्वामिभक्त मंत्री अब उपलब्ध नहीं थे। स्वायत्त संस्थाएं थीं नहीं। प्रतिनिधि सभा 'स्टेट्स जनरल' का सैकड़ों वर्षों से अधिवेशन ही नहीं बुलाया गया था। लोग भूल भी गए थे कि उनकी कोई हिस्सेदारी है शासन में। सामंतों को रिशलिउ ने ही अकर्मण्य बना दिया था। लेकिन उनके कर्तव्य कम हुए थे अधिकार नहीं। उन्हें अधिकार ही नहीं विशेषाधिकार भी प्राप्त थे और इस कारण, वे अनावश्यक बोझ थे। मध्यवर्ग से पूरा सहयोग लेने के लिए राजा तैयार नहीं था। सामंत उन्हें आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे। वह स्वयं अब केवल कभी कभी की थोड़ी बहुत हिस्सेदारी के लिए तैयार नहीं था। अब तो मध्यवर्ग पूरी तरह सत्ता पर अधिकार के लिए तैयार था।

ऐसी स्थिति में शासन की जिम्मेदारी पूरी तरह नौकरशाही पर थी। वैसे भी केंद्रित एकतंत्र और तानाशाही में कर्मचारियों का महत्व बढ़ जाता है। वास्तव में कर्मचारियों की भूमिका जनता और सरकार के बीच की कड़ी की होती है लेकिन जैसाकि इतिहासकार जार्ज रूदे का मत है 'वंशानुगत नौकरशाही का विस्तार हो रहा था और उसकी स्वतंत्रता बढ़ रही थी। वह धीरे धीरे जनता और सरकार के बीच की कड़ी बनने के बजाय उनके बीच व्यवधान बनती जा रही थी। (द ब्यूरोक्रेसी, हेरेडिटरी आफिस होल्डर्स, ग्रेज इट ग्रिउ एवर लार्जर ऐंड मोर इंडिपेंडेंट टेंडेड टु बिकम ए बफर रादर दैन ए लिंक बिटवीन गवर्नमेंट ऐंड द पीपुल) कर्मचारियों की ताकत इसलिए भी बढ़ गई थी कि उनके उगाहे पैसों पर राजा और राज्य का खर्चा चलता था और वे स्वयं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजा की सहायता करते थे। उन पर न स्थानीय नियंत्रण था न केंद्रीय। मंत्री तो राजा के करीब होते थे और थोड़ी सी नाखुशी पर बदले जा सकते थे लेकिन कर्मचारी तो दूर दूर फैले हुए थे और अनिवार्य थे। उन्हें अच्छा से अच्छा मंत्री भी पूरी तरह नियंत्रित नहीं कर पाया।

ऐसे कर्मचारी, जिनकी भर्ती और जिनके प्रशिक्षण के नियम न हों, जिनकी शक्ति निस्सीम हों, जिन पर नियंत्रण अनुपस्थित या अयोग्य हो और फिर भी जो राज्य के लिए परमावश्यक हो, वे निश्चित ही शासन की जड़ों में घुन लगाते हैं।

प्रांतीय और स्थानीय प्रशासकों पर नियंत्रण ढीला पड़ गया था, इसलिए भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। सारा देश तरह तरह की इकाइयों में बंटा हुआ था। न कानून की एकरूपता थी न प्रशासन की। शासन कैसे चल रहा था इसे समझना

आसान नहीं था। स्वार्थ और ईर्ष्या के कारण जो नियम थे भी उनका मनमाना इस्तेमाल होता था। पद खरीदे जाते थे। एक प्रकार के 'मीसा' वारंट (लेत्र द काशे) की परंपरा थी जिसके आधार पर किसी को गिरफ्तार किया जा सकता था और बिना मुकदमा चलाए जेल में रखा जा सकता था।

जिन मंत्रियों ने शासन को संभालने की कोशिश की, जैसे तूर्गो और नेकर, उन्हें दरबारी षड्यंत्र ने पदच्युत कर दिया। राजा अयोग्य, शासन तंग, भ्रष्ट और जर्जर, कर्मचारी लालची और ईर्ष्यालु, शासन के समर्थक व्यक्तियों और वर्गों का अभाव। ऐसे में एक निरंकुश तंत्र चल नहीं सकता था केवल उत्पीड़क बन सकता था। क्रांति के पहले का फ्रांस ऐसा ही था।

सामाजिक स्थिति : सारा समाज तीन भागों में बंटा हुआ था। पादरी वर्ग का प्रभाव राजधानी से लेकर छोटे छोटे गांवों तक था। फ्रांस की कैथोलिक बहुल जनता का जीवन उनके बिना चल ही नहीं सकता था। इनमें भी कुछ बहुत प्रतिष्ठित और धनी पादरी थे और दूसरे साधारण पादरी। धन हो तो पद और प्रतिष्ठा खरीदी जा सकती थी इसलिए छोटे पादरियों का प्रभाव नहीं था।

इसी प्रकार दूसरा वर्ग सामंतों का था। इनके पास फ्रांस की अधिकांश जमीन थी। रिशलिउ और माजारैं ने इन्हें पंगु कर दिया था। तबसे इनमें संपन्न लोग वर्साई की शोभा बढ़ाते थे। नीचे के सामंत कहलाने को तो कुलीन थे लेकिन आर्थिक दृष्टि से विपन्न थे।

पादरी और सामंत विशेषाधिकारसंपन्न थे। विशेषाधिकारों का स्रोत मध्ययुग में मिलता है। उस समय समाज का एक निश्चित कार्य करने के कारण इन्हें कुछ अधिकार दे दिए गए थे। अब उनकी कोई उपयोगिता नहीं थी फिर भी उन्हें कोई छीन नहीं सका था। इसी से समाज में कुलीनता का सबसे अधिक महत्व था। परंपराओं के बल पर निकम्मे, मूर्ख और लालची लोग अपना स्थान बनाए हुए थे जबकि मध्यवर्ग अपनी योग्यता, क्षमता, महत्त्वाकांक्षा और राजभक्ति के बाद भी वह स्थान नहीं प्राप्त कर सकता था।

तृतीय वर्ग ऐसे लोगों का था जो न पादरी थे न सामंत अर्थात समाज का बहुमत। इसमें किसान, मजदूर, नौकरी पेशावाले लोग, वकील, पत्रकार सभी शामिल थे। सबकी अलग अलग समस्याएं थीं लेकिन ये सब एक बात में जुड़ते थे, इन्हें सामाजिक समानता नहीं प्राप्त थी। सार्वजनिक स्थानों से लेकर व्यक्तिगत जीवन तक इन्हें अपनी हेयता का आभास रहता था।

इस तरह समाज में बहुत तनाव था। छोटे बड़े पादरी में, छोटे बड़े सामंत में और फिर कुलीनों के विरुद्ध सामान्य मध्यवर्गीय लोगों में असंतोष था कि जो दूसरे को सामाजिक स्तर पर प्राप्त है वह उसे क्यों नहीं प्राप्त है। यह सामाजिक असंतोष तभी से स्पष्ट और मुखर होने लगा था जबसे समाज में चेतना आई थी।

आर्थिक विषमता और शोषण ने इसे और बल दिया था। ज्यों ज्यों विचारकों का प्रभाव बढ़ रहा था लोग यथास्थिति से असंतुष्ट होते जा रहे थे और परिवर्तन की इच्छा बढ़ रही थी।

आर्थिक व्यवस्था : किसी देश की आर्थिक व्यवस्था को वहां की कृषि, उद्योग, व्यवसाय, कर व्यवस्था आदि के सहारे समझा जाता है। राजकोष की आमदनी का स्रोत कर होते हैं। फ्रांस में विशेषाधिकारों की परंपरा ने समाज के सबसे संपन्न लोगों को कर मुक्त कर रखा था। करीब तीन लाख सामंतों और पादरियों के बीच समाज की अधिकांश संपत्ति बंटी हुई थी। सामंत लोग प्रत्यक्ष कर से मुक्त थे लेकिन ये स्वयं किसानों पर कर लगा सकते थे। जहां चाहे शिकार खेल सकते थे। किसानों के इस्तेमाल के लिए इनके यहां 'तंदूर', बूचड़खाना और शराब की मिलें होती थीं जिन्हें इस्तेमाल करने पर किसान कर देता था। नमक तक पर कर लगता था। इसी प्रकार पादरी भी सामान्य कर नहीं देता था। उल्टे वह स्वयं धर्म कर वसूलता था। शिक्षा और सामाचारपत्रों पर उसका नियंत्रण था।

किसान अपनी आमदनी का अस्सी प्रतिशत राजकोष, सामंतों और चर्च को कर देने में खो देता था। इसके बाद भी भ्रष्ट राजकर्मचारियों की मुट्ठी को गर्म करना पड़ता था। साथ ही कई बार कई तरह के उपहार देने पड़ते थे। निश्चित था कि उत्पादन बढ़ाने की उनके पास कोई प्रेरणा नहीं थी। खड़ा खेत सामंतों के कबूतर चुग लेते थे या उधर से सामंत का शिकारी दल गुजर जाता था तो उन्हें सड़कों पर बेगार करना पड़ता था। अविवाहितों को सेना में भरती होना पड़ता था। इन सबके ऊपर था कर का बोझ।। इसे भी वह शायद वहन कर लेता लेकिन उसे यह एहसास था कि संपन्न राज्य को कुछ भी नहीं दे रहा है और सारे लाभ उठा रहा है। दूसरी ओर किसान सब कुछ दे रहा है और बदले में उसे कुछ भी नहीं मिल रहा। इस स्थिति में उसका असंतोष यदि बढ़े तो स्वाभाविक ही था।

राज्य की समृद्धि का वास्तविक आधार कृषि और उद्योग ही होते हैं। इन दोनों क्षेत्रों में कभी स्थिर और स्थाई नीति नहीं अपनाई गई। सल्ली और कोल्बेर के सुधार स्थाई नहीं साबित हुए। उद्योग अधिकतर धार्मिक वर्ग की आवश्यकताओं तक सीमित थे। निर्यात नीति फ्रांस में कभी दूरदर्शिता के आधार पर नहीं बनाई गई। इंग्लैंड ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में फ्रांस को बराबर चुनौती दी। आंतरिक व्यापार भी विभिन्न प्रतिबंधों और चुंगी कर के कारण अवरुद्ध रहता था। यूगनो लोगों के पलायन से पटु लोगों का अभाव हो गया था। कुल मिला कर फ्रांस का उत्पादन अन्य देशों के मुकाबले में खराब नहीं था लेकिन जितना हो सकता था उतना नहीं होता था।

वर्साई की भव्यता और शान शौकत के मुकाबले में साधारण जनता गरीबी की हालत में रहती थी। शोषण और गैरजिम्मेदारी पर आधारित वर्साई के

वैभवशाली शासक और प्रशासक जनता से बिल्कुल कटे हुए थे। उनके लिए जनता कामधेनु थी, जब जो चाहा वसूल लिया। युद्धों का क्रम समाप्त ही नहीं होता था। वैदेशिक नीति राष्ट्रहित में नहीं, शासकों की सनक से संचालित होती थी। जब अमरीका का स्वतंत्रता संग्राम अंगरेजों के विरुद्ध शुरू हुआ तो दुश्मन के दुश्मन की मदद करने के लिए फ्रांस ने अमरीका की भरपूर मदद की। इससे आर्थिक दबाव और बढ़ा।

करदाताओं की एक सीमा होती है। जब वहां से वसूली बढ़ने की संभावना नहीं रही, धनिकों पर कर लगाने की दृढ़ नीति लागू नहीं की जा सकी और राज्य के खर्चे पूरे नहीं पड़े तो स्थिति डांवाडोल हो गई। फ्रांस में 'आमदनी के आधार पर खर्चों का निर्धारण' करने के स्थान पर खर्चे के अनुसार आमदनी का तरीका ढूंढ़ा जाता था। ऐसे में राज्य ऋण लेने पर मजबूर था। राज्य का जनता से ऋण लेना असाधारण बात नहीं है लेकिन ऋण तभी तक मिलता है जब तक राज्य की उधार चुकाने की शक्ति पर विश्वास बना रहता है। फ्रांस में ऋण हद से अधिक बढ़ गए थे और उनके वापस मिलने की आशा नहीं बची थी। धीरे धीरे राज्य दिवालिया हो रहा था। राज्य का दिवालिया होना संकट की सीमा होती है।

पुरातन व्यवस्था की स्थिति यूरोप में अन्य देशों की अपेक्षा बेहतर थी। इतिहासकार तोक्विल का मत है कि फ्रांस के लोगों ने इसलिए क्रांति नहीं की कि वे भूखे थे। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि उनका पेट भरा था और वे जागरूकता के कारण स्थिति को समझ सकते थे।

बौद्धिक क्रांति

फ्रांस की स्थिति ऐसी थी कि परिवर्तन की आकांक्षा सर्वत्र व्याप्त थी। लेकिन परिवर्तन की रूपरेखा स्पष्ट नहीं थी। इतिहासकार रूदे के अनुसार सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि राजा के ही अधिकार और बढ़ा दिए जाएं ताकि सामंतों पर अंकुश रहे, सामंतों की शक्ति बढ़ाई जाए ताकि राजा पर अंकुश रहे या इन दोनों की शक्ति नियंत्रित करने के लिए जनशक्ति को बढ़ावा दिया जाए। इस प्रकार सवाल राजतंत्र, सामंती व्यवस्था या लोकप्रिय सरकार को शक्तिशाली करने का था। इस प्रश्न का सर्वसम्मत उत्तर न संभव था न ढूंढ़ा जा रहा था। विभिन्न क्षेत्रों में इसके विभिन्न हल ढूंढ़े जा रहे थे।

उत्तर भिन्न भिन्न भले ही हों इस प्रश्न का असर था इसका प्रमाण है बढ़ती चेतना। वोल्तेयर 1730 से 1778 तक लिखता रहा और उसकी रचनाएं सारे यूरोप में हर वर्ग में दिलचस्पी से पढ़ी जाती रहीं। रेनाल की पुस्तक 'इतिहास दर्शन' के तीन वर्षों में 55 संस्करण प्रकाशित हुए और सभी प्रमुख भाषाओं में

उसका अनुवाद हुआ। मोंतेस्किउ की पुस्तक 'एस्प्री दे लुआ' के तीन वर्षों में 6 संस्करण हुए और इटली, जर्मनी, इंग्लैंड, नीदरलैंड्स—यहां तक कि रूस में भी उसका अनुवाद हुआ। रूसो की 'सोशल कांट्रैक्ट' का एक ही वर्ष में 13 संस्करण प्रकाशित करना पड़ा।

1777 में पहली बार पेरिस में 'जूरनाल द पारी' प्रकाशित हुआ। दो वर्षों में ही पेरिस से 79 पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं। क्रांति की पूर्व संध्या पर पेरिस से 169 पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही थीं। गांवों और कस्बों तक में इनके पाठक थे और जब गांव में बाजार लगती थी तो लोग उत्सुकतापूर्वक यही पूछते थे "इधर शहर में क्या छपा है।' जो भी पाठ्य-सामग्री उपलब्ध होती थी लोग उसे चाट जाते थे।

ऐसा वातावरण इस बात का सूचक है कि वैचारिक जगत में जागरूकता तेजी से बढ़ रही थी। सामाजिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि वैचारिक धरातल पर बन रही थी और सामाज में एक ऐसा वर्ग तैयार हो रहा था जो अग्रणी बनता। यही तैयारी इस बात का प्रमाण है कि अब केवल छिटपुट सुधारों से काम नहीं चलने वाला था। परिवर्तन के वे प्रयास जो घटनाओं में अभिव्यक्त होने वाले थे अब पूरी तरह मानसिक स्तर पर दृढ़ हो चले थे। इसीलिए कुछ इतिहासकारों का विचार है कि वास्तविक क्रांति से पहले एक बौद्धिक क्रांति हो चुकी थी। यद्यपि बौद्धिक क्रांति का आधार भी भौतिक होता है फिर भी इस प्रचलित विचार को ही आधार मान कर हम फ्रांस के विचारजगत का अध्ययन करें।

फ्रांस की स्थितियों का विश्लेषण करके, कुछ संस्थाओं की निरर्थकता दिखाकर उन पर व्यंग्य करने वाले लोग फ्रांस में पैदा हो रहे थे। यथास्थिति से असंतोष बढ़ गया था। अब परिवर्तन की बात सोची जाने लगी थी। उस परिवर्तन की रूपरेखा स्पष्ट नहीं थी, न ही उसे करने का कोई निश्चित कार्यक्रम था। लेकिन यह अवश्य हुआ कि कुछ लेखकों ने मिलकर ऐसी मानसिकता तो बना ही दी कि फ्रांस में जो है वह अपर्याप्त या त्रुटिपूर्ण है। उसमें सुधार होना चाहिए और वह हो सकता है। ऐसा वातावरण तैयार करने का श्रेय कुछ व्यक्तियों और कुछ आंदोलनों को है। उनका संक्षिप्त अध्ययन करने से ही बात स्पष्ट हो सकेगी।

वोल्तेयर : इतिहास के विद्यार्थी के लिए वोल्तेयर का बहुत महत्व है। आधुनिक काल में उसने सबसे पहले इतिहास की समग्रता और सांस्कृतिक पहलुओं की महत्ता पर उचित बल दिया था। इतिहासकार होने के साथ ही वह एक बहुत अच्छा साहित्यकार भी था। उसने अपनी पुस्तकों में तत्कालीन भ्रष्ट तंत्र पर बहुत जहरीला प्रहार किया। वह इंग्लैंड से बहुत प्रभावित था और फ्रांस को उसके-अनुकूल ले चलने की सलाह देता था। सामंत हो, दरबार हो या चर्च, वह किसी को नहीं

बख्शता था। कैथोलिक चर्च की भ्रष्टता उसके व्यंग्य का सबसे अधिक शिकार होती थी। वह कहा करता था : 'अब तो कोई ईसाई बचा ही नहीं क्योंकि एक ही ईसाई था और उसे सलीब पर चढ़ा दिया गया।' (देयर वाज ओनली वन क्रिश्चियन ऐंड ही डायड आन द क्रास)।

उसने कोई विकल्प नहीं सुझाया। उसने क्रांति की भी बात नहीं की। अधिक से अधिक उसने इंग्लैंड जैसे सांविधानिक राजतंत्र की प्रशंसा की। लेकिन उसने लोगों के विवेक को उकसाया। तर्क की उपयोगिता बताई। उसने लोगों की तटस्थता और निर्लिप्तता तोड़ दी। लोगों के सामने एक आईना रखकर बताया कि दाग कहां लगा है। स्थिति अपरिवर्तनीय है, यह भ्रम उसने तोड़ दिया। उसने पुरातन व्यवस्था के सबसे शक्तिशाली आधारों पर भी प्रहार किया, बदले में उसे जेल भी जाना पड़ा लेकिन उसका साहस दुर्दम्य था। वह सबसे अधिक स्वतंत्रता को महत्व देता था। वह कहता था : 'मैं जानता हूं कि तुम जो कह रहे हो वह सही नहीं है। लेकिन तुम कह सको इस अधिकार की लड़ाई में मैं अपनी जान तक दे सकता हूं।' इस प्रकार विचार स्वातंत्र्य के लिए, जो उस समय के फ्रांस में संभव ही नहीं था, उसने पृष्ठभूमि बनाई। यद्यपि वह स्वयं एक सामंत था, उसका संघर्ष मध्यवर्ग के पक्ष में था।

इस तरह वोल्तेयर एक ऐसा कलम का सिपाही था जिसने परिवर्तन की बात बड़े प्रभावशाली और साहसपूर्ण ढंग से की। यही उसका सबसे बड़ा योगदान है।

मोंतेस्किउ : इतिहास में मोंतेस्किउ को 'पहला राजनीति शास्त्री' कहते हैं। उसने पहली बार राज्य तथा राजा और व्यक्ति के संबंधों का विश्लेषण किया। उसने केवल आलोचना ही नहीं की बल्कि विकल्प भी सुझाए। वह भी इंग्लैंड से बहुत प्रभावित था। लेकिन उसने वोल्तेयर की तरह केवल प्रशंसा नहीं की। उसने विश्लेषण किया कि कैसे कोई राज्य दूसरे से बेहतर हो जाता है।

सबसे पहले काल्पनिक यात्रियों के पत्रों (फारस के खत) के माध्यम से उसने तत्कालीन समाज की आलोचना की। फिर उसने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'कानून का सार' (स्पिरिट आफ लाज) में राज्य की सत्ता को समझाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया। इसमें मोंतेस्किउ सत्ता के तीन कार्य निर्धारित करता है : व्यवस्थापिका (कानून बनाना), कार्यपालिका (कानून लागू करना) तथा न्यायपालिका (कानून की परिभाषा करना)। यही उसका प्रख्यात 'शक्ति के विभाजन' का सिद्धांत है। उसके विचार से जब तक ये तीनों कार्य एक व्यक्ति या संस्था द्वारा संपन्न होंगे समाज में न्याय नहीं हो सकेगा। वह फ्रांस के शासन की प्रत्यक्ष आलोचना नहीं करता लेकिन चूंकि फ्रांस के एकतंत्र में हर कार्य राजा ही करता था, मोंतेस्किउ की आलोचना व्यवस्था पर प्रहार थी।

उसकी बात इतनी सारगर्भित थी कि उसे क्रांतिकारियों ने बाद में लागू

किया। लेकिन उसके भी पहले अमरीका का संविधान बनाते समय इस सिद्धांत को ध्यान में रखा गया। इसीलिए आज भी अमरीका में उपर्युक्त तीनों संस्थाएं एक दूसरे से मुक्त हैं।

रूसो : रूसो एक रूमानी तबियत का लेखक और विचारक था। उसे परंपराओं से कोई लगाव नहीं था। उसने प्रकृति और व्यक्ति की नैसर्गिक अच्छाइयों को सराहा। वह कहा करता था कि व्यक्ति ज्यों ज्यों संपत्ति और संस्थाओं के बंधन में बंधा है, कुटिल होता गया है। मनुष्य को अपना नैसर्गिक विकास करने का मौका मिलना चाहिए। अपनी पुस्तक 'एमिले' में उसने इसी आधार पर शिक्षा देने की बात की।

उसकी सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक 'सोशल कांट्रेक्ट' थी। इसमें उसने स्थापित किया कि प्रारंभिक मनुष्य 'प्रकृति की अवस्था' में रहता था। वह मासूम और गुणवान था। एक समझौते द्वारा राज्य का जन्म हुआ ताकि धनिकों की संपत्ति की रक्षा हो सके। उसने परंपरागत समझौते में परिवर्तन करने की अनिवार्यता की बात की। उसके विचार से लोकेच्छा ही सार्वभौम होती है (जेनरल विल इज सावरेन विल) लेकिन ऐसा हो नहीं पाता है क्योंकि 'व्यक्ति स्वतंत्र पैदा होता है लेकिन हर जगह वह बंधनों में बंधा रहता है' इन बंधनों से मुक्ति का तरीका भी उसने सुझाया। उसने 'प्रकृति प्रेम' (बैक टु नेचर) और नए समझौते की बात की।

उसके विचार ऐतिहासिक तथ्यों पर नहीं, कल्पना पर आधारित थे। वह यथार्थ से दूर एवं कल्पनालोक में रहता था। उसके विचारों की आलोचना भी हुई। कहा जाने लगा कि वह सारी प्रगति को नकार कर व्यक्ति को फिर जानवर बना देना चाहता है। वास्तविकता यह थी कि उसकी उर्वर कल्पनाशक्ति और सदाशयता ने एक और समाज की कल्पना की जो सद्‌गुणों पर आधारित हो। ऐसा कैसे होगा उसने कभी इसकी योजना नहीं प्रस्तुत की।

उसने क्रांति की भी बात नहीं की। लेकिन तत्कालीन संस्थाओं और व्यवस्थाओं को नकार कर उसने मार्गदर्शन किया। किसी एक व्यक्ति या संस्था में विश्वास न प्रकट करके उसने मानवमात्र में आस्था प्रकट की थी। सभी व्यक्तियों को उसने स्वतंत्र और समान माना था। इसीलिए फ्रांस की क्रांति के नारे : समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व, उसी के विचारों से प्रेरित थे। क्रांति के समय उसी के विचारों का सबसे अधिक प्रभाव पडा। एक क्रांतिकारी रोब्सपियर तो ('सोशल कांट्रेक्ट) को बाइबिल की तरह पूजता था। इसीलिए रूसो के अस्पष्ट और अव्यावहारिक विचार प्रेरणा दे सकते थे लेकिन कार्यान्वित नहीं हो सकते थे।

विश्वकोश : फ्रांस में कुछ ऐसे लेखक भी थे जो तत्कालीन समस्याओं को स्वीकारते तो थे लेकिन उनका विवेक प्रश्न खड़े करता था। दिदरो ऐसे ही लोगों में से था। उसने अन्य सहयोगियों, जैसे दालांबेर की मदद से एक विश्वकोश (एनसा-

इक्लोपीडिया) संकलित किया। इसमें विभिन्न विषयों का आधिकारिक वर्णन और आलोचना प्रस्तुत की गई। दिदरो ने स्वयं सैकड़ों लेख लिखे। विज्ञान, दर्शन, समाजशास्त्र और राजनीति संबंधी लेखों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया।

किसी परंपरा को इन लेखों में ज्यों का त्यों नहीं स्वीकारा गया। 'ज्ञानोदय' काल की यह एक प्रमुख उपलब्धि थी। दुनिया के इस पहले विश्वकोश ने ज्ञान के भंडार को एक जगह संकलित और उपलब्ध कर दिया। साथ ही नई परिभाषाएं और विश्लेषण देकर रूढ़िवादी विश्वासों पर प्रहार किया। मनुष्य और उसके विवेक को प्रतिष्ठित किया गया। फ्रांस में इस पर प्रतिबंध भी लगाए गए लेकिन यूरोप की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। कैथरिन इसकी ग्राहक और प्रशंसक थी।

इस प्रकार विश्वकोश के लेखकों ने अभूतपूर्व कार्य किया। उन्होंने फ्रांस और बाद में यूरोप का दृष्टिकोण बहुत हद तक प्रभावित किया। विशेष रूप से मध्य-वर्ग के संपन्न लोगों को अपने प्रशिक्षण में इन पुस्तकों से बहुत मदद मिली।

अर्थशास्त्री (फीजिओक्रैट्स) : फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था से असंतोष तो था लेकिन उसका विस्तार से विश्लेषण नहीं हुआ था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में कुछ ऐसे विचारक हुए जिन्होंने धरती को एकमात्र उत्पादक तत्व बताया। धरती से ही संबंधित कृषि, जंगल और खनिज पदार्थों को ही उत्पादन का साधन माना। ये ही धन के स्रोत माने गए। उन्होंने उद्योग और व्यवसाय को महत्व नहीं दिया। 'मरकैंटिलिज्म' के विचारों के विरुद्ध उन्होंने राज्य के प्रतिबंध हटा कर उन्मुक्त व्यापार का सिद्धांत प्रतिपादित किया।

इनका विचार था कि भूमि संबंधी समस्याओं का समाधान हो जाए तो देश की अर्थव्यवस्था सुधर जाएगी। इन विचारकों में केने और तूर्गो जैसे लोग थे जो कर व्यवस्था का सरलीकरण राज्य का पहला कार्य मानते थे। इनके विचारों से अंगरेज अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ प्रभावित हुआ था। इन विचारकों ने पहली बार आर्थिक विश्लेषण प्रस्तुत किया था। इन्होंने भी राज्य की अवरोधी जकड़ की निंदा की थी। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य की आलोचना होने लगी थी। मध्यवर्ग अपने अधिकारों के लिए हर क्षेत्र में लड़ रहा था। फिजिओक्रैट्स इसी प्रवृत्ति के परिचायक थे।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक ऐसा वातावरण बन गया था कि लोग, विशेषकर मध्यवर्ग, यथास्थिति से क्षुब्ध होकर परिवर्तन के लिए सचेष्ट थे। पेरिस तो बहुत ही उद्वेलित था। वर्साई के राजधानी बन जाने से पेरिस के लोग अपने को अपमानित महसूस करते थे। वहां मध्यवर्गीय परिवारों की बैठकों में जम कर आलोचना-प्रत्यालोचना होती थी।

इस पूरी जागरूकता का यदि विश्लेपण किया जाए तो एक वात स्पष्ट हो जाएगी—किसी भी विचारक ने, चाहे उसके विचार सामंतशाही के लिए कितने ही खतरनाक लग रहे हों, समाज के निचले तवकों यानी चौथे वर्ग के लिए कोई सहानुभूति नहीं दिखाई थी। कोई भी क्रांति के लिए तैयार नहीं था। वहुत संभव था कि यदि क्रांतिकाल में रूसो, जिसे नेपोलियन ने 'क्रांति का जनक' कहा था, जिंदा होता तो उसने क्रांति का उसी प्रकार विरोध किया होता जिस प्रकार उसी के विचारों से प्रेरित किसानों के विद्रोह को मार्टिन लूथर ने दवा देने का आग्रह किया था। इसलिए क्रांतिकाल में जनता का महत्व इसलिए नहीं वढ़ गया था कि रूसो ने ऐसी शिक्षा दी थी। ऐसा परिस्थितियों के दवाव के कारण ही हुआ था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परिवर्तन की आकांक्षा ने, प्रायः क्रांति विरोधी विचारों के प्रचलन के वावजूद, स्थितियों के दवाव के कारण एक क्रांतिकारी मोड़ ले लिया।

क्रांति

लूई षोडश स्वयं तो शासन के अयोग्य था ही, उसने योग्य मंत्रियों की सलाह भी नहीं मानी। फ्रांस की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उन स्थितियों से स्पष्ट है कि असंतोष हर क्षेत्र में व्याप्त था और लोग परिवर्तन के इच्छुक थे। लूई ने एक के वाद दूसरा मंत्री वदला लेकिन किसी को पूरा अवसर नहीं दिया गया। उसके मंत्रियों में तूर्गो और नेकर योग्य थे लेकिन दरवारी षड्यंत्रों और लूई की अदूरदर्शिता के कारण वे वर्खास्त कर दिए गए।

अमरीका के स्वतंत्रता संग्राम में फ्रांस ने अमरीका की मदद की थी। उससे एक तो जर्जर अर्थव्यवस्था और लड़खड़ा गई दूसरे वहां से विजयी सैनिक जव लौटे तो उन्हें लगा कि दूसरों की वे स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ सकते हैं लेकिन अपने देश में परतंत्र हैं। उन्होंने असंतोष को नया आयाम दिया। इस बीच राज्य दिवालिया होता जा रहा था। मंत्री हर सुधार करता था लेकिन करमुक्त विशेषाधिकार संपन्न लोगों पर कर लगाने का साहस नहीं कर सकता था। आमदनी का और कोई जरिया ही नहीं था। ऋण वढ़ते गए और दिवालियापन की स्थिति आ गई। मजवूरन लूई को फ्रांस के विशिष्ट लोगों (लेनोताव्ल) की सभा वुलानी पड़ी। इन विशिष्ट लोगों ने कोई विकल्प नहीं सुझाया। तत्कालीन फ्रांस की आर्थिक स्थिति सुधारने का एकमात्र तरीका था उन लोगों पर कर लगाना, जो कर मुक्त थे, जो देश की अधिकांश जमीन और संपत्ति के मालिक थे। विशिष्ट लोगों की सभा अपने जैसे विशेषाधिकार संपन्न लोगों पर कर कैसे लगाती?

उन्होंने टालने की नीति अपनाई। इस समय एक प्रस्ताव आया कि नए कर लगाने का अधिकार केवल देश की प्रतिनिधि सभा (स्टेट्स जनरल) को है। इस सभा का अधिवेशन पिछले एक सौ पचहत्तर वर्षों से नहीं हुआ था। लोग उसके स्वरूप के बारे में भूल चुके थे। सामंतों और पादरियों ने सोचा कि स्टेट्स जनरल की सभा आसानी से बुलाई नहीं जा सकेगी और उन पर कर नहीं लग सकेगा। इस प्रकार यथास्थिति बनी रहेगी और वे मौज करते रहेंगे।

लूई के पास कोई और चारा नहीं था। उसने घोषणा कर दी कि स्टेट्स जनरल का चुनाव होगा। यह स्वयं में एक क्रांतिकारी घोषणा थी क्योंकि लूई चतुर्दश के उत्तराधिकारी ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली थी। इस घोषणा से स्पष्ट हो गया था कि राजा अपनी सारी सत्ता के बावजूद संकट का निदान ढूंढ़ने में असमर्थ हो गया था।

सभा का अधिवेशन बुलाया गया। राजा से मतभेद होने के कारण उसने स्वयं को देश की संविधान सभा घोषित कर दिया। पेरिस की क्षुब्ध भीड़ ने 14 जुलाई 1789 को राजधानी के पास ही स्थित बास्तीय के किले पर हमला करके उसे तहस-नहस कर दिया। बास्तीय में राजनीतिक कैदी रखे जाते थे और वह देश में निरंकुशता का प्रतीक समझा जाता था। बास्तीय का पतन एकतंत्र का पतन समझा गया। सारे यूरोप के स्वतंत्रता प्रेमियों ने हर्ष प्रकट किया और फ्रांस की क्रांति का स्वागत किया। कुछ ही दिनों में संविधान सभा ने सारे विशेषाधिकारों का अंत कर दिया। एक संविधान बना जिसमें राजा के अधिकार सीमित कर दिए गए। एक सांविधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई। यह सब असहाय राजा को बेमन से स्वीकारना पड़ा।

इस प्रकार सदियों की स्वेच्छाचारिता, असमानता और भ्रष्ट निरंकुशता के विरुद्ध स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा देने वाले मध्यवर्ग की विजय हुई। फ्रांस की यह ऐतिहासिक क्रांति मानव के विकासक्रम का एक और गौरवशाली कदम साबित हुआ।

12
औद्योगिक क्रांति

क्रांति का परिणाम यदि आमूल परिवर्तन होता है तो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंग्लैंड में प्रारंभ हुई परिवर्तन की प्रक्रिया क्रांतिकारी थी। इस समय इंग्लैंड में मशीनों के बढ़ते प्रयोग के कारण न केवल उद्योग के क्षेत्र, स्वरूप और उत्पादन प्रक्रिया में तेजी से परिवर्तन हुए, वल्कि सामाजिक-आर्थिक संरचना ही डगमगा गई और उसमें अनिवार्य परिवर्तन करने पड़े। परिणामस्वरूप राजनीतिक तंत्र भी वदला। नई संस्थाओं और मूल्यों का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड ही नहीं सारा यूरोप और फिर सारा विश्व एक नए मार्ग पर अग्रसर हो गया। दुनिया वही नहीं रह सकी जो पहले थी। औद्योगिक जीवन में प्रारंभ हुई इस प्रक्रिया को औद्योगिक क्रांति कहते हैं। इस क्रांति का प्रभाव फ्रांस की राज्य-क्रांति से अधिक मौलिक, स्थाई और दूरगामी सिद्ध हुआ है। इसलिए इसके क्रमिक और अपेक्षतया धीमे विकास और विस्तार को देखते हुए जो लोग इसे क्रांति की संज्ञा देने में हिचकते हैं वे क्रांति की सीमित परिभाषा करते हैं और इसीलिए क्रांति विरोधी सिद्ध होते हैं।

इस क्रांति की व्यापकता का सबसे स्पष्ट प्रमाण यही है कि इसने प्राचीन अर्थव्यवस्था, सामाजिक स्वरूप, जनसंख्या की वृद्धि और आवादी की इकाइयों, उत्पादन और वितरण प्रणालियों, वित्त और मुद्रा के व्यवहार, विकास समाज के विभिन्न वर्गों के निरूपण और परस्पर संवंध, संचार साधनों, सांस्कृतिक जीवन और जीवन मूल्यों अर्थात जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों को प्रभावित ही नहीं किया, उन्हें वदल डाला। स्पष्ट है कि ऐसे परिवर्तन को देश-काल में सीमित करके समझना दुराग्रह होगा। फिर भी यह उपक्रम इंग्लैंड में शुरू हुआ क्योंकि स्थितियां वहीं सबसे अनुकूल थीं। लेकिन इस क्रांति ने जितने क्रांतिकारी परिवर्तन अन्य देशों मे किए उतने अपनी जन्मभूमि में नहीं।

परिस्थितियां

इस व्यापक परिवर्तन.का प्रारंभ इंग्लैंड में हुआ। इसलिए वहीं हमें इसके कारण ढूंढ़ने होंगे।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में इंग्लैंड में एक प्रकार से 'कृषि क्रांति' हो गई थी। परंपरागत कृषि प्रणाली में नए प्रयोगों के कारण अधिक व्यवस्था आ गई थी और उत्पादन बढ़ रहा था। पहले यूरोप के अन्य देशों की तरह इंग्लैंड में भी भूमि छोटे-बड़े जमींदारों में बंटी हुई थी जो स्वयं खेती नहीं कर सकते थे। परिणाम यह होता था कि बहुत सी जमीन परती पड़ी रह जाती थी और जो पैदा होता था वह भी पर्याप्त नहीं होता था। बाबा आदम के जमाने वाले उपकरण, मेहनत करने वालों की कम से कम हिस्सेदारी, खुली खेती, भूमि के गलत वितरण और प्रेरक तत्वों के अभाव के कारण इतना भी नहीं पैदा होता था कि देश की अपनी आवश्यकताएं पूरी हो जाएं। लेकिन इन्हीं कारणों से जूझने वाले प्रयत्न प्रारंभ हो चुके थे और उसका पहला स्पष्ट प्रमाण शताब्दी के प्रारंभ होते ही 1701 में मिला जब 'टल' नामक व्यक्ति ने ड्रिल नामक मशीन बना डाली जिससे एक एक कर एक कतार में बीज बोए जा सकते थे। 'टाउनशेंड' ने विभिन्न फसलों को बारी बारी से बोकर भूमि को अलग अलग फसलों के लिए अलग से तैयार करने की पद्धति निकाली। 'बेकवेल' ने पशुधन में वृद्धि के लिए नस्ल सुधार का तरीका ढूंढ लिया और कुछ ही दिनों में 'कालिंग' ने बैलों की नस्ल सुधारकर खेती और भोजन दोनों की स्थिति सुधार दी। 'आर्थर यंग' ने जिसे 'नई खेती का मसीहा' कह सकते हैं, न केवल अपने खेतों में वैज्ञानिक खेती शुरू की बल्कि औरों के बीच इन तरीकों का प्रचार भी किया।

ये नए प्रयोग स्वेच्छा से स्वीकार नहीं होते यदि कल्पनाशील सरकार ने उनका महत्व समझकर स्वयं उनके प्रचार के लिए प्रेरणा और कानून, दोनों का सहारा लिया होता। सरकार ने कृषि विभाग खोला और आवश्यकता पड़ने पर दबाव डालकर भी वैज्ञानिक खेती का प्रचार-प्रसार करवाया।

थोड़े ही दिनों में इंग्लैंड अपेक्षतया कम जमीन उपलब्ध होने पर भी यूरोप के देशों में अग्रणी हो गया। यहां तक कि प्रशा के शासक 'फ्रेडरिक महान' ने इंग्लैंड की कृषि को आदर्श मान कर उसका अपने देश में अनुकरण कर प्रशा की स्थिति सुधार ली। इन परिवर्तनों ने गांवों में ध्रुवीकरण शुरू कर दिया। बड़े जमींदार बड़े होते गए और छोटे किसानों की जमीन हड़पते गए। ये या तो गांवों में ही खेतिहर मजदूर होने या आजीविका की तलाश में नगर की ओर पलायन करने को बाध्य हो गए। इससे एक ओर तो नगरों में रोजगार का संकट तेजी से बढ़ा और मजदूर सस्ते में उपलब्ध हो गए और दूसरी ओर धन संचय होने लगा। वर्ग विभाजन और उनके बीच संघर्ष स्पष्ट करने में इस कृषि क्रांति का महत्वपूर्ण योगदान था। यह औद्योगिक क्रांति के लिए उपजाऊ पृष्ठभूमि थी।

कृषि के साथ व्यापार में भी उन्नति हो रही थी। ट्यूडर वंश का अंत होते होते इंग्लैंड पूरी तरह एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में स्थापित हो चुका था।

'फिलिप द्वितीय' के वेड़े को पराजय ने इंग्लैंड को एक अग्रणी सामुद्रिक शक्ति के रूप में स्थापित कर दिया था। सत्रहवीं शताब्दी में आंतरिक उथल-पुथल के वावजूद विदेशों में अंगरेज व्यवसाइयों का व्यापार वढ़ रहा था। अमरीका से हिंदुस्तान तक हर जगह अंगरेज वढ़ोतरी पर थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापार वढ़ता जा रहा था। इससे एक तरफ धन इकट्ठा हो रहा था, दूसरी ओर कच्चा माल कम दाम पर उपलब्ध था। साथ ही अब सामान के लिए देश ही नहीं विदेशों का विस्तृत वाजार खुला पड़ा था। इस तरह मांग वढ़ रही थी—देश में भी, विदेश में भी। पुराने तरीकों से आपूर्ति असंभव थी, इसलिए नए तरीके ढूंढे जाने लगे। इसी खोज का परिणाम था नई मशीनों का आविष्कार।

मांग को पूरा करने के प्रयासों के लिए धन की आवश्यकता थी जो कृषि और व्यवसाय की उन्नति के कारण तेजी ते संचित हो रहा था। इंग्लैंड में फ्रांस जैसी विलासिता की परंपरा भी नहीं थी, इसलिए यह धन संचित होता जा रहा था। वह नए प्रयोगों और चुनौतियों के लिए उपलब्ध था।

मांग और धन के साथ श्रम की आवश्यकता थी और कृषि क्षेत्र में हुए परिवर्तनों ने भारी संख्या में कृषकों को वेकार कर दिया था जो किसी भी कीमत पर रोजी कमाने के लिए मजबूर थे। ये सस्ते मजदूर उत्पादन में वृद्धि के लिए वरदान सिद्ध हुए।

सव कुछ तो था लेकिन उपलब्ध उपकरणों में परिवर्तन के विना उत्पादन नहीं बढ़ सकता था। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' इस सिद्धांत के अनुसार मानव के श्रम के महत्तम इस्तेमाल के लिए यंत्रों की खोज शुरू हुई। और इस प्रकार औद्योगिक क्रांति की स्पष्टतम अभिव्यक्ति 'मशीनों का आविष्कार' व्यक्त के रूप में हुई।

सवसे पहले 1733 में 'जान के' ने 'फ्लाइंग शटल' का आविष्कार किया जिसने जुलाहों की बुनाई को कई गुना बढ़ा दिया। यह आकस्मिक नहीं था। इंग्लैंड का कपड़ा उद्योग सर्वप्रमुख था और उसी में परिवर्तन की मांग सवसे अधिक थी। कुछ ही दिनों वाद 'जेम्स हारग्रीव्ज' ने एक ऐसा चरखा (स्पिनिंग जेनी) बनाया जिसमें एक पहिया घुमाने पर आठ जगहों से सूत काता जा सकता था। 1769 में 'आर्कराइट' ने भाप की शक्ति से चलने वाले चरखे वना लिए और पंद्रह वर्षों वाद 'कार्टराइट' ने पहला पावरलूम वना लिया। अव करघों नहीं कारखानों की जरूरत पड़ गई और वस्त्र-उद्योग ने बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरू किया। यह एक नए युग का प्रारंभ था।

यंत्रों के विकास के लिए शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त किसी शक्ति की आवश्यकता थी। यह कमी भाप ने पूरी कर दी। भाप की शक्ति का तो पता था लेकिन 1764 में जब जेम्स वाट ने भाप से चलने वाला इंजन बनाया तब धीरे

धीरे इसका प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में शुरू हुआ। खानों से पानी निकालने, छपाई करने और सामान ढोने तक के लिए भाप की शक्ति का प्रयोग होने लगा। 'स्टीवेंसन' ने ऐसा इंजन बना लिया जो रेल की पटरियों पर भारी भारी डिब्बों को भी खींच सकता था। यातायात के क्षेत्र में यह एक जबरदस्त मोड़ था। धीरे धीरे सामुद्रिक यात्राओं के लिए भी भाप के इंजन लगी नौकाओं का प्रयोग शुरू हुआ। (यह शक्ति कितनी निर्णायक हो सकती थी इसका सबसे स्थूल उदाहरण यह है कि नेपोलियन के सामने जब ऐसे जहाजों के निर्माण का प्रस्ताव रखा गया तो उसने उसे महत्व नहीं दिया और अंगरेजों ने अपनी नौसेना को धीरे धीरे इस नई शक्ति से सुसज्जित कर लिया। यदि फ्रांसीसी नौसेना अधिक शक्तिशाली हो जाती तो यूरोप का इतिहास वही नहीं रह जाता।

यातायात के क्षेत्र में सड़कों के निर्माण में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। पहले सड़कें पत्थर के बड़े बड़े टुकड़ों से बनाई जाती थीं और तेज यात्रा के लिए ठीक नहीं होती थीं। 'मैकेडम' नामक इंजीनियर ने गिट्टियों को जमाकर सड़क बनाने का जो तरीका निकाला वह कितना अच्छा था, इसका प्रमाण यह है कि आज भी अधिकांशतः सारी दुनिया में वैसे ही सड़कें बनाई जाती हैं और उनका नाम भी उसी शक्ति के नाम पर 'मैकेडेमाइज्ड' रखा जाता है। सड़कों के साथ नहरों के निर्माण में भी नए तरीकों का प्रारंभ हुआ। 'ब्रिजवाटर के ड्यूक' ने 'ब्रिडले' नामक इंजीनियर की सहायता से नहरों द्वारा विभिन्न नगरों को जोड़ने का कार्य शुरू किया और इस तरह अब यातायात का साधन सड़कें ही नहीं रह गईं। रेलों और नहरों ने इसे और सुगम बना दिया।

इसी तरह विभिन्न प्रकार की मशीनें बनने लगीं और उनका विभिन्न उद्योगों में उपयोग होने लगा। धीरे धीरे सारे उद्योगों का मशीनीकरण हो गया। औद्योगिक क्रांति का इस प्रकार सबसे स्पष्ट कारण मशीनों का आविष्कार-निर्माण और उद्योगों में उनका उपयोग ही था।

मशीनों के निर्माण और उनके चलाने के लिए शक्ति के उत्पादन में लोहे और कोयले की महत्वपूर्ण भूमिका थी। प्रारंभिक दिनों में यातातात इतना उन्नत नहीं था कि दूर दूर से लोहा कोयला एक जगह इकट्ठा किया जाए। इसलिए उनका और उनके उपयोग से संबद्ध अन्य खनिजों का पास पास होना भी जरूरी था। इंग्लैंड में यह सब एक साथ उपलब्ध था। इसलिए निर्माण कार्य अधिक सरल सिद्ध हुआ।

मशीनों के उपयोग के कारण बढ़े उत्पादन की खपत देश में ही संभव नहीं थी। दूसरे देशों में बाजार थे लेकिन वहां नियम-कानून और स्पर्धा का अंकुश था। इसलिए अमरीका से भारत तक फैले उपनिवेशों ने सुरक्षित बाजार प्रस्तुत किए जहां मनमाने ढंग से कच्चा माल खरीदा जा सकता था और इंग्लैंड में बना

माल वेचा जा सकता था। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि औद्योगिक क्रांति की नींव में भारत का खून-पसीना डाला गया था। बंगाल के लाखों श्रमजीवी, विशेषकर जुलाहे, इंग्लैंड की वेदी पर वलि का वकरा वन चुके थे। ज्यों ज्यों बंगाल और फिर पूरे भारत की आर्थिक दशा खराब होती गई त्यों त्यों मैंनचेस्टर और फिर पूरे इंग्लैंड का विकास होता गया। यह सुरक्षा औद्योगिक क्रांति की रीढ़ वन गई।

यह सुरक्षा इंग्लैंड को इसलिए मिल सकी क्योंकि इंग्लैंड में यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा अधिक शांति और व्यवस्था थी। उसकी सामरिक शक्ति विशेषकर सामुद्रिक शक्ति उसकी सुरक्षा की गारंटी थी। देश की राजनीति अपेक्षतया निश्चित दिशा में अग्रसर थी। सरकार कल्पनाशील और अधिक समझदार थी। ऐसे वातावरण में अनिश्चित कार्यों में धन लगाने से नुकसान का डर नहीं था। न तो सरकार का इतना नियंत्रण था कि व्यक्तिगत पहल को महत्व ही न हो जैसा फ्रांस में था, न ही इतनी छूट थी कि कोई व्यक्ति पहल करे ही नहीं। यह तथ्य भी इस नए दौर में निर्णायक सिद्ध हुआ।

आधुनिक युग के आर्थिक विकास में धन के प्रवाह और नियोजन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह कार्य वैंक ही कर सकते हैं। इंग्लैंड में वैंकों का सुनियोजित विकास हुआ था जिस कारण व्यक्ति के धन का व्यक्तिगत और सामूहिक उपयोग नियोजित हो सकता था और उसमें सरकारी नीतियों का महत्तम लाभ उठाया जा सकता था। धन का यह नियोजन भी औद्योगिक क्रांति के लिए जिम्मेदार था।

इंग्लैंड की द्वीपीय स्थिति भी एक सीमा तक इसके लिए जिम्मेदार थी। इंग्लैंड यूरोप में स्थित होने और उससे अलग द्वीप होने—दोनों ही स्थितियों का लाभ उठाता था। यूरोप की राजनीति में वह तभी हिस्सा लेता था जब उसके लिए जरूरी हो। जिस समय औद्योगिक क्रांति का प्रारंभ हुआ, फ्रांस किसी भी तरह इंग्लैंड से पीछे नहीं था। लेकिन 1760 से 1789 के बीच के तीस वर्षों में फ्रांस पहले आकंठ युद्धों में डूबा रहा और फिर क्रांति की लपेट में आ गया। इधर इंग्लैंड नए उपकरणों के उपयोग से अपनी विकास यात्रा पर अग्रसर रहा। क्रांति के दष वर्षों में इंग्लैंड ने पूरा लाभ उठाया। नेपोलियन ने जव इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध शुरू किया और उसकी असफल नाकावंदी की तो उल्टे इंग्लैंड का लाभ ही हुआ और उसका व्यापार विश्वव्यापी हो गया।

इस प्रकार इंग्लैंड की व्यावसायिक और राजनीतिक शक्ति साथ साथ एक दूसरे को प्रभावित करते हुए बढ़ती चली गई।

लेकिन प्रश्न यह है कि ऐसा इंग्लैंड में ही क्यों हुआ ?

इस प्रश्न का सरलतम उत्तर यह है कि इंग्लैंड में ही औद्योगिक क्रांति के

लिए सर्वाधिक अनुकूल स्थितियां थीं। थोड़े और विस्तार में जाएं तो स्पष्ट हो जाएगा कि किसी भी परिवर्तन के लिए एक अंतर्निहित मांग, एक पृष्ठभूमि आवश्यक होती है। इंग्लैंड में उत्पादन का जो स्तर सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक पहुंच चुका था उसमें उन्हीं उपकरणों द्वारा वृद्धि असंभव थी। कारीगरों के हाथों की क्षमता अपने चरतोत्कर्ष पर थी और वृद्धि के लिए दूसरे उपादान आवश्यक थे। इनकी खोज शुरू हुई। खोज में धन की आवश्यकता थी। नई खोजों के इस्तेमाल में धन लगाने के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता थी। वह इंग्लैंड में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। कृषि में हुए परिवर्तनों, उपनिवेशों के शोषण, अफ्रीका में पकड़े गए गुलामों की भारी पैमाने पर बिक्री और अन्य देशों के माल से लदे जहाजों की लूट ने बहुत अधिक धन संचित कर दिया था। इस धन का उपयोग फ्रांस जैसे देश में बढ़ती विलासिता में उपयोग हो जाता। लेकिन इंग्लैंड में व्यक्ति का जीवन अपेक्षतया अधिक संयमित था। यह धन नए प्रयोगों और उनके उपयोग में लगा। उत्पादन बढ़ने में लाभ अधिक हो इसके लिए सस्ते मजदूर चाहिए थे। गांवों में हुए कृषि संबंधी परिवर्तनों ने ढेरों व्यक्तियों को बेरोजगार कर रखा था जो शहरों में किसी भी मजदूरी पर उपलब्ध थे। मशीनों का आविष्कार शुरू हुआ और उनके उपयोग को धनिकों और मालिकों ने ही नहीं सरकार ने भी प्रोत्साहित किया। इतिहासकार 'रूदे' का मत है कि इंग्लैंड में ही एक ऐसा औद्योगिक उत्साहियों का वर्ग था जो मशीनों का उपयोग करने के लिए तत्पर था। देश में व्यवस्था थी। समर्थ लोगों को कानून के संरक्षण के अंदर काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। वे ही सत्ताधारी थे, इसलिए उनके लाभ को सरकार का सहयोग प्राप्त था। बढ़े उत्पादन का अतिरिक्त माल उपनिवेशों में मनमाने भाव पर बेचा जा सकता था और वहीं से सस्ता कच्चा माल भी प्राप्त हो सकता था। इनके यातायात के लिए इंग्लैंड के पास एक शक्तिशाली बेड़ा था जिसे नौसेना की सुरक्षा प्राप्त थी।

ऐसा फ्रांस में भी हो सकता था जहां वे ही स्थितियां विद्यमान थीं लेकिन सत्रहवीं शताब्दी में लूई चतुर्दश द्वारा शुरू किया गया युद्ध का सिलसिला जारी था। उसके मरने के बाद लूई पंचदश ने भी दो बड़े बड़े युद्ध लड़े जो विनाशकारी सिद्ध हुए। वह सिलसिला अभी खतम ही हुआ था कि फ्रांस अमरीका की स्वतंत्रता की लड़ाई में कूद पड़ा। वहां से छुट्टी मिली तो क्रांति हो गई और फिर एक संकीर्ण गैरआधुनिक तानाशाह नेपोलियन ने उसे पकड़ लिया। शताब्दियों तक चलने वाले इस सिलसिले में धन युद्ध पर खर्च होता रहा। साथ ही विलासिता राजधानी से सामंत की गढ़ी तक हर कहीं व्याप्त थी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुटीर उद्योग पर्याप्त था। इसके अतिरिक्त फ्रांस के निरंकुश एकतंत्र में राजा के अतिरिक्त किसी को तनिक भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी और राजा

स्वयं पूरी तरह मध्ययुगीन थे। ऐसी स्थिति में राजनीतिक स्थिति किसी नए अभियान के लिए सर्वथा प्रतिकूल थी। जिस किसी ने पहल की उसे प्रशंसा के स्थान पर सजा मिली। भारत में 'क्लाइव' की पहल ने अंगरेजों का एक साम्राज्य खड़ा कर दिया और उसे धन और सम्मान दोनों प्राप्त हुआ। दूसरी ओर 'डूप्ले', जिसने सबसे पहले भारत में यूरोपीय साम्राज्य की कल्पना की और फ्रांसीसी शक्ति की जड़ जमाई, उसे सम्मान को कौन कहे अपमानित होकर यंत्रणाएं सहनी पड़ीं। ऐसी स्थिति में औद्योगिक क्रांति जैसी व्यापक और जटिल प्रक्रिया के लिए कहां से अनुकूल वातावरण मिलता ? इसके अलावा इतिहासकार 'डेविड टामसन' का यह विचार तर्कसंगत है कि फ्रांस का कृषि के क्षेत्र में आत्मनिर्भर होना उसके औद्योगिक विकास के मार्ग में व्यवधान बन गया। उसे अनाज खरीदने के लिए सामान बेचने की अनिवार्यता नहीं थी। इंग्लैंड के लिए अतिरिक्त धन जुटाना जरूरी था क्योंकि उसे हमेशा अनाज विदेशों में खरीदना पड़ता था।

धीरे धीरे औद्योगिक क्रांति का गुणात्मक और क्षेत्रीय विस्तार होता गया। स्वयं इंग्लैंड में उन्नीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों में मशीनों का उपयोग शुरू हो गया। एक प्रकार से उद्योग का यंत्रीकरण हो गया। शताब्दी समाप्त होते होते विज्ञान ने अलादीन का चिराग दे दिया समर्थों को। आविष्कारों का तांता लग गया और न केवल धरती से पैदा होने वाली वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा, मनुष्य ने स्वयं नई नई वस्तुएं बनानी शुरू कर दीं। व्यवसाय और उद्योग के लिए जिन मशीनों का आविष्कार हुआ था उन्होंने यंत्रों के विस्तार का वह क्रम शुरू किया कि इंग्लैंड के जनजीवन का कोई पक्ष अछूता नहीं बचा।

निश्चित था कि परिवर्तन का यह प्रवाह एक द्वीप तक सीमित नहीं रह सकता था। इस युगांतरकारी प्रभाव का विस्तार अनिवार्य था। धीरे धीरे यूरोप के अन्य क्षेत्रों, विशेषकर फ्रांस और जर्मनी में, नए आविष्कारों का प्रयोग शुरू हुआ और फिर प्रायः सभी देशों में न्यूनाधिक मशीनीकरण हुआ। न चाहते हुए भी गुलाम देशों में भी मशीनें आईं ही। एक यंत्रचालित विकासोन्मुख उद्योगतंत्र का पेट उपनिवेशों के हाथ तो नहीं भर सकते थे। तभी तो भारत के विकास को कुंठित कर देने के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में अपने ही हित में अंगरेजों को रेल-तार और मिलें आदि भारत लानी पड़ीं। इस तरह सारी दुनिया औद्योगिक क्रांति की चपेट में आ गई। किसी देश, समाज या सरकार ने चाहा या नहीं चाहा, मशीनें निर्बाध सब को रौंदती गईं। क्रम अब भी जारी है।'

औद्योगिक क्रांति का प्रभाव

वास्तव में मानव समाज जितना औद्योगिक क्रांति से प्रभावित हुआ है उतना

शायद ही किसी अन्य परिवर्तन प्रक्रिया से। आधुनिक युग के प्रारंभ में यूरोप में हुए पुनर्जागरण ने समाज में मध्यवर्ग और मध्यवर्गीय मूल्यों की स्थापना करके एक नए युग का प्रारंभ किया था। लेकिन दो शताब्दियों में इस मध्यवर्ग की अस्मिता भले ही स्पष्ट हुई हो, उसकी शक्ति का परिचय नहीं मिल पाया था। न ही इस परिवर्तन का प्रभाव समस्त मानव समाज या मानव जीवन के समस्त क्षेत्रों पर ही पड़ा था। लेकिन औद्योगिक क्रांति ने इस मध्यवर्ग की शक्ति और संभावना को अभिव्यक्ति दी, हर कहीं हर किसी के जीवन को प्रभावित किया। आधुनिक युग का पौधा फल-फूल तो रहा था लेकिन था एक पौधा ही। औद्योगिक क्रांति ने उसे एक विराट वृक्ष वना दिया।

औद्योगिक क्रांति के कुछ प्रभाव तात्कालिक थे: अब तक मनुष्य निर्द्वंद्व था। उसे प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता था और प्रकृति जहां मित्रवत व्यवहार करती थी वहां उसे सहर्ष कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता था और जहां इसका व्यवहार शत्रुवत हो जाता था, वह उससे संघर्ष करके स्थितियों को अपने अनुकूल वना लेता था। इस कार्य में उसे काफी सफलता मिल चुकी थी और सामान्य जीवन में प्रकृति से द्वंद्व को अव वह हर क्षण महसूस नहीं करता था। अव उसका एक प्रतिद्वंद्वी स्वयंनिर्मित मशीन के रूप में तैयार हो गया था। यह मशीन भी वास्तव में उसकी मित्र ही थी लेकिन उसका उपयोग समर्थ लोग मात्र अपने हित में करने लगे। परिणाम यह हुआ कि जहां एक ओर धनिक पूंजीपति और धनी होने लगा, वहीं छोटा मजदूर और कारीगर संत्रस्त होने लगा। मशीन उसका अंशत: विकल्प—अधिक समर्थ विकल्प बन गई। छोटे उद्योग अब समाप्त होने लगे। सीमित साधनों के आधार पर अपने हाथों या परिवार के सहयोग से काम करने वाले कारीगर मशीनी उत्पादन की प्रतिस्पर्धा के सामने टूटने लगे। इस प्रकार समाज में एक ध्रुवीकरण प्रारंभ हो गया। धनी और धनी तथा गरीव और गरीव होने लगे। लघु और कुटीर उद्योगों के खंडहर पर बड़े उद्योगों की इमारतें खड़ी होने लगीं।

दूसरा तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि गांव बिखरने लगे। व्यवसाय बढ़ने के बाद भी गांव अपनी आवश्यकता की पूर्ति अधिकांशत: स्वयं करते थे और कुछ अतिरिक्त उत्पादन करके नगरों की मांग पूरी कर देते थे। इस धन से उनकी अन्य जरूरतें पूरी होती थीं। अब उद्योग बड़े होने लगे और आवश्यक हो गया कि वे शहर में ही स्थापित हों। इस प्रकार भारी पैमाने पर नगरीकरण शुरू हुआ। औद्योगिक नगरों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी होने लगी। इससे आबादी का संतुलन बिगड़ने लगा। नगरों में आवश्यकता से अधिक लोग वसने लगे क्योंकि वहां रोजगार और व्यवसाय की संभावनाएं थीं। दूसरी ओर गांवों की आबादी घटने लगी।

तीसरा तात्कालिक प्रभाव मजदूरों के नगरों में बढ़ते जमघट से संबंधित था। साधनहीन मजदूरों के पास श्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। इसलिए पूरी तरह सर्वहारा श्रमिक अपनी समस्याओं से जूझता हुआ औरों के लिए भी समस्याएं पैदा करने लगा। बढ़ते नगरीकरण के कारण नगरों में आवास की समस्या बढ़ी। गंदगी बढ़ने लगी। कानून और व्यवस्था संबंधी कठिनाइयां जन्मने लगीं और सामाजिक विषमता बुरी तरह नगरों में आंखों को चुभने लगी।

मध्यवर्ग जिसका चरित्र तो स्पष्ट था लेकिन जिसकी शक्ति अभी तक पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं हो पाती थी अब अपने में से एक अधिक शक्तिशाली पूंजी-पति वर्ग द्वारा निर्देशित होने लगा। पूंजीपतियों की आमदनी ही नहीं शक्ति भी बढ़ने लगी। इस शक्ति का उपयोग वह जीवन के हर क्षेत्र में करने लगा। राज-सत्ता पर भी पूंजीपतियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगा क्योंकि नियम-कानून उसके हितों के अनुकूल बनने लगे।

किसी भी समाज में बाजार उसके वाह्य स्वरूप ही नहीं उसकी अंतरंचना का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। अब तक बाजार छोटे, नियमित, नियंत्रित और अपेक्षतया सरल हुआ करते थे। औद्योगिक क्रांति ने उनका स्वरूप बदल डाला। उनका आकार-प्रकार तो बढ़ा ही, वे जटिल और बेलगाम होने लगे। वहां सामानों की प्रचुरता के समानांतर उन्हें खरीदने वालों की सीमाएं खटकने लगीं। सामानों के भाव मनमाने ढंग से तय होने लगे। 'मार्क्स' द्वारा व्याख्यायित अतिरिक्त मूल्य यानी उचित से अधिक मुनाफे की लीला स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगी।

समाज एकदम तनावहीन कभी नहीं था। लेकिन अब तक तनाव और तज्ज-नित संघर्षों पर सामाजिक और सरकारी नियंत्रण थोप दिया जाता था। सत्ता-धारी लोगों के हित पूरे समाज पर इस तरह लादे जाते थे कि अभावग्रस्त लोग भी या तो उफ तक नहीं कर पाते थे या करते थे तो उन्हें प्रायः दबा दिया जाता था। अब मजदूर और मालिक के हित इतने व्यापक और स्पष्ट रूप से टकराने लगे कि तनाव पर परदा डाल पाना संभव नहीं था। सामाजिक उद्वेलन बढ़ने लगा। अंतर्विरोध प्रकट होने लगे और भावी संघर्ष के लक्षण उभरने लगे। यूरोप को जहां अतीत पुराने रोमन कानून, यूनानी संस्कृति, ईसाई धर्म, सामंती और राजसी संस्थाओं के रूप में जीवित था, 'टामसन' के अनुसार, न केवल लाखों के लिए भोजन और आवास का प्रबंध करना पड़ा बल्कि अपनी परंपराओं को मशीनों, भापमिलों और नगरों की नई दुनिया के अनुकूल बनाना पड़ा।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रभावों का परिप्रेक्ष्य और अधिक व्यापक और दूरगामी सिद्ध हुआ :

औद्योगिक क्रांति ने विभिन्न वर्गों का चरित्र और अधिक स्पष्ट कर दिया तथा उनके परस्पर संबंधों को और धारदार बना दिया। चूंकि इन संबंधों में हितों

का संघर्ष निहित था इसलिए वर्ग संघर्ष वास्तव में औद्योगिक क्रांति के बाद ही तेज हुआ। अपने श्रम मात्र पर जीवित रहने वाला सर्वहारा वर्ग बढ़ने और संगठित होने लगा। ज्यों ज्यों बढ़ा उत्पादन केवल मालिकों की जेब भरने लगा त्यों त्यों मजदूर की हालत खराब होती चली गई। मिलों में 16 या 18 घंटे काम करने के बाद भी न रहने का ठिकाना होता था न खाने का। नारियां, बूढ़े और बच्चे भी बारह बारह घंटे काम करते थे। बीमारी, बुढ़ापा या दुर्घटना के विरुद्ध सुरक्षा का प्रश्न ही नहीं था जब दो जून रोटी की कोई गारंटी नहीं थी। गुलामी प्रथा का ही नया रूप प्रस्तुत करती थीं मिलें। निश्चित था कि मरता मजदूर अपने हालात में सुधार के लिए सफल-असफल प्रयास करता। उन्नीसवीं शताब्दी में मजदूरों का संगठन बढ़ता चला गया और ट्रेड यूनियन आंदोलन की जड़ें मजबूत होने लगीं। फिर संघर्ष के बाद सुधार कानून भी बने जो कभी पर्याप्त नहीं हो सकते थे क्योंकि मालिक उतने ही सुधार के लिए तैयार थे जितने के बिना उनकी गाड़ी ठप पड़ जाती। 'जेम्सवाट' जिसने भापशक्ति का आविष्कार कर औद्योगिक क्रांति को नई दिशा दी, उसे भी लिखना पड़ा, 'सामंत लोग हम कारीगरों को उन गुलामों से बेहतर नहीं समझते जो उनके खेतों में काम करते हैं।' स्पष्ट था कि वे मजदूर-कारीगर भी, जो थोड़े संपन्न थे, पुराने समर्थों द्वारा स्वीकार्य नहीं थे। ऐसे में वर्ग बोध और फिर वर्ग संघर्ष क्यों नहीं बढ़ता ?

औद्योगिक क्रांति का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि बाजारों की आवश्यकता बढ़ने लगी और उपनिवेशों की जरूरत पड़ी, इसलिए उपनिवेशवाद-साम्राज्यवाद का आधुनिक स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में सामने आया। सारी दुनिया में जहां भी संभव हुआ, यूरोप के देशों का साम्राज्य बढ़ता चला गया। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति हुई थी और वह औद्योगिक विकास में अग्रणी था इसलिए उसका साम्राज्य इतना विस्तृत हुआ कि उसके उपनिवेशों में सूरज नहीं डूबता था। फ्रांस औद्योगिक क्षेत्र में दूसरे नंबर पर आता था और उसका साम्राज्य भी दूसरे नंबर पर था। इस प्रकार आधुनिक साम्राज्यवाद का स्रोत भी औद्योगिक क्रांति ही थी।

विचार जगत में बड़े अर्थवान परिवर्तन हुए। अठारहवीं शताब्दी तक उन्हीं विचारों को बल मिलता और स्वीकार किया जाता था जो सीमित परिवर्तनों की बात करते हों या जो यथार्थ पर व्यंग्य भले ही करते हों, उसे आमूल बदल डालने की बात न करते हों। उन्नीसवीं शताब्दी में वह विचारधारा जोर पकड़ने लगी जिसे समाजवाद कहा जाता है। वैसे तो 'संपत्ति चोरी है' (प्रापर्टी इज थेफ्ट) बहुत पहले से कहा जाता था लेकिन अब संपत्ति के समान वितरण या समाजीकरण और उत्पादन पर उत्पादक का नियंत्रण जैसी बातें तेज होने लगीं। इंग्लैंड में उदार पूंजीपति 'ओवेन' ने मजदूरों की सहभागिता का प्रयोग शुरू किया लेकिन

उससे अंततोगत्वा उसी का अधिक लाभ हुआ। फ्रांस में 'फूरिए' 'सैं सीमों' और 'लूई ब्लां' जैसे लोगों ने भी एक समाजवाद की कल्पना की लेकिन उसका आधार काल्पनिक था।

इस तरह समाजवाद का नाम बहुत लिया जा रहा था। लेकिन वह आएगा कैसे—कौन लाएगा, उसकी वैचारिक आधारशिला क्या होगी, कार्यक्रम क्या होगा और लक्ष्य क्या होगा, इनके विषय में न तो मतैक्य था, न स्पष्टता ही थी। 1848 में प्रकाशित 'कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' ने 'दुनिया के मजदूरों एक हो' का आह्वान करते हुए समाज के विकास और दिशा की एक द्वंद्वात्मक और भौतिकवादी व्याख्या थी। इसमें अतीत ही नहीं था—भविष्य का निर्देश भी था। 'मार्क्स और एंगेल्स' के विचारों और नेतृत्व में 'वैज्ञानिक समाजवाद' ने जन्म ही नहीं लिया, विकसित भी हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते होते मानव की विचारधारा में सबसे सशक्त, व्यावहारिक और वैज्ञानिक विचार की जड़ें जम चुकी थीं और हर कहीं दलित और त्रस्त जनता मार्क्सवाद से संघर्ष की प्रेरणा लेकर संगठित होने लगी थी। 1917 में रूस में चीन में महान क्रांतियां हुईं और दुनिया की भारी जनसंख्या ने शोषण के तंत्रों को नष्ट करना शुरू कर दिया। इस तरह वैज्ञानिक समाजवाद के विकास के लिए औद्योगिक क्रांति ही जिम्मेदार थी।

ज्यों ज्यों धनिक और सत्ताधारी लोगों को मजदूरों के बढ़ते संगठन का खतरा महसूस होता गया त्यों त्यों उन्होंने पैंतरे बदलने शुरू किए। इंग्लैंड में सुधार कानून पास करके मजदूर की स्थिति बेहतर बनाने और उनके अधिकार बढ़ाने का काम तेज कर दिया गया। जर्मनी में राजकीय समाजवाद के नाम से मजदूर की सुरक्षा राज्य द्वारा प्रदान करने की नीति अपनाई गई ताकि वे समाजवाद की ओर न जाएं। राजदर्शन में भी अब स्वतंत्रता और समानता का समन्वय करके उदार प्रजातंत्र और 'सोशल डेमोक्रेटिक' दलों का विकास शुरू हुआ ताकि मध्यवर्ग और मजदूरों के सामने संभावना की मृग मरीचिका बनी रहे।

व्यक्ति को समाज में अधिक महत्व देने के लिए नए नए नारों और वादों का प्रचार शुरू हुआ। बातें इस तरह रखी जाने लगीं जैसे व्यक्ति और समाज के हित में अंतर हो। प्राथमिकता व्यक्ति को देने के बहाने कुछ व्यक्तियों की महत्ता बनाए रखने का प्रयास किया गया जो अभी तक जारी है।

औद्योगिक क्रांति ने पश्चिमी यूरोप में संपत्ति, शक्ति और राजनीतिक प्रभाव का फिर से बंटवारा किया। अब तक जमीन का उपजाऊ होना और जनसंख्या ही देश की समृद्धि का आधार होती थी। अब मशीनें और कुशलता ने निर्णायक भूमिका अदा की तभी तो ब्रिटेन फ्रांस जैसे प्रतिद्वंद्वी को पीछे छोड़ सका।

औद्योगिक क्रांति ने समुद्रमंथन जैसा कार्य किया। मानव समाज का सारा विष और अमृत दोनों बाहर आ गया। पहले तो समर्थ लोगों ने सारा अमृत हड़प

कर विषपान के लिए संत्रस्त सर्वहारा को चुना लेकिन धीरे धीरे सताए गए लोग संगठित होते जा रहे हैं और विषपायी श्रमिक मशीन के सहयोग से विषमताओं और शोषण के अंत की ओर बढ़ रहा है।

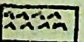
जैसा कि एंगेल्स ने लिखा :

औद्योगिक क्रांति ने मानव श्रम की उत्पादन क्षमता उस सीमा तक पहुंचा दी है कि मानव इतिहास में पहली बार यह संभावना हो गई है कि न केवल समाज के हर वर्ग के लिए उत्पादन हो, कुछ गाढ़े समय के लिए आरक्षित हो बल्कि हर व्यक्ति को इतना समय मिल जाए कि वह विज्ञान, कला, संस्कृति का संरक्षण-वर्धन ही न करे बल्कि उन्हें शासक वर्ग के एकाधिकार से मुक्त करके सामान्य जन की बना सके।

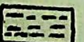
एंगेल्स की इच्छा दुनिया के बहुत बड़े भाग में पूरी हो गई है। अन्य क्षेत्रों में संघर्ष जारी है।

अटलांटिक महासागर
स्काटलैंड
आयरलैंड
इंगलैंड
डेनमार्क
लन्दन
वेल्स
नेदरलैंडस
पेरिस
फ्रांस
स्पेन
पुर्तगाल
नार्वे
स्वीडन
रूस
पवित्र
रोमन
साम्राज्य
पोलैंड
हंगरी
वियेना
जेनोआ
वेनिस
रोम
फ्लोरेंस
इटली
भू म ध्य सा ग र
अफ्रीका
तुर्क
साम्राज्य
काला सागर
कुस्तुनतुनिया
यूनान
तुर्की
कैस्पियन सागर
ए
शि
या

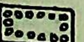


 कैथोलिक क्षेत्र

 काल्वैंवादी

 लूथरवादी

 आंग्ल चर्च

 ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च

लन्दन

रूस

रोम

तुर्क

साम्राज्य
(इस्लाम)

यूरोप की धार्मिक स्थिति—सत्रहवीं शताब्दी



यूरोप का पुनर्जागरण, जहां से आधुनिक यूरोप का इतिहास आरंभ होता है, मानव मात्र के लिए एक नये युग का सूत्रपात था। इसीलिए दुनिया में हर जगह हर व्यक्ति को विशेष कर इतिहास के विद्यार्थी को आधुनिक यूरोप की उन प्रारंभिक तीन शताब्दियों का इतिहास जानना ही चाहिए जब मध्ययुग के मानव ने करवट ली थी और जाग कर नये युग के निर्माण का कार्य शुरू किया था। लेखक की मान्यता है कि पाठ्य पुस्तक लिखने का काम एक शोध ग्रंथ लिखने से कम कठिन या महत्वपूर्ण नहीं। और इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर उन्होंने पुनर्जागरण से फ्रांसीसी क्रांति तक यूरोपीय इतिहास की मुख्य घटनाओं, धाराओं, प्रवृत्तियों तथा व्यक्तियों का सहज, सरल भाषा में साधिकार विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

डा० लालबहादुर वर्मा ने लखनऊ विश्वविद्यालय से इतिहास में एम० ए० (1959) करने के पश्चात गोरखपुर विश्वविद्यालय से 'आंग्ल भारतीय (ऐंग्लोइंडियन) जाति के विकास' पर पीएच० डी० प्राप्त की। इसके पश्चात फ्रांस के सारबॉन विश्वविद्यालय पेरिस से 'इतिहास लेखन की समस्याएं' शीर्षक शोध प्रबंध पर, जो मूल फ्रेंच में प्रस्तुत किया गया था, उन्हें इतिहास की डी० लिट० की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त हुई।

संप्रति वे गोरखपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में कार्यरत हैं। साथ ही वे 'भंगिमा' नामक साहित्यिक पत्रिका का पिछले चार वर्षों से संपादन-संचालन भी कर रहे हैं।

मूल्य 11.50

M

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लि०
नई दिल्ली कलकत्ता बंबई मद्रास